स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती विरचित कारिका सम्वलित

जपसूत्रम्

(द्वितीय खण्ड)

(हिन्दी भाषा में विस्तारित व्याख्यायुक्त)

अनुवादक

एस० एन० खण्डेलवाल

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी — दिल्ली

निवेदन

जपसूत्रम् (द्वितीय खण्ड) का भाषानुवाद प्रस्तुत है। अन्तर्दृष्टि सम्पन्न स्वामीजी ने इस खण्ड में व्याहृति तत्व तथा छन्दः तत्व का प्रकाशन सप्त लोकात्मक स्तर के साथ मानव अस्तित्व के सप्तस्तरों में एक सामंञ्जस्य स्थापित करते हुये किया है। स्वामीजी अपनी दृष्टि से एक सामान्य रेणु में स्पन्दित महाशक्ति की महत्तर स्थिति का रहस्य खोज निकालने के साथ-साथ विराट में, महत् में, आधार-रूप से परिव्याप्त उसी महाशक्ति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप को भी अब रहस्यावृत नहीं रहने देते ! यही है महान् में अणुत्व का और अणुत्व में महत् का साक्षात्कार ! यह अघटन कैसे घटित होता है ? यह घटित होता है जपयज्ञ रूपी तपः के द्वारा। जिसके द्वारा अव्यक्त में शायित अथवा प्रविलीन अनन्त विश्व विच्छिन्न होकर एक विपुल अभिव्यक्ति के रूप में व्यक्त हो उठता है, वही है तप। विश्व तथा विश्वधारा के मूल में जिस आनन्द की स्थिति अखण्ड समग्र धारा रूप से उन्मुक्त हो उठती है, और जिस आनन्द एवं विश्वच्छन्द की अभिव्यक्ति का उल्लास-विलास सृष्टि को आप्यायित करता रहता है, उसका भी आधार तप है।

स्वामीजी की दृष्टि तपःपूत दृष्टि है। इस तपःपूत दृष्टि के विकास का मूल आधार जपयज्ञ ही रहा है। जप की परिणति होती है अखण्ड आनन्द के रूप में। उस स्थिति में सृष्टि प्रपंच में भी अनन्त आनन्द का नर्त्तन कण-कण में प्रत्यक्ष होने लगता है। इस अवस्था में स्वामीजी तृण के ऊपर मणिप्रभा के समान छटा बिखेरते प्रातः कालीन शिशिरकण को भी एक मूक उपनिषद के रूप में देखते हैं। उन्हे एक क्षुद्र कुसुमकोरक भी एक निगूढ़ रस तथा विश्वच्छन्द से समृद्ध महाकाव्य जैसा प्रतीत होने लगता है।

मानवमात्र को इसी दृष्टि का विकास करना है। इस दृष्टि का मूल आधार सब में है, परन्तु वह अरिच्छन्द के द्वारा आवरित है। कौशल विशेष के द्वारा इस शत्रु-अरि को भी मित्रछन्द के रूप में विकसित करने पर ही ऋत का, सत्य का आह्वान श्रुतिगोचर होने लगता है। स्वामीजी के अनुसार यही है ऋतच्छन्द। इसकी प्राप्ति के लिये व्याहृति का आश्रय लेकर क्रमशः स्तरानुक्रमानुसार आरोहण कर्म करना आवश्यक है और यही आरोहण कर्म ही जप है। प्रस्तुत खण्ड में स्वामीजी ने जपानु-संधित्सु के हितार्थ अत्यन्त गहन तथा प्रज्ञानात्मक उपदेश दिया है। इसका सम्यक् पठन तथा मनन करने के पश्चात् समस्त संशय—व्यामोह स्वतः दूर हो जाते हैं।

मुद्रण दोष के कारण संस्कृत श्लोकों में कतिपय अशुद्धियाँ रह गयी हैं। शुद्ध पाठ के लिये पुस्तक के अन्त में शुद्धिपत्र संलग्न है। सुधी पाठकगण श्लोकों को तदनुसार शुद्ध करने का कष्ट करेगें।

जन्माष्टमी, १९९२ ई०　　　　　　　　एस० एन० खण्डेलवाल

बी. ३१/३२ लंका, वाराणसी

विषयानुक्रमणिका

जपसूत्रम्

(द्वितीय खण्ड)

जपसूत्रम्

(द्वितीय भाग)

प्रथम अध्याय

भूरादि व्याहृति, छन्दः एवं साधन (तत्व एवं चर्या) के सम्बन्ध में अनेक प्रयोजनीय कारिकाओं के साथ साधारण आलोचना।

जपसूत्र के प्रथमखण्ड में जिन अनेक सूत्रों को सन्निवेशित किया गया है, उसके अनन्तर जिन सात सूत्रों को सर्वाग्र में सन्निवेशित किया गया है, वे सप्त व्याहृति के लक्षण सूत्र हैं। गायत्री आदि जप में तथा याग होम आदि में भूर्भुवः प्रभृति व्याहृति का प्रयोग किया जाता है। क्या ये सब अर्थहीन हैं, किंवा ये सब मनमाने कल्पित शब्द हैं? प्राक्कालीन आर्यविज्ञान में इन्हें मुख्य स्थान दिया गया है। पुराण आदि के पठन से यह विदित होता है कि इन्हें सात लोकों का वाचक मान लिया गया है। इन लोकों का किंचित वर्णन भी परिलक्षित होता है। यहाँ यह धारणा हो जाती है कि मात्र इसी कारण से इन व्याहृतियों को गायत्री प्रभृति मन्त्रों में प्रविष्ट नहीं किया गया है। इसके तीन दिक् हैं—शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय। इन तीन दिक् के कारण व्याहृति समूह एक गम्भीर रहस्य से मण्डित हैं। भूरादि व्याहृति समूह मंत्रशास्त्र के मूलतत्व में अन्यतम है। श्रुति, आगम, पुराणों नें स्थान-स्थान पर आभास रूप में इसी तथ्य की ओर इंगित किया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इनकी रहस्यपूर्ण मणि- मंजूषा का अनावरण सर्वसाधारण के सम्मुख नहीं हो सका है। इसे आवरित रखने के अनेक कारण हैं। रहस्योद्घाटन के लिये आरण्यक, उपनिषद्, आगम, गुरुवक्त्र (गुरुउपदेश) तथा आत्मप्रत्यय के सम्मुख जिज्ञासुरूप से उपस्थित होना चाहिये। जो इस रहस्य का संवाद प्राप्त कर लेते हैं, वे भी इसकी गोपनियता की रक्षा करते हैं और इसे यत्रतत्र प्रकाशित नहीं करते।

अतीत एवं वर्तमान में साधारण श्रद्धधानता की पटभूमि

तत्व (Theory) से अनभिज्ञ (किंचित् अनभिज्ञ व्यक्ति के लिये भी चर्या अथवा प्रयोग, प्रैक्टिकल) के द्वारा अभीष्ट फल प्राप्ति का पथ अवरुद्ध नहीं था।

यह अवश्यमेव ज्ञातव्य है कि उपनिषद् रहस्यवेत्ता ही पूर्ण एवं परम फल प्राप्त कर सकता है। श्रुति, स्मृति तथा आगमों में यही सत्य कहा गया है। यथासम्भव श्रद्धा तथा कुशल प्रयोगविद्या (टेकनिक) का आश्रय लेने पर अध्यात्मजीवन के परीक्षा स्थल में प्रवेशाधिकार प्राप्त हो जाता है। इस पृथ्वी पर भी ऐसा ही परिलक्षित होता है। वर्तमान युग में भौतिक विज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग क्षेत्र में ऐसा ही होता है। परीक्षा के मूल में जो युक्ति, पद्धति अथवा Theory है, उसे कतिपय अभिज्ञ व्यक्ति ही जान सकने में सक्षम होते हैं। जो कर्मक्षेत्र में हैं, वे इस विश्वास के साथ कर्म क्षेत्र में उतरते हैं कि उसके मूल में युक्ति की सत्ता अवश्य है। वे यथायथ रूप से परीक्षण के द्वारा फल प्राप्त करते रहते हैं। एक प्रकार से वर्तमान बाह्यविज्ञान (Theory, Experiment, Application आदि में) एक प्रकार की साधारण श्रद्धधानता (श्रद्धानुकूल मनोभाव) तथा हमलोगों के लिए अनुकूल पर्यावरण की सृष्टि कर सकने में समर्थ हो सका है। नैमिषारण्य में जब ज्ञानोपदेश होता रहता था, उस युग में अध्यात्मसाधन के लिए अनुकूल श्रद्धधानता की सत्ता रहती थी। केवल उसी युग में ही नहीं, प्रत्युत परवर्ती युगों में भी वह अनुकूल वातावरण जाग्रत था। इस युग में हम कृत्रिम वारिवर्षण के समान विद्या के प्रति श्रद्धधान होने की चेष्टा कर रहे हैं। उस युग में विद्या (यागादि) के प्रति सम्यक श्रद्धधान होकर कर्म करना पड़ता था। अपरापर रूप अनेक तत्वों के सम्बन्ध में भी यही तथ्य प्रभावी है।

वर्तमान काल में श्रद्धा संकट

यद्यपि वर्तमान काल में अध्यात्म साधना तथा सिद्धि विषयिणी श्रद्धधानता एकबारगी भी विलुप्त प्रायः नहीं है, तथापि विलुप्त, विद्रुत (Confused, Confounded) हो चली है, यह निःसंदिग्ध है। एक ओर अविश्वास, अश्रद्धाधानता, विरुद्धानता है, दूसरी ओर अन्धविश्वास (तामसश्रद्धा) एवं यान्त्रिक गतानुगतिक, आनुष्ठानिकता है, और दोनों स्थितियों के मध्य 'न ययौ न तस्थौ'' भी अनेक रूपों में घटित होता जाता है। ''धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां''। अतः जो साधन पथ पर चलने के लिये नितान्त इच्छुक हैं, उनकी गति क्या है? ''महाजनों येन गतः स पन्थाः''? किन्तु क्या अभाजन लोग ''महाजन'' को पहचान सकने में समर्थ हैं? तत्पश्चात् यदि भाग्य क्रम से महाजन मिल भी गये, तब वे जिस भाव निष्ठा की, विश्वास की गुरुदक्षिणा चाहते हैं, उसे जानकर तो हमारे समान ''कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव'' वालों के मन में क्या एकलव्य के समान गुरुदक्षिणा की गाथा प्रतिच्छवित हो सकेगी? इसी भाव-दक्षिणा का तो हममें अभाव है। भाव-भक्ति, विश्वास सम्यक् रूप से कहाँ मिलता है, कितना मिलता है? एक ओर विद्या को तो दूसरी ओर उपनिषद् को ''भुलावा'' देने के लिये कई बार अहैतुक भावों का अभिनय किया जाता है। भाव की परा-

काष्ठा द्वारा "निष्कैतव निष्कंचन" भाव की अवतारणा सहज हो जाती है। दीर्घकाल व्यापी सत्कार्यसेवित साधन नैरंतर्य के द्वारा इस सहज भाव में स्थित होने का यत्न करना चाहिये। इसमें नैरन्तर्य अत्यावश्यक है। विराम अथवा तारतम्य होते ही भाव में हो रही स्वच्छन्द स्थिति भग्न हो जाती है। अतः किसी भी शास्त्र अथवा महाजन गण ने "हाथ बढ़ाकर आकाशस्थ चन्द्रमा को पकड़ने का" आश्वासन नहीं दिया है। अतएव उपयुक्त कार्यकारी विद्या तथा यथासम्भव रहस्योपदेश युक्त सिद्धान्त श्रवण तत्परता की आवश्यकता को मानना ही होगा।

साधना का अव्यर्थ मुष्टियोग

प्रथम खण्ड में एकाधिक स्थल पर:यह विवेचित हो चुका है कि अध्यात्म साधना की जो सब शास्त्रमहाजनजुष्ट भूमियाँ हैं, उन सबको अधिगम करने के लिये कोई भी सहज मुष्टियोग है अथवा नहीं है। कलिकाल में वेदमार्ग सर्वथा साध्य नहीं है, अतएव अनुकल्प अथवा विकल्प रूप में तन्त्रोक्त साधना विहित है। अथवा जो साक्षात् रूप में आगमाचार के मार्ग में विचरणशील हैं और जिनको पारग पान्थवर्ग का सन्धान प्राप्त हो सका है, उनका कथन है कि नहीं ऐसा नहीं है। उनका अभिमत यह है कि कलिकाल में तंत्रमार्ग जीवगण की भुक्ति तथा मुक्ति के लिए कदापि सहज मुष्टि योग नहीं है। जीव के मुख्य प्रयोजन तत्व तथा उस प्रयोजन के अनुकूल सम्बन्धतत्व का तारतम्य तो सम्यक् रूप से विज्ञात है। यह युग घोर कलिकाल है, अतएव तन्त्रमार्ग कहीं भी "सस्ता" नहीं है। युगादि परिवर्तन के कारण किया गया "अधिकार" का अन्यरूप परिलक्षित होता रहता है। अतएव आगमादि शास्त्र तथा उसका अनुशीलन करने वाले अधिकार की वर्तमान स्थिति (पात्रता की स्थिति) के अनुरूप इस विषय को भी तदनुरूप एवं तदनुपयोगी स्थिति में जिज्ञासुवर्ग के हित साधनार्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। 'विषय का तात्पर्य है विद्या, साधन विधि, चर्या आदि। भक्तिसूत्र के प्रवर्त्तक नारदादि ऋषिगण ने, भागवत आदि शास्त्र समूह ने, नवधाभक्ति साधन तथा उत्तम भागवत लक्षणों का वर्णन किया है। इनमें से किसी ने भी उपाय तथा उपेय को "पानी के भाव" विक्रय-क्रय करने का उल्लेख नहीं किया है। इन सबने रसिक और भावुक को अलग-अलग पक्ति में श्रेणीबद्ध नहीं किया है। इन लोगों ने तथा शास्त्रों ने रसिक और भावुकजन को पग-पग पर स्वाद देनेवाले भागवतामृत से परिवेष्टित किया है। परवर्त्तीकाल में जो लोग भागवत धर्म को जीवन में मूर्त्तरूप देने के लिये अवतीर्ण हुये हैं, उन लोगों ने भी "निर-पराध" होकर जीव के लिये इसी परमधर्म का विधान किया है। अतएव जिस उपाय का सहाय लेने पर अपराध और अध: में न जाना पड़े, उसी उपाय का अवलम्बन सर्वप्रयत्न से लेना होगा। जो व्यक्ति "पशुघ्न" नहीं है, उसे ही "पशुरांगज चरणां-

बुज" की सेवा का अधिकार प्राप्त होता है। निम्नोदधृत कारिकाद्वय की भावना करने के अनन्तर परवर्त्ती सुदीर्घ भुरादि के गहन तत्व में प्रविष्ट होने का साहस करूँगा।

मन्त्रेशास्यात् परमकृपयोच्चारितं सिद्धमंत्रं
श्रीविद्याया निजमवितथं शक्तियन्त्रं त्वदर्थम्।
तन्त्रेशी ते गहनकुशलां तन्त्रभासं विधत्ते
शृंगे बीजं पयसि लिखनं दीप आन्ध्ये तथापि ॥१॥
श्रद्धावीर्यं घृतिबलमृते लभ्यते नायमात्मा
त्यक्त्वा त्यागं प्रवचनतपोयागमेधादिभिर्वा।
स्वात्मानं ते कृपणमवरं किं वृणींतात्मवर्यो
नोत्तिष्ठेश्चेद् वरमनुभवं के वरा दातुमाप्याः ॥२॥

सिद्धमंत्रों का भाव और उनका अधिकारानुरूप उपयोग —

क्या इसका चिन्तन किया है कि मन्त्र कहाँ मिलता है? जो साक्षात् महा-महेश्वर हैं, वे स्वयं (सद्गुरु तथा जगद्गुरु रूप में) स्वमुखोच्चारित (प्रणवादि) सिद्ध मन्त्रों को तुम्हे सुना रहे हैं। तुम बधिर बन कर उन मन्त्रों को सुन सकने में अक्षम हो रहे हो। अतः इसी कारण कदाचित कातर भी हो जाते हो। अर्थात् मन्त्र मन्त्रदाता तथा मन्त्रदान वास्तव में नित्य ही है। इस संदर्भ में तुम्हारा सचेतन संयोग ही व्यभिचारी हो जाता है, अर्थात् तुम सोचते हो कि यह है, यह नहीं है। अच्छा! तुमको मन्त्र मिला। किन्तु सर्वशक्ति का आधार यंत्र मिला? तुमको यंत्र का आश्रय लेकर ही जपध्यान, होम आदि कृत्यों को करना होगा। तुम्हारे लिये (त्वमर्थं) श्रमविद्या रूपिणी, त्रिपुरसुन्दरी ने स्वयं शक्तियंत्र के मध्य में, सर्वोत्तम तथा सर्वतो-भावेन स्थित यंत्र में (श्री यंत्रादि में), उसे अविकल रूप से (निजं अवितथं) अंकन कर रक्खा है! तुम इस यंत्र को स्वच्छन्द रूप से, स्वशक्तियुक्त रूप से, प्रतिष्ठित नहीं होने दे रहे हो। यन्त्र तो पूर्ण है, सांङ्ग है, अनवद्य है। क्या तुम इस सांङ्ग को अंगी-कार कर सके हो? तत्पश्चात् तन्त्र अथवा प्रयोग एवं चर्या का सामर्थ्य मिला है? कर्म की गति अत्यन्त गहन है। इस गहन में, संशय तथा संकटस्थल में, क्या किसी ने पथ प्रदीप को, पथालोक को अप्रकम्प रूप में प्राप्त किया है? तब इसके लिये भावना ही क्यों करते हैं? स्वयं तन्त्रेशी भुवनेश्वरी ने अपने हाथों में तन्त्र प्रदीप को पकड़ रक्खा है। उसकी निरन्तर तथा न बुझने वाली ज्योति स्थिर रूप से जलती रहती है। समस्त गहन संकटों में उसकी विमल घटा कुशलता प्रदान करने वाली है। (गहन कुशलां तन्त्र भासं, विधत्ते) तथापि यदि तुम अन्धे बने पड़े रहते हो, अथवा जब तुमने अपनी आँखों की पलकों पर पट्टी बाँध रक्खा है, उस अवस्था में

उस दीपक से क्या लाभ होगा ? अतएव महानाम अथवा बीज (मंत्र बीज) प्राप्त हो जाने पर भी गाय भैंस की सींग की तरह चन्चलता युक्त मनःस्थिति में उसे धारण करते हो अथवा तुम जलहीन पाषाण के समान कठोर हृदय हो, उस स्थिति में क्या कहा जा सकता है ? यद्यपि बीज कभी भी नष्ट नहीं हो सकता, तथापि वह तुम्हारे लिये प्रतीक्षा नहीं करेगा। इसका कारण यह है कि तुम "अपराध" का भार देकर उसे "अधः" बनाये रखने में कोई भी कसर बाकी नहीं छोड़ते। इसके अतिरिक्त तुम्हें बाह्यपूजादि के लिये अथवा हृदय आदि स्थानों पर ध्यान करने के लिये जो सर्वभावयुक्त शक्तियंत्र प्राप्त है, उस सर्वभावरूपी यंत्र का अंकन तुम कहाँ करोगे ? जल में ?—"पयसि लिखनम्"। साथ ही पथ चारण के समय इस तंत्रदीप को कहां प्रज्वलित करोगे ? "आन्ध्ये" उसे अपने तमस अन्धकार से कल्पित तथा जन्म जन्मान्तर से अभ्यस्त दृष्टिहीनता में जलाओगे ?

'न लभ्यः' एवं 'तेन लभ्य' इन श्रुतिद्वय का तात्पर्य विश्लेषण

उपाय ? 'जिस एक की कृपा के अभाव में सब कुछ राख हो गया' उस एक की ही कृपा को आत्मकृपा कहते हैं। इसको ही सम्बल बनाना चाहिए। अर्जुन के समान वीर साधक में भी कर्त्तव्य निर्वेद, कश्मल, कल्मषादि उपस्थित हो जाते हैं। अतः श्रीभगवान् के मुख से क्लैंव्य परिहारार्थ, दौर्बल्य त्यागार्थ, तथा उठ पड़ने के लिये, उपदेश समूह निःसृत होने लगते हैं। तदनन्तर जाने कितनी तत्वकथायें, विभूति विश्वरूपादि का प्रकाशन होता है। अतः श्रुति का कथन है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"।

अतएव श्रद्धाबल एवं धृतिबल रूपी प्रकारद्वय के बलों का सम्बल अपनी सत्ता में हो जाना चाहिए। इस बल के उत्स में अभिमान की सत्ता नहीं रहती। निरभिमानता के अभाव में यह बल नहीं मिलता। "तुम हो, तुम्हारा नाम है", "तुम सत्य तुम्हारा नाम सत्य" इस विश्वास निर्भरता से वंचित रखने के लिए एक प्रच्छन्न अभिमान तुममें रहता है। "विद्ध्येनमिह वैरिणं" इस गृह का मूलोच्छेदन करने वाले इस शत्रु को उसके गोपनीय शरणस्थल से खींच कर बाहर लाना ही होगा ! इसके पश्चात् श्रुति के दूसरे मंत्र की भावना करो। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः"। यद्यपि प्रवचन, जप, ध्यान, सब को एकत्र अवश्य किया है, तथापि वह त्याग को ही छोड़ बैठा है—उस अवस्था में आत्मप्राप्ति नहीं होती। फलाभिसन्धान के त्याग से लेकर चिद्—अचिद् ग्रंथिरूप अंह का त्याग करने पर सबकी (फलाभिसन्धान से लेकर अहं तक की) एक के बाद एक आहुति देना ही होगा। यदि तुम्हारी अपनी ही आत्मा कृपण है तथा "अवर" भाव भी श्रद्धाहीनता एवं त्यागकातरता से विजड़ित है, तब श्रुति में अंकित "आत्मवर्य" (परमवरेण्य प्रत्यागात्मा-परमात्मा)

तुम्हारा वरण कैसे कर सकेंगे ? वे तो तुम्हारा वरण करने के लिये अतन्द्रित होकर उत्सुक हैं। तुम तो किसी प्रकार से भी उन चिरशरण का वरण नहीं कर रहे हो, महावरण का वरण कर रहे हो। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" श्रुति की इस अयाचित करुणाराशि की धारा क्रमगत रूप से पास-पास ही बहती रहती है ! सर्वान्त में श्रुति ने कहा है "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत"। इस मंत्र का अन्तिम भाग (प्राप्य वरान् निबोधत) तुम्हारी समझ में अभी भी नहीं आ सका है। इसे अभी ही समझ लेना आवश्यक है। अर्थात् गुरुदेव के समान ब्रह्मवित् पुरुष की आवश्यकता है, जो तुमको भागवत महावाक्यों को सुनाकर इसी समय ब्रह्मपाशमुक्त स्वरूप में प्रतिष्ठित कर सकें।

किन्तु तुम मन्त्र के आदि भाग के सम्बन्ध में क्या कह रहे हो ? "उत्तिष्ठत जाग्रत ?" इस स्थान पर तो समस्त भार (जाग्रत होने का भार) तुम पर आ पड़ा है। अतः कारिका में कहा गया है "नोत्तिष्ठेश्चेद् वरमनुभवं के वरा दातुमाप्याः" यदि तुम उठ नहीं जाते, नहीं जाग जाते हो, तब निबोध (निःसंशय बोध) रूपी श्रेष्ठ अनुभव कराने के लिए क्या कोई साक्षात्कार सम्पन्न अनुभवी पुरुष तुमको मिल सकते हैं ? यदि तुम्हे यह स्थिर अभिज्ञता है कि उनके उठाये बिना कोई नहीं उठता, उनके जगाये बिना कोई नहीं जागता, तब तो तुम इस ध्रुव विश्वास के फलस्वरूप उठे बैठे हो ! अब तुम्हारी विपरीत भावना क्यों है ?

जप में क्रिया, निष्ठा तथा भाव का अङ्गाङ्गीभाव

जपकर्म में क्रिया, भाव प्रभृति की धारा किस प्रकार अंगांगी रूप से जड़ित रहती है तथा वे पारस्परिक रूप से एक दूसरे का सहयोग करते हैं, इसे स्मरण रखने, स्वच्छन्दरूपेण जपक्रिया करते रहने के लिये, इन कारिकाओं का पठन तथा चिन्तन करना चाहिये—

जपाद् बारंम्बारं यदि रसनया स्वादु न सकृन्,
न तन् नाम्नि स्त्यानं चिदमलरसे का विरसता।
अधस्ताद् धत्ते चेत् प्रकृतिरपराऽन्तर्मलकरी।
कथं स्वाद्वी शुक्ला तव निरपराधा जपकृतिः ॥३॥
जपैरेवास्तां मे विधुनितमिदानीं जपरज
स्तदभ्यासादेवानवसरमलं चित्तमुकुरम्।
तथाप्याराध्याराधनविगुणता सम्भवति चेत्
किमाराध्ये नास्तां मम निरपराधा जपरतिः ॥४॥
जपाभ्यासे निष्ठा धृतिसहकृताऽस्तुप्रथमतो

यथा यागे वन्हे ररणिमथनापेक्षभवनम् ।
ततो रूच्यादीनां जपविषयिणी वृत्तिरूदिता
प्रकर्षा न्निष्ठाया घृतिरतिमतीना मुपचयः ॥५॥
कथं निष्ठाभावे भजति भजनं तद्विरहिणी
कथं वा साधिष्ठा फलति लतिका भावमुकुला ।
कथं वन्ध्या भावे जनयति रतिं वा दुहितरं
कथं बान्ध्ये दुहितुरमृतं चित्सुरभितः ॥६॥
जपेनालं चेत् क्व प्रणवजप आदौ कमलजे
निसर्गो वाग्द्रोहात्प्रणवनिलय स्तारविलयः,
जपाद् वैखर्यं चेद् ध्रुवमुपदिशेत् किं मनुवर
मथो व्यासं वाष्टादशमिततनुं नारदऋषिः ॥७॥

अपराध निमित्त नाम का जात्याभास

यदि कहें कि रसना तो बारम्बार नाम जप करती है, तब जो नाम पग-पग पर स्वादु है, उसका आस्वाद एक बार भी (न सकृद्) नहीं मिल रहा है ! यह नाम के ही स्त्यान, जाड्य (शौष्क्य, आलस्य, वैरस्य) के कारण तो नहीं है ? किन्तु कहा जाता है कि प्रणवादि नाम साक्षाद् चिद्रसमय हैं, उसमें विरसता कैसे ? अतः विरसता की जड़ अन्यत्र है। वह है तुम्हारा अपना अपराध । इस अपराध को साधारण बुद्धि से आयत्त नहीं किया जा सकता । श्री भगवान ने गीता में जिस अष्टधा प्रकृति का उपदेश दिया है (अर्थात् पंच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार) उस अवरा प्रकृति के अधस्त्याद् (अधीन) रहना (धूनन्) ही जीव का मूल अपराध है । मन, बुद्धि तथा अहंकार भी पंच महाभूतों के वश में होकर उसके लिये बेगार कर रहे हैं। यह कौन समझता है कि नाम तथा नामी की सेवा करना ही हमारा स्वाभाविक धर्म-कर्म है। अतः "जीवभूता सनातनी" रूप भगवान की पराप्रकृति भी अस्तमित (तिरोहित) होकर पड़ी रहती है । अपरा प्रकृति स्वभावतः अन्तर्मल की कारण है । यह सब कुछ को भीतर ही भीतर मलिन कर देती है । यह सब कुछ को मल युक्त तथा रसहीन करती रहती है । विशेषतः अन्तः का तात्पर्य है अन्तःकरण, मन, बुद्धि तथा अहंकार । अन्तः की मलयुक्त स्थिति के कारण पंचमहाभूतों की सेवा ही उपचीयमान होती है । अर्थात् मलयुक्त अन्तः पंच महाभूतों की (शारीरिक) सेवा में ही लगा रहता है । इस कारण मन की विरसता, बढ़ती जाती है । यह विरसता कम नहीं होती । जैसे पित्त के आधिक्य की अवस्था में मुख में मिश्री का टुकड़ा भी कटु प्रतीत होता है, विरस प्रतीत होने लगता है । अतएव देखो कि किस प्रकार से तुम्हारा जपकर्म स्वादु होगा ? निरपराध—आन्तर निर्मलता से युक्त होने पर ही यह सब घटित हो सकना सम्भव है ।

जपरजः के स्थान पर जपरति प्रयोज्य है

यदि यह कहें कि जपकर्म में जो अपराधजनित रजः (वैकल्प, वैगुण्य) है, वह जप के ही द्वारा विधूनित (इदानीं आस्तां) होगा और जप के नैरन्तर्य के द्वारा हमारा चित्तमुकुर इस प्रकार से शुद्ध होगा कि उस स्थिति में अब किसी प्रकार के मल का स्पर्श तथा संचय नहीं हो सकेगा। (अनवसरमलं आस्तां) अर्थात् जपरजः को विधूनित करने के लिये, निरपराध जपकर्म साधनार्थ जपकर्म ही एकमात्र अवलंबन है। यह उचित वक्तव्य है। जप की स्वशक्ति तथा जप की स्वाभाविक क्रिया तो इसी लक्ष्य तथा उद्देश्य से नियोजित है। जप का सौष्ठव इसी लक्ष्य का प्रकृष्ट साधन है। जप का सामर्थ्य इसी उद्येश्य की सम्यक् सिद्धि है। जप के द्वारा शत्रु (अरि) स्पन्द समूह का निवारण होता है और मित्रस्पन्द समूह का प्रवर्त्तन होता है। इसे चरितार्थ करता है जप। अधिकार सम्पत्ति उत्तम हो अथवा अधिमात्र हो, केवलमात्र जपाश्रय लेने से सर्व अभीष्टों की सिद्धि हो जाती है। भाव भक्ति, ज्ञान आदि किसी भी मार्ग का कपाट आवरित नहीं रह जाता। यह सत्य है, किन्तु कार्यतः सभीं क्षेत्रों में यह अबाधित, शुभोदय, महोदय प्रत्यक्षतः परिलक्षित नहीं होता। ध्याज (वैरूप्य) तथा विघ्न (वैगुण्य) पग-पग पर प्रकट होकर जपकर्म की गति में विषम कृच्छ्रोदय ही नहीं करते, प्रत्युत् उपरोक्त अपराध का भार अत्यन्त क्लेशयुक्त तथा भारी कर देते हैं। कर्म की गति गहन है। अतः उसकी गतिरेखा पूर्णतः परिलक्षित नहीं होती। यही कारण है कि इस प्रकार का विभ्रम तथा दौर्मनस्य घटित होने लगता है, किन्तु वास्तव में अल्पविस्तर व्याघात (Retardation and refraction) का घटित होना भी सत्य है। मित्रस्पन्द समूह भी शत्रुस्पन्द समूह के जाल को काटते हुए स्वयं को स्वच्छन्द क्रियाशील बनाने में अक्षम से रह जाते हैं। अतएव हमारा जो आराध्य (नाम-नामी-नामदाता) है, उसकी आराधना में किसी न किसी प्रकार से विगुणता (अपकर्म) आ जाती है। यदि ऐसा ही होता है (सम्भवति चेत्) तब क्या करूँगा ? किस उपाय द्वारा हमारे आराध्य के प्रति भजनीय वस्तु में निरपराधा जपरति होगी, क्या यही हमारी साध्यसाधना, ध्यान-ज्ञान, आशा-आकृति का लक्ष्य नहीं है ? राध् का अर्थ है आराधना। इसमें अपकर्ष अपमर्द ही अपराध है। जिस उपाय से भजन में रति उत्पन्न हो तथा वर्धित हो, उसे साधकर इस अपकर्षको काटना ही होगा। इसके लिए जप के साथ पञ्चशुद्धि, साधुसंग आदि उपायसमूह का आश्रय लेना ही होगा। लक्ष्य है जपरजः के स्थान पर जपरति।

द्विविध रजः

रज के द्वारा ही रज का शोधन करना होगा। जैसे दर्पण के मलक्षालन के लिये चूर्ण आदि का तथा जल का निर्मलीकरण करने के लिये फिटकिरी चूर्ण का

प्रयोजन है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्री गुरुपादपंकज रजकण से एक साथ पंचशुद्धि हो जाती है। रज: दो प्रकार का है, यथा अपराधोत्थित रज: तथा उत्थितापराध रज:। प्रथम अपराधजन्य है और उसका अंग है दूषण। द्वितीय है अपराध से उत्थान का उपाय, कारण, भूषण! प्रथम है प्रकटिताध:कोलाहल का द्योतक और द्वितीय को प्रशामिताध: कोलाहल भूमि का द्योतक कहा जाता है। जैसे अग्नि में धूम तथा भस्म है। अत्युत्तम तथा अधिमात्र अधिकार स्थल में निरपराधा जपरति स्वत:सिद्धा है। रति के अंकुरोन्मेष के साथ-साथ उत्तम भजन प्रारम्भ हो जाता है। उत्तम ज्ञानीजन महावाक्य सुनने मात्र से अथवा जपमात्र से ही साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं, तथापि जीवन्मुक्त स्थिति में अचलप्रतिष्ठ हो जाने की स्थिति में भी मनन निदिध्यासनादि का उपयोग रहता है। समाधि प्राप्त करने वाले के लिये भी सहजसमाधि का लक्ष्य रहता है। अत: उत्तमाधिकार में (यहाँ तक कि) उत्तम भूमि के अधिगत होने में भी निरपराध रजः का कुछ न कुछ योगदान रहता ही है। भक्तगण तो ब्रजभूमि की रज: को अनुराग के साथ रखते हैं। निम्नाधिकारी केवल जप ही करते हैं। वे जप भी "सहित" सहकृत-तदनुकूल नवधाभक्ति आदि रीति से करते हैं। रजः के द्वारा ही रज: का प्रतिकार एवं संस्कार सम्पन्न होता है अर्थात् मित्रस्पन्द तथा छन्द के द्वारा शत्रुस्पन्द एवं छन्द का प्रतिकार किया जाता है। मृदु तथा मध्य अधिकारी के लिये भी यही व्यवस्था परिलक्षित होती है। जिनकी निष्ठा जपादि कर्म में दुर्बल तथा शिथिल है, उनके लिये प्रथमत: धृति सकृता आवश्यक है। कर्म करने में लगे अथवा न लगे, वह अच्छा लगे अथवा न लगे, तब भी उसे पकड़कर रखना ही होगा (लगा रहो भाई)। उस अवस्था में धृति ही मुख्य साधन है। जैसे जो यज्ञ करने वाला है, उसे अनलस होकर अग्नि के अरणि का घर्षण करना ही होगा। इस घर्षण रूपी सेवा के कारण अग्नि तुष्ट होकर प्रकट हो जाती है, ऐसा विश्वास रखना ही होगा (बनत-बनत बन जाई)। वह उपाय करना पड़ता है, जिसके द्वारा धृति एवं विश्वास की बलवृद्धि होती है। (अनलस जपाभ्यास के द्वारा तथा अपरापर आनुष्ठानिक साधनाओं के माध्यम से यह होता है)। अर्थात् निष्ठा को दृढ़ करने के लिये धृति सहकृता क्रिया के द्वारा प्रयत्न करना चाहिये और धृति को वर्द्धित करने के लिये श्रद्धा का आश्रय लेना चाहिये। अर्थात् निष्ठा प्रबल होने पर धृति तथा श्रद्धा का बलाधान होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि साधन व्यापार में यही नियम कार्यकारी रहता है।

"पारस्परिकभावित्वं संहृत्य क्रमणता।
सापेक्षत्वं तदङ्गत्वं साहित्यमिति पंचधा ॥८॥

इस कारिका की व्याख्या पश्चात्वर्त्ती श्लोकों में मिलेगी। यहाँ यही लक्ष्य करना चाहिये कि किस प्रकार से वृत्ति, श्रद्धा तथा निष्ठा (नियम में स्थिति) एक

दूसरे को पारस्परिक सहायता के द्वारा वर्धित करते हैं। इन तीनों की पुष्टि से उपयुक्त मात्रा की प्राप्ति करने पर (जैसे कृषिकर्म में पारिपार्श्विक बीज तथा खेत की उपयुक्त मात्रा) जपादि में विशेष रुचि प्रभृति अनुकूल वृत्तियों का उदय होने लगता है। (अर्थात् कृषिकर्म में अंकुरोद्गम होने लगता है)। फलस्वरूप निष्ठा का प्रकर्ष प्रकृष्ट उत्कर्ष होता है और उससे धृति, रति, मति की समृद्धि (उपचय) परिलक्षित होती है। इस स्थल पर पारस्परिकभावित्व प्रभृति पाँच को ही उदाहृत होते देखता हूँ।

भजनांग समूह की पारस्परिक अपेक्षा

अब विचार करके देखें—निष्ठा के अभाव में भजन अथवा आर का भजन (सेवा) कैसे होगा ? इस श्लोक के माध्यम से निष्ठा तथा भजन का साहित्य एवं सापेक्षत्व को प्रदर्शित करने के लिये यह कहा जाता है—भजन को छोड़ देने पर मात्र निष्ठा विशेष कार्यकारी नहीं होती, दृढ़ा और साध्वी नहीं होती (तदविरहिणी कथं वा साधिष्ठा) अतः भजन के साथ निष्ठा का परिणय सम्बन्ध करना ही होता। भजन विरहिणी निष्ठा साधिष्ठा नहीं होती। तदनन्तर इन दोनों की "संहत्यक्रियमाणता" ! इन दोनों को मिलाने से क्या होगा, इसकी चिन्ता करना चाहिये। अपनी साधना की इस आशालतिका को फलवती करना ही होगा। इसका फल क्या है ? फल है विज्ञानभाति तथा भजनमाधुरी। क्या यह एकबारगी, साथ-साथ होती है ? ना, ऐसा नहीं होता ! पहले लतिका की मुकुलमन्जरी परिलक्षित होती है। वह मुकुल कैसा है ? भावमुकुल—भाव का मुकुल साधनवल्लरी से उदगत् होता है। इसके माध्यम से "तदंगत्व"रूप लक्षण का वर्णन किया जाता है। लतिका का दृष्टान्त समझकर अब अन्य प्रकार की भावना करो। निष्ठा के साथ भजन करने के परिणाम से तुम्हारा भाव प्रकट हुआ। भाव का उत्समुख खुल गया। जैसे इतने दिन तुम्हारे भजन कुटीर में केवल माला हाथ में थी, अब इस बार तुम्हारे घर की घरनी मिली। क्या उससे ही तुम्हारी कामनायें पूर्ण हो सकी ? ना, पूरी नहीं हो सकीं। एक लड़की का मुख देखने की वासना। उसका नाम है रति (रतिं वा दुहितरं)। तुम्हारी भावदुलरी घरनी तो वन्ध्या है। केवल भाव विलासिनी होने से ही पुत्री का वातुल मुख देखना सम्भव नहीं। अच्छा, पुत्री नहीं हो सकी—तुम्हारी भजन रति जन्मी। इस बार साध मिटी। ना, यदि (कानी) वातुल पुत्री ही भाग्य से मिली, तब वह दुहिता का वास्तविक कार्य (दोहन) कैसे करेगी, बोलो (दुह्याः) दोहन। किसका दोहन। तुम्हारी एक चित् नामक चिरदुखा सुरभि है, उसका ही दोहन करना होगा। किसके लिये ? चिदानन्द—ज्योतिरस रूप अमृत के निमित्त (अमृतं चित् सुरभितः) करना होगा। किन्तु दुहिता तो अन्ध है, अतः चित्सुरभि का दोहन उसके

द्वारा कैसे सम्भव होगा ? जिसका दोहन है, वह तो साक्षात् "ज्योतिषां ज्योति"---चिद्वस्तु है। और जो दोहन होगा वह भी एक प्रकार से विशुद्ध विज्ञान और रस (परमोज्वल रसवस्तु) है। अतः भाव में वंध्यात्व और रति में अन्धता जब तक है, तब तक कुछ भी नहीं होगा। इसके द्वारा "पारस्परिक भावित्व" का लक्षण हृदयंगम करो। भाव एवं रति का पारस्परिक रूप से जन्य-जनक सम्पर्क है। ज्योति तथा रस का भी इसी प्रकार का सम्बन्ध है। भावरस उन्मुख होने से रति का और रति की प्रगाढ़ता से भाव का उद्रेक होता है।

जप की एकान्तिक आवश्यकता-उदाहरण

यदि कहो, कि निष्ठापूर्वक भजन होता है। निष्ठा के बिना भजन नहीं होता, परन्तु जप में क्या ऐसी आवश्यकता है ? (जपेनालं चेत्) जप का जो लक्षण वर्णित है और आधार का वैरूप्य दूर करने पर जप जिस प्रकार से आनुरूप्यादि को प्रकट करता है, उससे यह शंका नहीं करना चाहिये कि जप अनावश्यक है। इतने पर भी यदि यह कहें कि जप का क्या काम ? उनकी प्रार्थना की जाये, उनका ध्यान हो। अच्छा ! तब यह कहूँगा कि स्वयं सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में (आदौ) प्रणवादि समर्थ बीज का जप क्यों किया ? समर्थ शब्दप्रभव ही सृष्टि है और स्वयं प्रजापति नें भी मधुकैटभ से भयमुक्त होने के लिये विशेषतः अर्धमात्र रूपिणी योगनिद्रा को जप के द्वारा प्रसन्न करके प्रणवादि के निरतिशय सृष्टिसामर्थ्य को जागरित, उद्बुद्ध किया था। यह स्तव से किया या जप से ? हम तुम स्तव को ही देखते हैं, परन्तु वास्तव में वह जप है। क्या अक्षमाला का जाप ? हाँ, अक्ष अथवा Axis की सहायता से प्रसुप्त मातृका (अक्षमाला) का मन्थन करने पर मातृका शक्ति का पूर्ण उद्धार करना तथा चैतन्य सम्पादन ही कर्म है। यही है महाकुण्डली की जाग्रति का साधन। इसे जप ही कहते हैं। तदनन्तर वाग्दोह (प्रणवादि वाक् का सार निष्कर्ष) से निसर्ग। उसके मूल में केवल जप ही नहीं है। शाश्वतिक प्रणवादि जप के आधार में ही निसर्ग प्रतिष्ठित रहता है। (प्रणवनिलयः)। अर्थात्, निसर्ग एवं तदन्तर्गत् प्रत्येक वस्तु अपने-अपने बीजमन्त्र के द्वारा विधृत तथा चालित रहती है। अपरा प्रकृति से अनुस्यूत यह भी तो भगवान् की पराकृति का एक विशिष्ट रूप ही है। "जीवभूता सनातनी" ही बीजभूता सनातनी है और वह तो "ययेदं धार्यते जगत्" भी है ! अच्छा ! निसर्ग का लय ? वह भी जप की विलोम सीमा भूमि में, जैसे हंसः ! यदि अनुलोम जप से निसर्ग सृष्टि का तात्पर्य है, तब ':सोहम्' जप तो निसर्ग का विलय होना है ! (भूतशुद्धि का चिन्तन करो) यदि मूल में यह मौलिक जप नहीं घटित होता, तब "अस्मदादि" के क्षेत्र में, व्यष्टि स्थल में भी समष्टि का नैसर्गिक सूत्र चलता रहता है, कार्यकारी रहता है। देखो ! बालक ध्रुव के समान

अधिकारी के लिये भी द्वादशाक्षर वासुदेव मन्त्र (मनुवरः) का उपदेश और उसका ऐकान्तिक जप प्रयोजनीय हुआ था। ध्रुव में विश्वास आदि में से किसका अभाव था, बोलो? अतः "जपाद् वैखर्य्यंचेत्" – यह शंका उठाना उचित नहीं है। जिन नारद ने ध्रुव को इस महामंत्र का उपदेश दिया था, क्या उनके स्वयं के निमित्त भी मन्त्र जप आवश्यक नहीं था? (भागवत् में श्री नारद-व्यास संवाद देखो)। और फिर वेदव्यास नारद के परामर्श से भागवत की रचना करते हैं। अष्टादश सहस्र श्लोक युक्त, एक परम अत्भुत सामग्री! रीति युक्त ध्यान करने से ही लीला प्रत्यक्ष गोचर हो सकती है। क्या केवल सुनी हुई गल्प के आधार पर, रिपोर्ट पर, ऐसा हृत्-कर्ण रसायन, पका हुआ अमृतफल गठित हो सकता है? अच्छा, प्रसंग क्रम में व्यासदेव अष्टादश संख्या पर ऐसी ममता क्यों रखते हैं? महाभारत के १८ पर्व हैं, गीता के १८ अध्याय हैं? नारद ने क्या भागवत रचना के लिये व्यासदेव पर ऐसे ही शक्ति संचार कर दिया था? उन्होंने कोई गोपन मन्त्र दीक्षा, मंत्र के जप ध्यान का उपदेश श्री भगवान की सर्वोत्तम ऐश्वर्य माधुर्यमयी लीला का प्रत्यक्ष करने के लिये नहीं दिया? वह संवाद अवश्यमेव अप्रकाशित ही रह गया है। तब क्या (नारद नें) कोई अष्टादश अक्षर युक्त मन्त्र (जैसे गोपीजनवल्लभ मन्त्र) नहीं दिया? मूल रहस्य जो भी हो, यह सत्य है कि जप सभी सिद्धि-ऋद्धि, भुक्ति-मुक्ति तथा भक्ति का मूल है। अतः यह शंका क्यों करते हो कि जप का क्या काम?

जप परिपूर्णता की भूमि

जपादि की लक्ष्यवस्तु (अर्थात् जपादि के द्वारा जो साध्य है) को कभी भी तुच्छ नहीं मानना चाहिये। जप को निम्न भूमि का साधन, अधम साधन मानना भी अनुचित है। इस भूमिका में छन्द के पाँच पादों को सविस्तार पूर्वक प्रदर्शित किया जा रहा है। शेष दो पाद् अर्थात् महासमन्वयी एवं परम समन्वयी जब तक अधिगत नही हो जाते, तब तक जप की चरितार्थता ही नहीं है। इन दोनों सर्वोत्तम भूमियों को अधिगत करने का मुख्य साधन है जप। इस निम्नोद्धृत कारिका को स्मरण रखना चाहिये—

यथा सुप्तः षड्जादिरुतिरभसान्नाद उदितो
यथा भाः शुक्लैका सति शवलवर्णालिमिलने।
यथालापो वीणाऽपहतसुरतंत्री परिकृतौ
यथा खे वाक्चित्रे विलयमित आस्तां तव तथा ॥९॥

जहाँ सविशेष रूप से परिपूर्णता है, और जहाँ विशेष का उपशम है, हे जापक! वे दोनों तुम्हारे गन्तव्य हैं। एक ओर जो महासमन्वयी छन्दः जीवन की निखिल सम्भावनाओं का चरितार्थ रूप है, उसे तुम्हे साधना ही होगा। दूसरी ओर

उसकी परमाधार रूप सत्ता उसे क्रोड़ीकृत किये हुये शुद्ध निरंजन रूप से विद्यमान है, उसे भी तुम्हे आत्मप्रत्यय गोचर करना होगा। अतः वही इस कारिका में कहा गया है कि तुम्हारे भीतर जो नादब्रह्म सुप्तवत् विद्यमान है, उसे जप द्वारा पुकार कर जगाओ। जिस धारा से षडज्ऋषभादि सप्त स्वर जागते हैं तथा तत्तदनुगत श्रुति के आग्रह द्वारा (रमसात्) सुप्तनाद जाग्रत होकर परम विस्मय रूप भैरवादि रागमूर्त्ति में स्वयं को लीलायित करता है, तुमको भी भूरादि सप्त व्याहृति एवं गायत्री आदि छन्दः के द्वारा वही करना होगा। स्वयं विश्वनाथ का ऋत् एवं सत्य विश्वरूप जो महासंगीत है, उसके साथ ही तुमको अपने जीवन संगीत का समन्वय करना होगा। यही है महासमन्वयी छन्दः साधना। स्वभाव के "स्व" भाव को मिलाना होगा। तत्पश्चात् देखो, जो अशेष विचित्रित (शबल) वर्णालि है, उनके पारस्परिक मिलन (सति मिलने) से क्या होगा ? उससे होगी एकमात्र शुभ्र ज्योति (भाः शुल्कैकाः)। तुम्हारे जीवन की और अशेष भुवन की विचित्र वर्णाली युक्त विशिष्ट छवि को इस परम शुक्ला ज्योति में मिलाये बिना तुम्हारे जप का अन्त नहीं होगा ! लक्ष्य तो मिला, परन्तु उपाय ? इस साधना वीणा की तन्त्री तो ढीली होकर बेसुरी पड़ी हैं (अपहृत सुरतन्त्री) ! इससे महाराग का आलापन कैसे सम्भव होगा ? सुरतन्त्री का परिकर्म, परिकृति करना होगा। सुर बाँधने के कर्म को सयत्न करना पड़ेगा। इसमें विस्तृत प्रयास अपेक्षित है; व्यथा वेदना भी प्रचुर है। इतने पर भी इसे करना ही होगा। उसका साधन है जप ! सुर बँधे यन्त्र से महाविस्मयकारी सुर बजता है। जीवन की पटभुमि में अपरूप मनोहर छवि अंकित है। किन्तु महाकाश में (खे) जिस धारा से अपरूप वाणी तथा अपरूप चित्र एक दूसरे में मिल जाते हैं, शुद्ध निरंजन सत्ता में सब कुछ का पर्यवसान हो जाता है, (वाक्चित्रे विलयमितः), ऐसा ही तुम्हारा भी हो ! (आस्तां तव तथा)। अर्थात् सविशेष-निर्विशेष, महान् एवं परम रूपी इन दोनों दिशाओं से (द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे) तुम्हे साधन चरितार्थता प्राप्त हो !

———

द्वितीय अध्याय

सप्तव्याहृति की मूल आकृति तथा रहस्य व्यंजना

सप्तव्याहृति की मुल आकृति तथा उस समूह की रहस्य व्यंजना के सन्दर्भ में आलोचना हो रही है। प्रथम व्याहृति की व्याख्या में हम यह लक्ष्य करते हैं कि "भ" कार 'प' वर्ग का चतुर्थ वर्ण है, अतः वह महाप्राण है। तृतीय वर्ण "व" कार में जो अल्पप्रणता है, वह भ कार में महाप्रणता से युक्त हो जाती है। जगत् की मूल वस्तु को उपादान अथवा अधिष्ठान रूप में उपलब्ध कर सकने पर उसे चित् अथवा चैतन्य कहा जाता है। किन्तु सृष्टिनिमित्त केवल उसी उपादान अथवा अधिष्ठान की सत्ता रहते से ही चालित नहीं हो सकता। उस उपादान अथवा अधिष्ठान को भी हम निमित्त रूप से उपलब्ध करते हैं। मूल उपादान वस्तु का जो आविर्भाव निमित्त होता है, उसे केवल चित् न कहकर चित्‌शक्ति कहना चाहिये। चित्‌शक्ति रूप में चित् केवल प्रकाश मात्र ही नहीं है, परन्तु वह स्वयं का अहं, इदं इत्यादि विशेष—विशेष भाव से इक्षण करने में भी समर्थ हैं। इस प्रकार शुद्ध प्रकाशरूप से नित्य स्फुटभाव के साथ-साथ विशेष-विशेष इक्षण के द्वारा स्फुटीभाव का वैलक्षण्य भी स्मरण रखना ही होगा। जिन्हें यह स्मरण नही है, वे लोग श्रुति तथा अनुभवसिद्ध जो निर्गुण निर्विशेष प्रकाशरूपता है, उसे भी अस्वीकार करने लगते हैं। पक्षान्तर से चैतन्य का यह विशेष ईक्षणरूप प्रकाश है, उसे भी नकार देने का कोई उपाय नहीं है। यह इक्षण भी श्रुति तथा अनुभव से सिद्ध स्थिति है। निखिल शब्द-अर्थ तथा प्रत्यय की समष्टि जो विश्व है, इसके आविर्भाव के मूल मे किसी एक निमित्त की अपेक्षा अवश्य रही है। इस निमित्त को श्रुति नें इक्षण काम-तपः संकल्प इत्यादि अनेक रहस्यपूर्ण शब्दों के द्वारा परिभाषित किया है। इस निमित्त को अनि-मित्तिक निमित्त कहे बिना कोई गति ही नहीं है। निमित्त का भी पुनः एक निमित्त है, उसका भी निमित्त है, इस प्रकार से निमित्त परम्परा की कल्पना करने पर अनवस्था का दोष आ पड़ता है। अतः मूल उपादान में इस प्रकार से निमित्त के आविर्भाव को किसी निमित्त परम्परा के द्वारा नहीं समझा जा सकता। यदि इसे माया कहें, तब इस माया को अनिर्वचनीया मानना ही पड़ेगा। यदि इसे प्रकृति कहते हैं, उस अवस्था में इस प्रकृति को "अमूलम् मूलम्" कहना ही होगा। यदि इसे शक्ति संज्ञा देते हैं, उस स्थिति में यह शक्ति ही अचिन्त्य शक्ति है। विश्व के सभी लक्षण हेतु, निमित्त इत्यादि के मूल में जो महारहस्य विद्यमान है, उसके स्वयं के सम्बन्ध में किसी प्रकार के लक्षणादि, निमित्तादि का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

यदि प्रयोग किया जा सकता, तब वह महारहस्य मूलरूप ही नहीं रह जायेगा। उसकी पृष्ठभूमि में उसके भी मूल का अनुसन्धान होने लगता। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में माया तथा महामाया के सम्बन्ध में सूत्र हैं और वहाँ विस्तृत कारिका भी अंकित है। महामाया आलोचना प्रसंग में चित्त एवं चित् शक्ति के संपर्क को विशेष रूप से समझने के लिये चेष्टा करना है। दर्शनशास्त्र के रसिक पाठकगण जपसूत्रकार द्वारा रचित आंग्लभाषीय ग्रन्थ महामाया तथा वेदान्त दर्शन ग्रन्थ में इसे पढ़ सकते हैं।

मूलतत्व में प्राण का स्थान अवर्ण

विश्वव्यापार में इरिता अथवा प्रेरयिता रूप से चित्शक्ति का जो आविर्भाव होता है वह प्राण है। इसे श्रुति तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में देखा जा सकता है। जपसूत्र के उपोद्घात में तथा उसमें अन्यत्र भी प्राण सम्बन्धित यही भाव परिलक्षित होगा। जब चित्शक्ति प्राणरूपेण विश्वव्यापार में प्रवृत्त होती है, तब आधार एवं अनुक्रमरूप से जो मूलस्वरवृत्ति प्राप्त होती है, वह स्तर का आदि तथा समस्त व्यंजनों का आश्रय है, "अ" कार वही है। अर्थात् चैतन्य अथवा "सा" है। अतः उपोद्घात में महादेव की अघोरादि पंचमूर्तियों के रहस्य निरूपक श्लोक में, 'अ' वर्ण को इस विश्वरूप महायज्ञ में "अग्निचित्" अग्नि का चयनकारी निर्देशित किया गया है। यह अग्निचयन कर्म ही विश्वमहायज्ञ का प्रारम्भ है। यही कर्म विश्व-महायज्ञ का आधार भी है। तत्पश्चात् अ का आश्रय लेकर ही निखिल स्वरव्यंजनों का स्फुटीभाव से प्रकाशन होने लगता है। इस स्फुटीभाव के चित्र में हम प्राण को उर्मिभंग के रूप में रूपायित होते देखते हैं। कहीं पर प्राण ने स्वयं को ह्रस्व अथवा स्वल्प कर रक्खा है। कहीं उसने स्वयं को दीर्घ एवं महान् बना दिया है। कहीं वह अघोष है, तो कहीं वह घोषवान है। शब्द की इस प्रकार की अभिव्यक्ति के चित्र में हम किसी भी स्थान में प्राण को सर्वोत्तम अर्जित रूप में देख सकने में अक्षम रह जाते हैं। उर्मिया तो उठ रही हैं, गिर रही हैं, कहीं वे ह्रस्व हैं, कहीं पर दीर्घ हैं, कहीं ये सब उच्च हैं और कहीं वे अनुच्च अथवा अवच भी हैं।

महाप्राणवर अथवा प्राणेश "ह" वर्ण

यहाँ यह प्रश्न उत्थित होता है कि किसी शब्दाभिव्यक्ति में पहुँचकर प्राण सामर्थ्य एवं छन्दकाष्ठा में काष्ठा अथवा सीमा प्राप्त करता है। यह शब्द है मातृका-वर्णमाला का वर्ण हकार। अ एवं ह दोनों ही कंठ के प्रयत्न द्वारा उच्चरित वर्ण हैं। तब भी हकार को ही मुख्यरूप से महाप्राणवर्ण कहते हैं। अतएव हकार को महा-प्राणवर कहते हैं। इस ह का अनुग्रह न मिलने पर कोई भी वर्ण महाप्राणता प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं। क कारादि पंचवर्ग में यथा क्रम से ध, झ, ट, एवं भ भी

ह कार का ही अनुग्रह प्राप्त कर लेने के कारण महाप्राण हो सके हैं। शक्ति मूलबीज "ह्रीं" में तथा यज्ञाहुति मन्त्र स्वाहा में ह कार केन्द्रस्थलीय होकर महाप्राण की जो काष्ठा अथवा सीमा है, उसका परिचय दे रहा है। जपादि कर्म में शक्ति का उद्बोधन आवश्यक है। वहाँ इसी महाप्राणश्रेष्ठ ह का ही आश्रय लेना पड़ता है। जैसे कुण्डलिनी जागरण हं बीज अथवा "हंसः सोऽहम्" इत्यादि।

अनुग्रह तथा उर्ज्जः

यद्यपि "भूः" शब्द ने (जो पवर्ग का चतुर्थ वर्ण है) ह कार का अनुग्रह प्राप्त किया है, तथापि जब तक यह अनुग्रह उर्ज्जः शक्ति के रूप में स्वयं को प्रकट नहीं कर देता, तबतक विश्व महायज्ञ की जो सम्भावना है, वह स्वयं को "अयं" अथवा "यह" रूप में प्रदर्शित नहीं कर सकती। इसी उर्जः शक्ति को हम अन्यत्र वाराही शक्ति कहते हैं। जो कुछ सम्भावना बीज अथवा संस्कार रूप में रहती है, वह अपनी उर्ध्वंग शक्ति का उत्तोलन करके साक्षात् प्रकट रूपता प्रदान करती है। यही वाराही शक्ति है। एक क्षुद्र बीज में विशाल वृक्ष की सम्भावना तथा संस्कार अन्तर्निहित है।

यह सम्भावना किस अतल में डूबी, निमज्जित सी रहती है, इसका सन्धान नहीं मिलता। अतः उस बीज को हम एक क्षुद्र कणिका के रूप में देखते हैं। यह बीज कणिका और उसकी चरम परिणति जिस महावृक्ष के रूप में लक्षित होती है, इन दोनों के बीच में अनेक स्तर, अवस्था तथा व्यवधान भी हैं। कोई एक उध्वर्ग शक्ति क्रमशः इन समस्त अवरोधों को तथा स्तर समूह को हटाते हुये यदि बीज की रक्षा नहीं करती रहती, उस स्थिति में वह बीज निमज्जित, अलसित तथा तिरोहित हो जाता। वाराही शक्ति बीज की सत्ता शक्ति को अपने दांतों द्वारा उत्तोलित करते हुये, उसे परिपूर्ण विकास के पथ पर चालित कर देती है। विश्व में सर्वत्र यह व्यापार घटित हो रहा है। जड़, प्राण तथा मन में सर्वत्र यही हो रहा है। जप तो वैखरी रूप से ही प्रारम्भ होता है, परन्तु पश्यन्ति एवं पराभूमि की ज्योति और आनन्दराशि रूप में जबतक दोनों का सामरस्य नहीं हो जाता, तबतक जप की परिपूर्ण सार्थकता ही नहीं होती। वर्त्तमान में जप अक्षररूप से अथवा कल्पित अर्थ रूप में अवभासित हो रहा है। जब तक यह जप स्वयं एक परमज्योति एवं रसोपलब्धि के रूप में प्रकाशित नहीं हो जाता, तब तक जप भी एक क्षुद्र बीज की ही तरह केवल एक सचल सम्भावना अथवा संस्कार मात्र ही है। जो सचल है, वह पुनः अचल रूप हो जाता है। जप के समय भी उर्जः शक्ति अथवा वाराहीशक्ति के माध्यम से उस सम्भावना को परिपूर्ण वास्तविक रूप में प्राप्त करना ही होगा। मध्य में एक दुस्तर व्यवधान है। उसे हम मध्यमा का सेतु अथवा सुरंग कहते हैं।

उर्ज्जःशक्ति के पथ में सेतु अथवा ग्रंथि

सेतु पार करके (वैखरी से) पश्यन्ति की सीमा में पहुंचने से ही छुटकारा नहीं मिलेगा। वहाँ भी अनेक अवरोधक स्तरों को हटाते हुये (Veiling and Faulting strata) सत्य की ओर अग्रसर होना ही होगा। क्योंकि पश्यंति की प्रथम सोपानावलि में साधक की स्वकल्पना अथवा अन्य संस्कार कुछ न कुछ शेष रह जाते है, अतः उसे जो दर्शनादि वहाँ होते हैं, वे यथार्थ एवं परिपूर्ण सत्यानुभूत तथ्य नहीं होते। पश्यन्ति में उन्नति हो जाने पर भी हमें सात परदों अथवा सोपानों का अतिक्रमण करते हुये यथार्थ ऋत-सत्य छन्द में आरूढ़ होना होगा। सत् एवं चित् वस्तु के जगत् रूप की "आविरूप" एवं रात्रिरुप चर्चा आलोचित हो चुकी है। आविरूप से सब कुछ अस्ति और भाति रूप है, यहाँ तक कि नास्ति एवं अभान तथा अज्ञान भी भान एवं भाति है। रात्रिरूप में ऐसा नहीं है। उसमें सत् तथा चित्, सदसत् एवं चिदचित् रूपी युग्म मिश्ररूप से विद्यमान रहते हैं। इसी कारण जगत् प्रत्यय व्यक्ताव्यक्त तथा चिद्‌जड़ात्मक द्वैधरूपी प्रत्यय है। प्रियं अथवा आनन्द तो प्रायशः अस्मदादि परिचय से अवगुण्ठित है।

इस अन्तःबहिरूप विश्व में अपनी भावझलक देते हुये (कहीं कदाचित्) एक-एक टुकड़ा सुर-छन्द के रूप में ही उस मधुमत्तम का एक स्पर्श है। जो आत्मा "प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् श्रेयोऽन्यस्मात्" है, वह आत्मा भी निरतिशय सुखरूपी नहीं है। वह निरतिशय दुःखरूपी प्रतीयमान होता है। नैरात्म्यीकरण और उसका फल निर्वाण ही आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूप भावित होता है। जिसके द्वारा आनन्द का अवगुण्ठन उन्मोचित होता है, उसे ही इस ग्रंथ में "मधुच्छन्दः" कहा गया है। वेदो नें मधुमती ऋक् से उल्लासित विलासित आनन्द वस्तु को मधुच्छन्दः के रूप में अपूर्व ढंग से रूपायित किया है।

तत्व वस्तु-चरम वस्तु के पार और इस पार

जो सच्चिदानन्द का साक्षात् परोक्ष रूप है, उसमें इस प्रकार के असाक्षात एवं परोक्ष भाव का संक्रमण होने पर, जिस निमित्त को पुराभाग में रखने पर साक्षाद्‌परोक्ष "अस्तिकतम्" स्थिति दूरतम हो जाती है, "तिरस्कृतमिव" होती है, अस्मादि प्रत्ययरूप उस निमित्त को कोई भी नहीं समझता ! "कुतइयं विसृष्टिः" कह कर उसे चिरकालीन-चिरनिरुत्तर प्रश्न के रूप में अनुत्तरित ही छोड़ दिया गया है ! और असत् तथा अचित् रूप से वही मूलवस्तु दीर्घकाल से ही एक अत्यन्त दुरवगाह तथा अगाध रहस्य के समान पड़ी हुई है। उस महारहस्य की तुलना सर्व विशेषणग्रासी "गम्भीरान्तः" के साथ करने का प्रयास होते ही मानव की रहस्यानुभूति में भी कुण्ठा का अनुभव होने लगता है। विश्व में "गुहाहित", "गह्वरेष्ठ" भाव का संचरण कैसे हुआ है ? विश्वसत्ता की अपनी आकृति, शक्ति तथा छन्द इस प्रकार के

एक अतलतल में कैसे स्थित है? एक जड़रेणु, एक बीज की अथवा मन की एक इच्छा की, किंवा भाव की परीक्षा करके देखो ! उसे देखने से यह प्रतीत होगा कि मानों एक विपुल को छिपाते हुये इतना छोटा, एक स्त्री के अन्दर कर दिया गया है ! जैसे मातृगर्भ में स्थित एक जीवकोष का परिणाम है रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द, महात्मा गांधी ! एक ऐटम में एक महाशक्ति युक्त विपुल ब्रह्माण्ड घनीभूत है ! यह है महाश्चर्य का परोक्षरूप ! अल्प में भूमा का "गूढ़बाधनम्"। इस अज्ञात अज्ञान के परोक्ष से, इस अपरिचय की गम्भीर बाधता तथा निगूढ़रूपता से मुक्त होने के लिये विश्व में सर्वत्र एक प्रयास विद्यमान रहता है। जब स्वरूप और स्वभाव ऋणी (Negative) है, तब स्वभाव से ही उस ऋण का परिशोधन करना होगा। (ऋणी ही स्वयं ऋण शोधन करता है)। उसे ऋणी (Negative) के स्थान पर positive बनना ही होगा। प्रत्येक क्रिया अपनी ही समान प्रतिक्रिया की अपेक्षा रखती है। वस्तुमात्र में स्थिति स्थापकता (Elasticity) है। अध्यात्म साधन मे इस नैसर्गिक प्रयास को विद्या श्रद्धा से तथा उपनिषद् के माध्यम से सम्यक रूप से करना ही होगा। अर्थात् जो मात्र Negative एवं Sub-potential ही है, उसे reverse करके, उसका प्रत्यावर्त्तन करते हुये उसे positive, high-potential तथा kinetic करना होगा। जो sub-potential है, उसे high potantial करने से कुण्डलिनी उत्थित हो जाती है। ई एवं ऊ वर्ण इस कर्म में साधिष्ट हैं।

प्रथम व्याहृति —"भूः"

मूल शक्ति आकृति तथा व्यञ्जनाकृति

जो सृष्टि में सर्वत्र तथा आध्यात्म साधन में विशेष रूप से समर्थ सहगति (potential, Co-Efficient) को विपरीतकरण का रूप देते हुये परोक्ष बाधित Negative एवं Subpotential (अपिहित और अभिभूत) "ग्राम" समूह को उत्तोलित कर देती है, शब्द-अर्थ तथा प्रत्यय की अधः भवन वृत्तियों को उर्ध्वगतिशील रूप से अभिव्यक्त, भासमान कर देती है, वही प्रथम व्याहृति "भू" है। यह उर्जः शक्ति शब्दार्थादि को potential field की अतल गम्भीरता से निकाल कर, उन्हे "अयं" अथवा "यह" रूप से गोचरीभूत कर देती है। सब कुछ भी इसी प्रथम व्याहृति के अनुग्रह के द्वारा चालित होकर, नेपथ्य के अन्तराल से समस्त अवरोधों को हटाकर, प्रेक्षामंच की दीपमालिका की प्रभा में परिलक्षित होने लगता है। अब सब कुछ potential-kinetic हो जाता है। निमज्जित वस्तु ऊपर आकर भासित होने लगती है। अलसित भी उल्लसित हो जाता है। वह"भू" व्याहृति के प्रभाव से "अयं" रूप से उपयुक्तशक्तिमान (Requisite energy Level) प्राप्त करता है।

व्याहृति की त्रिमात्रा, भ+उ+रू का विश्लेषण रहस्य

अतएव भूः का विश्लेषण करते हुये जो कलात्रय (Elements) प्रत्यक्षगोचर होते हैं, उन्हे पूर्वोक्त आकृति (Pattern) देना आवश्यक है। महाप्राणवर ह कार द्वारा उच्छून (Surchrged) जो व कार बीज अथवा संस्कार (सम्भावना Sub potential) है, वह उर्जःशक्ति (उकार) के द्वारा उध्वर्ग होता है। यही नहीं, यह उर्ध्वगा (लम्बगा) वृत्ति मूर्द्धगा (Apex प्राप्त करके) होते हुए 'र' कार में पराकाष्ठा प्राप्त करती है। अतः र कार अग्नि, तेजः अथवा भर्ग है। लम्बगावृत्ति यहाँ पहुँच कर निगूढ़ता का पाश दग्ध करते हुए स्वयं को "अयं" "यह मैं विद्यमान हूँ" ऐसी अभिज्ञता का अनुभव कराती है। बीज कहता है "यह देखो मैं पौधा हूँ, "मै सत्य हूँ" मैं ज्योति हूँ, मैं अमृत हूँ !" "ॐ भूः स्वाहा" इस व्याहृति का यही परमफल है। यह आदिम व्याहृति है।

समस्त सृष्टि की प्रसवव्यथा की स्थिति में यही आदिम व्याहृति परिचारिका है

सृष्टि में जहाँ भी जितनी गम्भीर प्रसव व्यथा है, वहाँ इस आदिम व्याहृति "भू" को प्रत्यक्षतः पाया जाता हैं। यह प्रत्यक्ष व्यवहार क्षेत्र में भूमिष्ठ होती है। जहाँ भी जितनी प्रकाशकुण्ठ वेदना है, वहाँ यही व्याहृति ही—सहायक रूपा हो कर वाणी, छन्द तथा स्वर रूप में मुखरा हो उठती है। "अयं" अथवा "यह" रूप से प्रकाश के प्रेक्षालोक में स्थित रहकर यह कौन जान सकेगा कि इस सम्भावनालेश को अत्यन्त गम्भीरतर पाषाणस्तरीय परम्परा को हटाते हुये अन्तः के सजाग आलोक में जीवन्त प्राणवायु को आने देने का प्रयत्न करना है।

जब एक नदी अपने तट प्रान्तर को पीछे छोड़ते हुये नदीनाथ से आ मिलती है, तब यह कौन सोच सकता है कि यह कभी निभृत तुंङ्ग गिरीकन्दरा के कारागार से तुषार निर्झर के रूप में निकलकर सचकित स्वप्नभंगता की स्थिति में आज नदी नाथ से मिल जायेगी। यही तो वह कहानी जैसी स्थिति है, जब भाद्रपद मांस में कंस के कारागार की संगोपन स्थिति में स्वयं व्रजसुन्दर ने जन्म लिया था। यह ऐसी कहानी है जिसे निभृत वल्लरीवृन्त की नगण्य पुष्पकलिकायें भी अत्यन्त सलज्जभाव से फुसफुसाती आवाज में सुनाती हैं। अतएव इस आदिम व्याहृति का सर्वत्र एवं सर्वत्तोभावेन अनुसन्धान करता ही होगा।

प्राण तथा वर्ण (रसायन) है

(Chemistry of Pranic and Somatic Function)

अन्तः तथा बहिः प्रकृति में मग्न शुद्धभाव (Potential, Subpotential) की सूचना देने के लिये "आधमंण्य" रूपी पारिभाषिक शब्द का तथा व्यक्त, उदार भाव (Kinetic) की सूचना देने के लिये "औतमर्थ्य" का व्यवहार होता है।

इसका एक विशेष उद्देश्य भी है। पूर्वोक्त वर्ण के आदि में जो अवर्ण है वह उ के रूप में रूपित होता है। इसके पश्चात् ओ के रूप में गोचर होता है—अ+उ= ओ। अर्थात् एक से अन्य बनाने के लिये उभय पार्श्व में उद्वर्त्तन (uplifting) होना आवश्यक है। अ तथा उ के सहयोग से "ओ" बनता है। अब अवर्ण ही इस उद्भूत ओ की सहकारिता द्वारा औ बनता है। प्रथमतः मग्न अथवा स्तब्ध भाव के अन्दर प्रकाश के विकास का संवेग (urge) दृष्टिगोचर होता है। भ कार का विश्लेषण करते समय हम इसे महाप्राण के (हकार के) अनुग्रह के रूप में उपलब्ध करते हैं।

इस स्वगतोद्गम प्रवणता (Spontaneous upsurging or swelling) को उच्छूनता की संज्ञा भी प्रदान की जाती है। बहिर्विश्व में रेडियम जातीय पदार्थों में यह संवेग विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। आध्यात्म साधना में इसे आग्रह, आकृति, आत्मकृपा आदि कहा जाता है। यह अहेतुक अथवा आकस्मिक नहीं है। इस धारणा का हेतु भी है। हेतु चाहे जो कुछ क्यों न हों, वह नेपथ्य में मग्न रहते हुए कार्य करता रहता है। इसे शुभ प्रारब्ध कहा जाता है और यह आकस्मिक रूप में प्रायशः आत्मप्रकाश भी करता है। पूर्ण ज्ञान का जो आकृतिपट अथवा चित्रपट है, वह यदि आकस्मिक अथवा "नस्यात्" हो भी जाये, तथापि हमारे विवर्द्धिषु ज्ञान में (progresive apprehension और appriciation में) वह आकस्मिक भी निरुपित के साथ लुकाछिपी की क्रीड़ा करता ही रहता है। विश्व भी एक प्रकार से Statistical universe होने की दिशा की ओर उन्मुख सा प्रतीत होता है। मग्न के अन्तर्गत्-नेपथ्य में योग्यता के कारण, अथवा जैसे लाटरी खुलती है, (आकस्मिक रूप से) इस स्वगत संवेग का ऋटक्छन्द प्रकट होने लगता है। अर्थात् प्रणवाक्षरत्रय का अ और उ मिलकर 'ओ' का रूप धारणा करता है। वर्णद्वय की समर्थ सन्धि और रसायन ही ऋतछन्दः को प्रकट (घटित) कराता है। सब कुछ में यही मिलन अत्यावश्यक है।

उक्त रसायन किस प्रकार से ऋतानुग अथवा ऋतायन होगा ?

गणित की भाषा में इसे Differentiation कहा जाता है। इसके प्रभाव से नेपथ्य स्थित सबकुछ अपने true state of variation or change (ऋतायन) को निश्चित कर लेता है। विघ्ननिमित्त की विषमताओं में से ही (इनके ही कारण) ऋतछन्दों का अभ्युत्थान होता है। पहले के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार (गौलीलिओं तथा न्यूटन के मतानुसार) शक्ति (Energy) एक यौगिक सामग्री (derived Function) थी, परन्तु इसे वर्त्तमान काल में मौलिक (Primary) का स्थान दिया गया है। पहले Energy को mass-Space तथा Time से सम्भूत वस्तु मानते थे। उस समय तीनों को गतिनिरपेक्ष (Indipendent of motion

or observer. Indipendent of any Conventional frame of refernce) और निर्व्यूढ़ रूप से भावना कर सकने का कोई दृष्टिकोण विकसित नहीं हो सका था। वर्त्तमान काल में यह मत प्राय: व्यर्थ हो चुका है। mass और Energy को एक निर्दिष्ट समीकरण के द्वारा अन्वित भी किया जा चुका है। अतएव इसे तदनुरूप विवर्त्तित अथवा परिणत होने में कोई बाधा नहीं है।

Enengy और Mass के सम्पर्क में "भूः भुवः स्वः" का क्या आधार है ?

क्या केवल हिलियम ऐटम के संगठन में कुछ ऐसा ही विवर्त्तन होता है ? जब Mass स्वयं को Radiant Erergy अथवा Quanta के रूप में प्रदर्शित करता है, तब हम इस क्रिया की मूल आकृति को "भू" व्याहृति में उपलब्ध करते हैं। पुन: जब Quanta स्वयं को Materialize करता है, स्वयं को Mass के रूप में प्रदर्शित करता है तब हम "स्व:" व्याहृति की उपलब्धि करते हैं। इन दोनों के बीच व्यवधान की भी सत्ता रहती है। इस व्यवधान का निरूपक है "भुव:"। किम्बहुना दोनों स्थानों में गति तथा स्थिति का जो ऋतच्छन्द है और सत्यच्छन्द है, उसे अभ्युत्थान (Emergnce) की अपेक्षा रहती है। गति के लिये हमें किस प्रकार चलना होगा और स्थिति के लिये किस भंगिमा का वरण करना होगा, इसका निरूपण भी हो जाता है। गति, स्थिति, तथा इन दोनों के निरूपक छन्द (Law, Eqation) को एक साथ, युगपत रूप से आकृति (Pattern) कहते हैं।

स्थितिरूप, गतिरूप तथा दोनों का नियामक सूत्र (व्याहृति की भाषा में)

कल्पना करें कि स्थितिरूप (As rest) में जो वस्तुमान है, (Mass) उसे m. कहा जाये और गतिरूप में जो है, वह m है। इन दोनों के निरूपक सूत्र को कुछ समय पूर्व वैज्ञानिक आईन्स्टीन (Einstein) ने परिभाषित किया था। विज्ञान में व्यक्त पूर्वकालीन शक्ति की आकृति (Formula) आजकल के इस नूतन सूत्र का एक प्राक्कालीन संकीर्ण संस्करण मात्र था। यदि m_0 को स्व: कहें, और m को भु कहें, उस स्थिति में दोनों के सम्बन्ध घटक सूत्र को (Equation को) भुव: ही कहना होगा। प्रकारान्तर से भू: को आकृति कहने पर स्व: को प्रकृति कहना होगा। ऐसी स्थिति में भुव: प्रत्यय है। इसकी आलोचना परवर्ती प्रसंग में की जायेगी।

शक्ति के दिङ्गमान (Directedness) स्वीकृति का भूः एवं स्वः, अस्वीकृति का रूप भुवः

किम्बहुना यह भुव: ही केवलमात्र (abstract) व्यवधान नहीं है। 'यह' और "वह" भी प्रमितिभेद (Logical or apprehesional distinction)

मात्र नहीं है। इन दोनों का आकृति निरूपक एक माध्यमिक सूत्र, संख्या अथवा सेतु है। इसे प्रमेयगत भेद (Intrinsic Relation) कहते हैं। शक्ति शब्द का मौलिक अर्थ ग्रहण करने पर यह सेतु ही सम्बन्ध मूलक और क्रिया निरूपक शक्ति विशेष है। (A Dynamic Interval or nexus) यह (अयं) तथा वह (असौ) रूप से शक्ति स्वयं को दिङ्गमान विशिष्ट (vector) रूप से प्रस्तुत करती है। वह सेतु रूप में दिङ्गमान को अस्वीकार कर देती है। भुवः तो मध्यस्थ एवं उदासीन है।

मेघोदय का दृष्टान्त

अत्यन्त निर्मल आकाश है। उसमें हठात् एक टुकड़ा मेघ परिलक्षित होता है। वृष्टि भी होने लगती है। वृष्टि तो होना ही था। मेघखन्ड नेपथ्य में जलीय वाष्पाकार में अदृश्य सा था। "यह" होकर (प्रत्यक्ष होकर) प्रकट होता है और उससे एक गति एवं परिणति का ऋतःच्छन्द स्वरूपभूत होता है, इसे स्वीकार करना ही होगा। अदृश्य जलीय वाष्परेणु आकाश के स्थानविशेष में एकत्रित होकर मेघरूप में दृश्यमान होने लगती है। इससे गति एवं परिणति का एक उन्मुक्त मार्ग प्राप्त होता है। यह मार्ग अबतक वन्द सा था। इसी कारण अब तक मेघ नेपथ्य में निहित था। अतः हम देखते हैं कि उन्मुक्त मार्ग की प्राप्ति के लिये विघ्न (Unharmonic Curvature) तथा वैरूप्य और वैगुण्य को हटाना ही होगा। प्रकृति की समस्त समर्थ क्रिया तथा अभीष्ट सिद्धि के मार्ग में उक्त दो बाधाएँ विद्यमान रहती हैं। ऋतच्छंद का तात्पर्य है समस्त बाधाओं को हटाकर सरल (सीधे) पथ का संधान प्रदान करना। वैगुण्य तथा वैरूप्य का अपना-अपना छन्द विद्यमान रहता है। वैरूप्य के छन्द का यह कहना है कि अदृश्य होकर नेपथ्य में है। वहीं क्यों न पड़ा रहे। क्या आवश्यकता है कि मर्त्यलोक में उसपर लोगों की दृष्टि पड़े। वैगुण्य का कथन है असीम नीलिमा के विस्तार में मुक्त विहार क्यों न करो। इतनी घिसाई (परिष्कार) की क्या आवश्यकता। नीचे जाओ उपर उठो! जलकण होने पर न जाने कितने लाखों जलकण के रूप में तुम्हारी आवद्धता हो जायेगी। अतः मुक्तगगन में नियम बन्धन रहित होकर विहार करो। Clausius, Maxwell की Kinetic theory of Gases की सीमारेखा में रहना (अर्थात जलकण के स्थान पर वाष्परूप में बद्धता रहित स्थिति में रहना) तो सुविधाजनक है। छन्दों की भाषा का प्रचलित भाषा में अनुवाद प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह भाषा वास्तव में गणित के बड़े-बड़े समीकरणों से युक्त बोली है। पहले की मान्यता के अनुसार मालिक्यूल (Molecule) पर्यन्त के पार्टिकल को लेकर ही एक प्रकार से कार्य चला करता था। किन्तु वर्तमान में ? जो कुछ भी हो, विघ्न की बात सुनकर मेघ का दृष्टान्त दिया गया। मेघ होने के कारण यह छंद अविच्छंद है। किन्तु एक अनुकूल छंद भी परिलक्षित होता है। उसका भी

मात्र गणितीय ही है। एक प्रकार से ताप एवं शैत्य Thermodynamics का ही एक विराट पर्व है। यह जीमूति यज्ञ में विदग्ध कुशल उपोद्घात होना चाहता है। क्या वाष्प का घनीभाव (Condensation) सहज होता है ? अति बालखिल्य एक बिन्दुमात्र है किन्तु उसका उद्भव (जन्म) भी विराट पर्व है। मरण और श्राद्ध तो विराट पर्व है ही। एक जलकण भी कहता है कि मैं मूल के साथ मिलकर ही जन्मता हूँ। अर्थात् हममें भी परम्परा के अनुसार नाभि-अर एवं नेमि की व्यवस्था रहती हैं। एक नाभि (Nucleus) का संग्रह करो, तब दाना बनूगां। अन्यथा कदापि नहीं बंधूगा। अतएव अभीष्ट मेघोदय और वारिवर्षण के लिये अमृतायन के स्थान पर सम्यक् ऋतायन का सम्पर्क होना चाहिये।

सम्यक् ऋतायन होने के लिये अरिच्छन्द तथा मित्रच्छंद के मध्य की अव्यवस्था अवांछनीय है

अरिच्छन्दः और मित्रच्छन्दः में अव्यवस्था (Stalemate) रहने से नहीं चलेगा। यदि मूल में सब कुछ स्पन्दन का व्यापार है, तब इस स्पन्द को सुव्यवस्थित रीति से एक आकार देना ही होगा। यदि हमें प्रथमतः मेघोदय को पाना है, और उस मेघ को घनीभूत करके अभीष्ट वारिवर्षण को प्राप्त करना है, उस अवस्था में भी इस स्पन्द को सुव्यवस्थित रीति से पाना ही होगा। पहले यज्ञ के मंत्र तंत्र द्वारा पर्जन्य को सृष्ट करने का प्रयास किया जाता था। अब भौतिक विज्ञान के यंत्र-मंत्र द्वारा इसे प्राप्त किया जा रहा है। प्रकृति में तो यह स्वभावतः ही घटित हो रहा है। वह एक मूल हेतु का आश्रय लेकर घटित हो रहा है। वह घटित हो रहा है स्पन्द समूह को मित्रछन्द रूप में अन्वित करके। अन्वय के फलस्वरूप विघ्नादि दूरीभूत हो जाते हैं और उन्मुक्त पथ मिलते ही क्रिया समर्थ होती है। अब सिद्धि दृष्टिगोचर होने लगती है।

गतिविज्ञान के दृष्टान्त के द्वारा अभीष्ट ऋतायन हृदयंगम होता है !

विचार करो कि 'क' ख होना चाहता है। किन्तु क तो ख एवं ग के विरोधी खिचाव में आ पड़ा है। यदि ग एवं ख की कौणिक अवस्थिति है और उनका पारस्परिक अनुपात ऐसा है जिससे एक समान्तरिक क्षेत्र के कर्ण को पकड़ कर (क) अपने अभीष्ट ख को प्राप्त करने के लिये जा सकता है, तभी उस क्षेत्र को कार्यकर ऋतछन्द कहा जा सकेगा। अन्यथा यह कहा जायेगा कि क का रूपान्तरण ख के रूप में नहीं हुआ।

यहाँ से कोई राकेट 100 मील दूर लक्ष्य की ओर फेंका। रैकेट एक Parabola की आकृति में जाना चाहता है। यह उसका नैसर्गिक ऋतछन्दः है, कार्यतः समस्या यह है कि जो हमारा लक्ष्य (Target) है, उसके अनुकूल, अर्थात् तद्वेध समर्थ ऋतछन्दः कैसे मिलेगा ? इसके लिये पदार्थ एवं गतिविज्ञान के अपरापर सूत्रों की सहायता प्राप्त करना ही होगा। उनमें से कुछ वर्त्तमान स्थल पर हमारे पक्ष के

हैं और अन्य विपक्ष के हैं। राकेट तो वायुमण्डल से होकर जायेगा। अतः राकेट के गतिवर्त्म में अवस्थित वायुमण्डल की घनता और वेग का गणित करना ही होगा। इसमें पृथ्वी का अपने अक्ष पर आवर्त्तन भी विचाराधीन रखना होगा। साधारण राकेट के अलावा आलोक, ताड़ितरश्मि को भी राकेट के रूप में कल्पित अथवा व्यवहृत (जैसे कि निकल्सन की परीक्षा में) करने पर भी ईथर के युग में यह देखा जाता हैं कि ईथर की बाधा के कारण (drag के कारण) उक्त राकेट की गति में कुछ वैलक्षण्य लक्षित होता है अथवा नहीं। अध्यात्म साधन की परीक्षा में भी यही उक्ति कारगर होती है।

अधिभूत अध्यात्म आदि समस्त साधन, अभीष्ट ऋतायन के निमित्त छन्दः को अनुकूलता से प्राप्त करने का क्रम।

प्रथम परिणयी

(इसके अनन्तर प्रसंग क्रमानुसार छन्द के उत्तरोत्तर पाँच पर्वों की आलोचना की जाती है)

ऋतछन्द की पराकाष्ठा में "ऋतञ्च सत्यञ्च" इस उरुक्रम को पहले कहा जा चुका है। देखा जाता है कि इस उरुक्रम के पाँच क्रम अथवा पर्व हैं। प्रथमतः ऋतछन्द का जो रूप आवश्यक होता है उसे परिणयी छन्दः कहते हैं। जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त मे ग तथा घ रूपी दो विरोधी गतिसंचार के परिणय (Composition) द्वारा क अपने अभीष्ट ख से मिल गया। वह अपने अभीष्ट से मिलने के लिये एक ऋजुपन्थ (ऋतायन) (diagonal of the parallelogram) से जाता है। इस प्रकार साधक में परांङ्ग वृत्ति तथा प्रत्यग वृत्ति का परिणय साधित होना आवश्यक है। वैखरी जप (ह्रीं, क्रीं आदि बीजमंत्रों का जप) में भी बीज की अग्नि अथवा तैजस मात्रा (र) और सोम मात्रा (ं) का परिणय होना आवश्यक है; अन्यथा अनुपात वैषम्य के कारण विघ्नादि के अनभीप्सित लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं। इनसे अनृतायन होता है।

द्वितीय—अन्वयी। श्रद्धा और श्रद्धधानता।—विरोध एवं विरुद्धानता का अभिभव

तदनन्तर अन्वयी छन्दः से द्वितीय जप होता है। पूर्वोक्त परिणय के सौष्ठव (Harmony) में यह रूप मिलता है। तब पूर्वोक्त ग-घ का द्वन्द्वभाव (Mutual Repuguance) नहीं रह जाता, अथवा रहने पर भी वह मग्न एवं नियन्त्रित रहता है। अध्यात्म साधना के क्षेत्र में यह सौष्ठव तथा ऋतायन आ जाने पर समग्र साधन यज्ञ में जो एकतानता लक्षित होती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। बाह्य व्यापार भी यही accordance Factor है। मूलतः यह भी स्पन्दगत है। अर्थात् क एवं ख का मौलिक स्पन्दगत अनुपात सौष्ठव है। यह सौष्ठव प्रायशः भग्नांशों का वर्जन करता है। यह जप का लक्ष्य है और समर्थ जप का यह फल भी है। दोनों के बीच ख

(गुरु शक्ति) को यदि आदर्श (Standard) माने, तब उस आकृति अथवा आदर्श का "छन्दोग" होना ही इस मौलिक श्रद्धा का साधन है।

तृतीय--समन्वयी। आत्मवैर--
Inner discord and Contradiction—निरसन

तदन्तर तृतीय समन्वयी छन्दः है। इसके माध्यम से श्रद्धा की पूर्णता साधित होती है। जैसे वैखरी जप में श्री गुरु किसी ध्वनि (प्रणव) को हमें सुनाते हैं। हम उसी भाव से साधना प्रारम्भ कर देते हैं। जैसे गायन में स्वर की स्थिति है, वैसे ही वाद्यों में बोल की सत्ता रहती है। किन्तु ध्वनि ही शेष नहीं है। हमारे समस्त यंत्रों में (पाँचों कोषो में) वही श्रद्धधानता परिव्याप्त रहनी चाहिये। (एक देशीय, संकीर्ण, विच्छिन्न, परिच्छिन्न अन्वय से कार्य प्रगति नहीं होती)। परिणाम यह होना चाहिये कि अन्तरतम भाव का प्रकोष्ठ खुल जाये। अस्तिकतम ज्योतिर्धाम के आलोक में हमारा नित्य अवगाहन होना चाहिये। हमारी समग्र सत्ता को इस बार ऐक्यतान रूप से युक्त होना चाहिये।

अन्वयी पर्व में युंजान योगी समन्वयी से युक्त रहते हैं। इससे हमारी सत् सम्बन्धिनी कुण्ठा विदूरित होने लगती है। (सत् सम्बन्धिनी अर्थात् अपने से सम्बन्धित) (need no longer be afraid of myself) अपने में इस समन्वयी ऋतछन्दः के न मिलने से अपने से सम्बन्धित भय नहीं कटता। तब तक "आत्मैवरिपुरात्मनः" इस प्रकार की स्वयं भगवत् प्रदर्शित आत्मवैर सम्भावना विद्यमान सी रह जाती है। तब तक साधक चाहे जितना प्रयास क्यों न करे, उसके समस्त साधनों के सुधा सिन्धु के मध्य में एक भयानक वैरिजिह्वायुक्त स्थिति का प्रकाशन होता ही रहता है। अवगुण, अवचेतना अथवा Lowar Vital प्रभृति का दौरात्म्य ही वैरी स्थिति कही जाती है। जिस वाद्य को बजाते समय उसके निचले हिस्से के परदों का सुर बँधा नहीं रहता, वह असुर, सुर विहीन बजता है। चाहे ऐसे वाद्य में दैवी स्पर्श ही क्यों न हो, उससे विद्रोही सुरों की झनत्कार ही श्रुतिगोचर होती है। इस उपद्रवी झनतकार के रहते अच्छे सुर की झंकार भी इसके कारण श्रुतिगोचर नहीं होती।

क्या अनुभूति और आस्वादन के अन्तःपुर में जाकर हम निश्चिन्त हो जाते हैं? वहाँ भी तो अन्धकाराच्छन्न, अजानी चोर कोठरियों का अभाव नहीं है। आत्मा के विराम तथा आराम के आस्तरण तल में कितनी ही गोपन खानें छिपी हुई हैं। अतएव सतर्क स्थिर साधक को यह देखना पड़ता है कि कहीं उसके अपने दुर्ग में छद्म शत्रुओं ने सुरंगे तो नहीं बना रक्खी हैं? अब धीर साधक को यह सावधानी रखनी चाहिये कि कहीं उसकी ऐसी निराली ध्यान कुटीर वास्तव में जन्तु गृह तो नहीं है! इस प्रसंग में कारिका के इस श्लोक की जप भावना करना चाहिये:—

"यदि विलमधिशेते व्याल आशंकसेऽत्र
कति कितवचरा वा वैरिणोऽमूत्र सन्ति।
जतुगृहमिवगेहं मन्यसे वापि तर्हि
जप सपदि नवार्णं वैरि जिह्वां दधानाम् ॥१०॥

महाबीज सम्पुट के दश समन्वयी छन्दः प्रकटन तथा पुरत्रय में महात्रासमूल उत्पाटन

सुधासिन्धु में निवास होने पर भी गुप्त शत्रुगण जबतक अपनी जिह्वा फैलाये हुये ग्रास करने को उद्यत से खड़े हैं, तबतक मुग्दर धारिणी तथा वैरी जिह्वा को पकड़े हुये अपरूपा कान्तभीम मातृमूर्ति का ध्यान करे और प्रसिद्ध नवाक्षर मंत्र जप करे। इसके साथ एक विशेष भंगिमा से तीन महाबीज ऐं ह्लीं क्रीं का जप करते हुये व्यालभय (सर्पभय), व्याजभय तथा व्यूहभय को दूर करे। इसके द्वारा साधक को उत्तरोत्तर स्थिर-वीर तथा धीररूपा भूमित्रय अधिगत हो जाती है। इस कारिका श्लोक के अत्र, अमूत्र एवं गेह पद के रहस्य की भावना करनी चाहिये। स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण रूपी त्रिस्थल में महात्रास मूल का उत्पाटन होना चाहिये। अन्यथा तुम अपने मन्दिर के शिखर पर उगे हुये वटवृक्ष की शाखा तथा पत्तों को काटकर क्या पा सकोगे? उसकी मूल (जड़) तो मन्दिर के शिखर में लग्न ही रह जायेगीं। अतः अतन्द्रित होकर समन्वयी छन्द का सन्धान करो। कभी क्लार्क मैक्सवेल ने अनेक समीकरण सूत्रों के द्वारा आलोक और तड़ित् के समन्वयी छन्दों को जानने का प्रयत्न किया था। इसका परिणाम है बेतार, टेलिफोन, सिनेमा आदि। वर्तमान काल में अलबर्ट आईन्स्टीन ने mass और Erergy का समीकरण प्रस्तुत करके ही छुट्टी नहीं पायी, उन्हें और भी समन्वयी सूत्र खोजना है। क्योंकि सब कुछ की जो आत्मा, हृदय, मूल है, वही इन सब भौतिक समीकरणों के समन्वय का रहस्य है।

स्वल्पसमन्वयी से पूर्णस्वस्ति नहीं होती, स्वस्त्ययन शेष नहीं होता

कल्पना करो कि समन्वयी छंद मिल गया। कुछ भी पकड़ो, हमारी सत्ता में सबका सुर एवं छंद आया। बस काम फतह! नहीं ऐसा नहीं है। अणु-महान् एक ही सुर में बन्धा है। रेणु-विराट का एक ही छंद है—इस उपलब्धि के साथ एक विपुल विश्व की एकतानता में अपने बाँधे यन्त्र को बजाये बिना छुटकारा नहीं हो सकता। एकदेशीय समन्वय सम्यक् स्थिति नहीं है। (एकदेशीय अर्थात Closed Realm—restricted filed)। इसीलिए अर्जुन को विश्वरूप दिखलाने की आवश्यकता आ पड़ी थी। यदि वास्तव में विश्वरूप एक विकट रूप होता, यदि छंद एवं शृंखला भी हमारे और तुम्हारे द्वारा कल्पित आरोप रुप ही होता, तब विश्व के

किसी प्राणी के लिये भयमुक्त हो सकना, ज्योति तथा रस से युक्त ध्रुवधाम को प्राप्त कर सकना सम्भव होता ?

आत्मरूप और विश्वरूप

खण्डरूप से देखने पर भूकम्प, वन्या महामारी त्रस्त भूमण्डल ही दृष्टिगोचर होता है। यहाँ तक कि हिंसा से उन्मत्त यह पृथ्वी देखने को मिलती है। उससे भी अधिक हमारे भीतर की उद्दण्डता ! वहाँ तो पकड़ने का कोई न कोई सूत्र हाथ की मुट्ठी में है। परन्तु यहाँ ? यदि आसाम का भूकम्प Volcanic नहीं है; तब Tectonic की व्याख्या सुनकर कुछ न कुछ समझ में तो आता ही है। परन्तु यहाँ हमारी दैनन्दिन संस्कार भूमि में जो दोलन कम्पन है, उत्पात् उपद्रव आदि है, क्या उसे कुछ समझ सका ? क्या फ्रायड, युंग, एडलर प्रभृति विद्वान उनकी निर्धूत छवि का अंकन कर सके ? कभी-कभी तो यह विचार आता है कि इन लोगों ने घास-फूस ही पकाया है। क्या योगोक्त संयम सत्य है ? किन्तु उसका स्पर्श करके देखने की इच्छा से आगे कौन बढ़ता है ? केवल बातें की जाती है, यह नहीं वह, वह नहीं, यह आदि। केवल वाचालता ! तब भी यह सत्य है कि आभ्यन्तर में ज्योति, सत्य, अमृत विद्यमान है और उसमें ले जानेवाला अभ्यारोही छन्द भी है। उसी के लिए अध्यात्म, साधन, जपादि हैं। यदि स्वयं को देखने में भ्रान्ति होती है, तब विश्व को भी उसी दृष्टि से देखने पर क्या सम्यक् रीति से उसे देखा जा सकेगा ? यदि यह कहें कि विज्ञान ही तो Law के लिये Chance का प्रतिपादन करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तत्वतः Chaos ही Cosmos का आधार एवं अधिष्ठान है। पहले Reality (तत्व) बाद में Appearance (अध्यास) ? नहीं, ऐसा नहीं है। न्यूटन के आधार का शोधन तथा सम्प्रसारण करते हुए आईन्स्टीन ने जिस आधार का आविष्कार किया है, उसमें (Statistics Indeterminacy इत्यादि को प्रविष्ट कराने के कारण) समन्वयी छन्द की जयजयकार देखता हूँ। ऐसा ही प्राण विज्ञान के क्षेत्र में भी है। यह सत्य है कि और भी आगे बढ़ना होगा। प्राण के प्राण तथा चेतन के चेतयिता को छोड़ देने पर विश्व में एक भी निर्भर योग्य Evolvant, Emergent Principle ही नहीं मिल सकेगा, जिसके द्वारा इस मारात्मक Second Law of Thermodynamics और Entropy के क्रोड़ में रहते हुये भी इस विश्व को अपने विकास और पूर्णता के पथ पर आश्वस्त करने वाली धात्री के रूप में प्रत्यक्ष किया जा सके।

व्यस्त समाधान से सत्य समाधान नहीं मिलता : अनिराकरणमन्त्र सूत्र

कोई भी व्यस्त समाधान (Isolated) समाधान रूप नहीं होता। "माहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् अनिराकरणमस्तु अनिराकरणंमेऽस्तु" प्रारंभ से लेकर चरमबिन्दु पर्यन्त, सभी समाधानों में इसी सूत्र का अनुसरण करना चाहिये

अर्थात् यहाँ जो समन्वयी है, उसे समन्वयी रूप से अन्यत्र तथा सर्वत्र प्राप्त करना पड़ता है। यहाँ जप क्रिया के आश्रयण द्वारा जो मूल स्पन्दगत वैरूप्य विदूरित हो रहा है, वह मूलस्पन्द तथा उसका ऋत केवल मात्र यहीं पर सावकाश मूल स्पन्द (Relevant, applicable) नहीं है। उसे विश्वानुग होना चाहिये। Cosmic—universal होना चाहिए। अर्थात् रेणु को भी विराट के छन्दरूप में उपलब्ध करना होगा। जप के मूलतत्व और अक्षरवर्ण आदि की भी आलोचना इसी दृष्टिभंगी से की जा सकती है। इसी कारण पदार्थ विज्ञान, गणित आदि हमारी आलोचना परिधि से पूर्णत: बाह्य नहीं है। आंग्लभाषा में जिसे Synthetic Integral Approache कहते हैं, वह भी जपादि के स्थान पर "ऋतस्य पन्था:" ही है।

चतुर्थं महासमन्वयी। इस तुरीय के बिना संकटत्रय से त्राण नहीं है। पाशसंकट, ग्रंथिसंकट, गुणसंकट ही पाशत्रय संकट है। दुर्गा-माँ दुर्गा रूपी बीजद्वय ही संकटमोचनी शक्ति है इसे कहते हैं समन्वयी छन्द:।

अब इस कारिका की भावना करो—

"यदि विलपसि बद्धो यूपपाशेषु दीन
प्रभवसि न च वैरग्रन्थिभेदाय वीर।
तरितुमपि गुणाख्यं दिव्यमायां न दिव्य
क्षम इह जप मन्त्रं रक्षणी नाम दुर्गे" ॥१।१॥

दीन (पशु) वीर तथा दिव्यरूप तंत्रोक्त भावत्रय को लक्ष्य करते हुए उक्त रक्षणी मंत्र (ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षणी स्वाहा) के जप ध्यान को विहित बतलाया गया है। यथाक्रमेण पाश संकट, गुण संकट तथा ग्रथि संकट को काटने के लिए इसका विधान है। जो विश्वगत् मौलिक छन्द: (Basic Harmony) है, उसके साथ अपने निजगत मौलिक छन्द की मैत्री संसाधित होने पर ही उक्त त्रिविध सकटों का शमन होता है। स्थानान्तर में यह आलोचना करना है कि दुर्ग तथा दुर्गम शब्द में ही त्रिविध संकट की आकृति अथवा फारमूला सन्निहित है। यह संकटत्रय (गुण + ग्रथि + पाश) केवल शुद्ध रूपेण (Static Complex) ही विद्यमान नहीं हैं। धूर्णि के समान अथवा चलती चक्की के समान निरन्तर धूर्णमान हैं। इनका चतु:सूत्री विश्लेषण (पादगत-मात्रागत-कला एवं काष्ठागत्) आवश्यक है। इनका वास्तविक वेग (momentum) काटने के लिये (Resolve) ही दुर्ग शब्द के अन्त में आ अक्षर का संयोजन किया गया है।

परिणाम है दुर्गा। अथवा दुर्गम को छिन्नमस्ता पादपीठ रीति से विप्रतीप करके "माँ दुर्गा" का संयोजन ! छिन्नमस्ता भंगी का सर्वांश में विचार करो। "सब्र उलट दो" इस रीति की उक्ति को यहाँ पर विशेष रूप से कहता हूँ। जैसे "हंस:

सोऽहम् स्वाहा" मृत्युन्जय मन्त्र "ॐ जूंसः सो जूं ॐ" इत्यादि। अगली कारिका में नवार्ण मन्त्र भी इसी प्रकार उदाहृत् है।

छन्दः की निःश्रेयणी (सोपानावली) का आश्रय लेने के लिए समन्वयी को पकड़ने से कार्य क्यों नहीं होता ? छन्दः की यह तुरीयभूमि आवश्यक क्यों है ?

स्थूल-सूक्ष्म, बाह्य-आन्तरादि सर्व क्षेत्रों में महासमन्वयी छन्द को आर्ष दृष्टि से मिलाने का प्रयास करने के लिये ही जपसूत्र ग्रंथ की अवतारणा हो रही है। जब तक वह छन्द नहीं मिल जाता, तबतक जप अथवा अन्य किसी आध्यात्मिक प्रयास के लिये निर्भरशील पूर्ण आधार नहीं मिल सकता। साधक को इस प्रश्न के सम्मुख होना ही होगा। हमारे तथा विश्व के मूल में क्या उक्त छन्द (Basic Harmony) विद्यमान है अथवा उसका अभाव (Basic Dishormony) है? उस युग में पदार्थ विज्ञान की गति एटम तक ही थी और उसकी घात-प्रतिघातजन्य शक्ति व्यष्टि अथवा समष्टि में ही सीमाबद्ध थी, "पांसा फेकता हूँ" (अर्थात् अन्धेरे में तीर फेकता हूँ) की रीति से ही सही, किसी न किसी ने उस समय भी इस अपूर्व विश्व रचना कौशल की एक न एक उपपत्ति प्रस्तुत करने का प्रयास किया ही था ! किसी ने विद्रूप भी किया था, मानो एक छापाखाने के शीशे के अक्षरों को लेकर इधर-उधर करते-करते शेक्सपीयर का महानाटक कम्पोज (Compose) हो गया हो ! किन्तु यह तो स्मरण रखना ही होगा कि काल निरवधि है, पृथ्वी विपुला है। अतः Calculus of Probability के अनुसार ऐसा होना असम्भव भी नहीं है ! वर्त्तमान में एटम टूट चुका है।

यद्यपि यह खुलेआम भले न हो, तथापि अब तो चोर बाजार की शक्ति तथा वहाँ का लेनदेन भी ढुलमुला उठा है। अब सब कुछ मौलिक रूप से सम्यक् मार्ग पर होने लगा है, यह देखता हूँ। सामान्य रूप से यह Statisticians के उपयोग में आ रहा है, परन्तु वहाँ भी एक-प्रचण्ड हिसाब का लम्बा चौड़ा खाता देख रहा हूँ। आज भी मानो आधा दर्जन टाईपराईटर के सामने कपि दम्पतियों को बैठा कर एक सीनेट बनाने की व्यवस्था की जा रही हो ! एक सीनेट ही क्यों, यदि इस विराट सृष्टि सौष्ठव की सम्भावना इसी प्रकार से हो रही है, तब यह सब सोचने की सम्भावना ही नहीं है !

विश्व तथा व्यष्टि का सम्पर्क तीन प्रकार से होता है। उसमें से कौन प्रकार अभ्युदय के लिये आवश्यक है ? विश्व का गुण्ठित, कुण्ठित तथा लुण्ठित रूपत्रय

यहाँ अब इस प्रसंग का अनुसरण नहीं करना है। विश्व के साथ हमारा सम्बन्ध तीन प्रकार से होता है। अरि, मित्र तथा उदासीन रूपत्रय इस सम्बन्ध के प्रकार हैं। प्रथम (अरि) तथा अंतिम (उदासीन) को छोड़ना है ओर मध्यम

(मित्र) रूप की उपलब्धि करना है । ज्ञान, आस्वादन तथा व्यवहार में सम्मुख रूप से प्रतीयमान न होने पर भी, उस भाव को साध्य साधना के द्वारा आयत्त कर लेना चाहिये। यदि यह वास्तव में नहीं होता, (उसे लेकर साधना करने से) तब उस साधना को असाध्य की साधना कहा जाता । जैसे विश्व "नहीं" है, इस प्रकार से विश्व को "न स्यात्" (Eliminate, negate) करके भी यदि स्वयं को सत्यभाव से प्राप्त करना है, तब भी वह "नेति" करण (Negating Process) का ही निमित्त है । जो चला गया अथवा जाने वाला है, उसका सहयोग आवश्यक है । इस व्यापार को "एक तरफा" मानना भी भूल है । A Hostile universe अथवा एक Neutral universe से और उसके खप्पर से छुटकारा पाने के लिये, उसे अपना Ally (मित्र) बनना ही होगा ।

यही कारण है कि मित्र बनाने की पृष्ठभूमि में हमारे और उसके—दोनों के मूल में एक महासमन्वयी छन्दः विद्यमान है । इसी अधिकार से मूलतः हम दोनों हरि-हर हैं । तभी जब मैं उसे कहता हूँ "हरि" (इच्छामत Eliminate अथवा Sublimate करता हूँ तब), तब वह भी एक अच्छे बच्चे की तरह बोलता है "हर" । इस प्रकार हरि-हरात्मा ! उसके और हमारे न होने पर यह कारबार कैसे चलता ?

मूल में जो आनन्द तथा लीला कैवल्यम् है, उसमें उपनीत होने वाला सेतु–कहाँ–किस प्रकार मिलेगा ?

हमने जपसूत्र में आनन्द को ही "सब कुछ" के हृत् (Ineermost Core) (essence) के रूप में देखा है । आनन्द का जो स्वीय ऋतम् है, उसे लीला कहते हैं शुद्ध आनन्द में लीला भी शुद्ध है । केवल अथवा स्वरूप लीला ! विश्व विकास के मूल में जो लीला कैवल्यम् है, वह यद्यपि इस कार्यरूप जगत् में आकर तिरोहित नहीं हो जाता, तथापि वह कुण्ठित, गुण्ठित एवं लुण्ठित रूप से वैरूप्यमय हो जाता है । Statistical Unverse इसका गुण्ठित रूप है । Neutral Universe इसका कुण्ठित रूप है । Hostile Universe, Brute Universe इसका लुण्ठित रूप है । प्रथम खंडोक्त छन्द लक्षण प्रसंग में यह "व्यभिचार" प्रभृति किंचित् वर्णित है । वर्त्तमान युग में देश-काल-वस्तु एवं छन्दः की गवेषणा करते हुए एक दिक् चक्रवाल सम्मुखीन होता प्रतीत होने लगता है । और कुछ अग्रसर होने पर एक अभिनव दिक्-वलय दृष्टि के सम्मुख उपस्थित होने लगता है । वर्त्तमान कालीन आकस्मिकता (Chance) तथा अनिश्चितता (Indeterminacy) जहाँ तक पहुँच सकी है, उसके पश्चात् क्या है ? "ततः किम्" । क्या लीला कैवल्य विन्दु ही उसका गन्तव्य है ? प्रतीत होता है यह समन्वयी छन्दः ही इस पथ का दिशानिर्देशक है । अब यदृच्छा-नियति इत्यादि केवल मात्र अन्दाजी अथवा खाली पुलाव नहीं रहा है ! सब के मूल में संख्या विज्ञान का कुलिश कठोर छन्द विद्यमान है ।

वास्तविक परीक्षा में उसका निर्मम (Impartial) विनियोग भी होता रहता है ! और अधिक अग्रसर होने पर प्राण संवित् विज्ञान एवं आनन्द के महासमन्वयी छन्द महिमा के द्वार पर उपस्थित होने में सहायक सेतु का मिलना भी संभव हो जाता है। वर्त्तमान युग में एक रहस्यमय तमिस्त्रा की सीमा पर खड़े होकर जिस रक्तराग की दिशा में अंगुलि निर्देश प्राप्त हो रहा है, क्या वह रक्तराग घनायमान गोधूलि का भ्रान्त मलिन अन्तराग है, अथवा वह नव अरुणोदय की शान्त-वरेण्य कनकरुचि जैसी रक्तिम छटा है ?

आकस्मिक और अनिश्चित के बीच भी मूल की आवश्यकता है अन्यथा सृष्टि की उपपत्ति नहीं होती। यही है मूल व्याहृति।

यह आदिम व्याहृति भू सृष्टि का सन्धान देती है। यद्यपि छापाखाने के टाईप के ढेर को उलट पलट करने के तरीके जैसी स्थिति के अनुरूप (ऐसे वैसे ही) इस सृष्टि की रचना हो सकना असम्भव नहीं है, तथापि इस व्यापार में एक अन्य मूल छंद क्रमागत रूप से संकेत देता है। वह क्या कहता है ? वह कहता है कि "वह सब सम्भव है किन्तु उसके भीतर यह कारोबार चालू हुआ। बाकी हिसाब में चुपचाप खाताबन्दी कर लो।" यह सब कुछ मौलिक तथा यौगिक व्यापार में "हाथ झाड़कर बचाव करना है।" यह हुई व्याहृति। इसका आदिम रूप है "भूः"

धूमावती के शूर्प का परिचय। मीनादि पंचशक्ति की व्याहृति रूपता

श्री श्री धूमवती के हाथ में यह व्याहृति शूर्प के रूप में है। पदार्थ विज्ञान के मूल की परीक्षा करो। सबके आभ्यन्तर में इस पूर्ण से ही यह जानना होगा कि किसने "बहाल" होने का टिकट अथवा जाने की अनुमति पाई है, किसने नहीं पाई है ? देखता हूँ कि सभी ने टिकट पाया है। यदि टिकट पा जाते, तब यह विश्व व्यापार ही नहीं चलता। व्याहृति तो चाहिये ही ! उस युग में मैक्सवेल ने Kinetic theory of Gases की गवेषणा प्रसंग में Sorting Demon की कल्पना किया था। यदि किसी एक Lucky Hit से इस विश्व की रचना हुई होती, तब भी क्या इसकी स्थिति, पोषण तथा विकास के लिये व्याहृति अथवा धूमावती के हाथों में इस शूर्प धारण का कोई कारण है ? चाप, ताप, पोटेंशियल इत्यादि शक्ति के स्तर (Level) की तारतम्यता की रक्षा होनी चाहिये, किन्तु इनके एकीकरण (Equlibrium) की ओर भी एक प्रवणता निरन्तर रहती है। सामान्यतः मीनशक्ति प्रायः सब कुछ को एकाकार करती है, परन्तु वह साथ-साथ कौर्म्म शक्ति (संग्रह के साथ धारण) वाराही शक्ति (Levelling up) नारसिंही तथा वामन शक्ति भी है। विश्वव्यापार में हमने इन शक्तियों के रूप में पंचावतार का वर्णन किया है और

भविष्य में भी वर्णन करूँगा। सलिल रूप को एकाकार प्रायः कहा गया है, क्योंकि तब भी बीज का संरक्षण रहता है। अर्थात् तब भी अव्यक्त भूमि में व्याहृति है। Primary Potential Field भी वास्तव में Differential Field है। किसी न किसी प्रकार से Basic Differantial Equation भी वहाँ पर निरवकाश नहीं है।

व्याहृति एवं प्राकृतिक निर्वाचन

विगत शतक में डारविन ने प्राणि समूह के उत्वर्त्तन (Evolution) में प्राकृतिक निर्वाचन के उपर विशेष जोर देने के स्थान पर व्याहृति व्यापार को The master key to the Interpretation of Nature" (प्राकृतिक रहस्योद्घाटन की कुंजी) माना है। विज्ञान के सदर दरवाजे में प्रवेश के लिये इस कुंजी का निपुणता से व्यवहार भी देखा जाता है। व्याहृति—वि (विविच्य) आहृति = (आहरण)।

किन्तु चयन कर्म तो अनिदान, अहैतुक नहीं होता भू (होना) धातु के नाना रूपों में एक अव्यय रूप कैसे मिला हुआ है ? यही समस्या है।

व्याहृति तो अनिदान होने की स्थिति नहीं है। किसके लिये और क्यों इस व्याहृति की सत्ता है ? यह प्रश्न तो पग-पग पर उठेगा ही। अतएव इसके लिये एक ऐसे कुछ की आवश्यकता है जिसे हमें अपने अंकों के हिसाब से आज तक "अमोल" नहीं दिया जा सकता। लोहा का टुकड़ा चुम्बक तक जायेगा ही ! एक निर्दिष्ट मार्ग से जायेगा। यदि मार्ग मध्य में कोई बाधा रख दो, तब वह लोहा वहीं अटक जायेगा। वहाँ वह लोहा निरूपाय है। किन्तु कुछ शर्करा पड़ी हो, तब उसके सन्धान में पिपीलिका सीधे चलती जायेगी। उसके पथ में एक बाधा—अवरोध रखो। उस बाधा के पास पिपीलिका कुछ क्षण भले ही रुक जाये, किन्तु वह फिर से बाधा का लंघन करते हुए अपने गन्तव्य तक पहुँच जाती है। नाना दिशाओं में नाना सम्भावना (Possibilities, alternatives) के बीच हर एक को अपने कार्य में लग जाना चाहिये। यह प्राण व्यापार का एक विशेष धर्म है। दो पैसों के सिक्कों को उपर फेको। देखता हूँ उन दोनों का कौन सिरा (Head or tail) एक साथ उपर-आ रहा है। कुछ ही समय में यह अभिज्ञता होगी कि दोनों का एक ही सिरा एक ही ओर होने का कोई एक नियम नहीं है, तथापि अनेक बार दोनों का एक ही सिरा एक ओर हो जाता है। अन्ततः एक निर्दिष्ट अनुपात करने का मार्ग देखता हूँ। किंतु यदि यह चाहूँ कि प्रत्येक बार दोनों का एक ही सिरा उपर आये अथवा प्रत्येक तीन बार में अथवा पाँच या सात बार में एक ही सिरा एक साथ उपर आये, तब इन दोनों सिक्कों को गिरते समय हमें एक मंजूरी अथवा आदेश देना होगा। एक प्रकार से उन्हें प्राण प्रतिष्ठित करना होगा। वे ठीक लोहे के टुकड़े के समान नहीं रह जायेंगे। वे एक शर्करान्वेषी पिपीलिका के समान हो जायेंगे। भू धातु के अशेष रूप

से "न व्येति" अव्यय, ध्रुव, एक निरुपित रूप बाहर आना ही चाहिये। पिपीलिका शर्करा रेणु तो पायेगी ही। यह लक्ष्य के हिसाब से ध्रुव है। सीधा रास्ता हो, तब उचित ही है। मार्ग के नाना "हेरफेर", नाना कारण होने पर भी उसमें से एक अभीष्ट मार्ग प्राप्त होना ही है।

यद्यपि लोहे के टुकड़े की गति (चुम्बक की ओर) सीधी गति है, अर्थात् व्यवस्थित गति है, तथापि लक्ष्य की ओर वह पहुँचेगा, अथवा नहीं पहुँचेगा—यह व्यवस्थित नहीं है। उसके मार्ग में तुम एक बोर्ड खड़ा करके उसकी गति का रोध कर सकते हो। अब वह लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता ! जल के भीतर से बुद्बुद् उठता है, कुछ क्षण जंल के वक्षस्थल पर प्रतिभासित होते-होते हवा में गायब हो जाता है। एक मेढ़क भी जल में तैरता है। यहाँ दोनों के व्यवहार को देखो। लक्ष्य को ठीक करके पथ पर बढ़ते रहना ही सजीवता का लक्षण है।

भू धातु के अव्ययरूप भूः व्याहृति का प्रथम कर्म। अनियतवत् प्रतीक में नित्य सूत्र का आविष्कार करना। क्योंकि इस सूत्र के न मिलने पर नियंत्रण संभव नहीं है।

भू धातु के अशेष रूप के भीतर भूः अव्यय को व्याहृति का कर्म करने के लिये असाधारण कुशलता के साथ उस कर्म को करना पड़ता है। क्रिया का रूप तो केवली "ज्योति" ही है, ऐसा ही नहीं है। अनेक क्षेत्रों में यह क्षर भाव सातिशय चपल (whimsically Variable) है; अन्ततः ऐसा प्रतीत नहीं होता। व्याहृति का प्रथम कर्म होगा—इस चपलवत् प्रतीयमान क्रिया में एक सूत्र का आविष्कार करना। जैसे अनियत परिणति के स्थान पर Differentiate करके धारा True Rate of Variation (ऋतायन) बाहर करना। ऐसा न कर सकने पर उस गति का एक निर्भर योग्य वर्त्मलेख (Curve or picture) हमें हस्तगत नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में गति पर नियंत्रण भी साध्य नहीं हो सकेगा। नियंत्रण के पहले निमंत्रण, अर्थात् उसके स्वयं स्फुट होने पर उसे देखना और उससे "चरणों की धूल" देने के लिये कहना ! मधु-कैटभ ने भी युद्ध से सन्तुष्ट होकर यह वर दिया कि मैं तुम्हारे द्वारा मारा जाऊँ। अन्यथा उन्हें मारा ही नहीं जा सकता !

एक दृष्टान्त-ज्यामितिक

कल्पना करो कि एक बहुभुज क्षेत्र कहता है कि मैं वृत्त बनूँगा। वह भुज संख्या बढ़ाने अथवा घटाने लगा। यह सोचो कि बढ़ाना और कम करना भी अनियत है। यद्यपि इस प्रकार से घटाने ओर बढ़ाने से हठात् वृत्त बन जाना अत्यन्त कठिन होने पर भी असम्भव नहीं है, तथापि यह मानो अशेष को शेष करने की प्रतिज्ञा है ! यदि इस कर्म के सम्पादन का भार व्याहृति लेती है, तब उसे प्रथमतः क्या उपलब्धि करनी होगी ? उसे इस बहुभुज की भुजाओं के संकोच-विस्तार के एक

लेख (Graph) का अंकन करना होगा। तदनन्तर ? घटाने की ओर की स्थिति को नियंत्रित करके (मा भूः) विस्तृति की स्थिति भी रोक देना होगा। तदनन्तर अपने अभीष्ट अंकन के द्वारा उसकी चरम विस्तृति घटकर वृत्तरूपा हो जाये, यह व्यवस्था करना होगा।

क्रिया तथा व्यापारमात्र का एक मर्मी केन्द्र है। उसके न मिलने तक पूर्ण नियंत्रित नहीं हो सकता।

क्रिया चपल हो किंवा अचपल, उसका एक निर्घात "मर्मी" स्थान है, जहाँ वह अपने ऋत् को अनियतता, अनिश्चयता के क्रोड़ में अत्यन्त सन्तर्पणात्मक रूप से छिपाये रहती है, उसी प्रकार जैसे बच्चों की कथाओं वाली राक्षसी का प्राण जल के तल में स्थित किसी संगोपित कोटर वाले स्थान में संरक्षित रहता है। सर्वप्रथम उसे बाहर करना होगा। विज्ञान तत्व तथा तथ्य के क्षेत्र में अत्यन्त सजग और दृढ़ रहता है। इसका कारण यह है कि वह आपात-अनिश्चय-अनियत वृत्तिसमूह से निश्चयात्मक सूत्र को बाहर करने के लिए एक कुशल टेकनिक (Calculus) का आविष्कार कर सकने में बहुत पहले से ही समर्थ हो चुका है। वह केवल आविष्कार ही नहीं कर सका है, उसनें पुरस्कार की भी अद्भुद् सृष्टिकुशलता प्राप्त कर ली है।

हृद्‌रोग का दृष्टांत

मान लीजिये कि किसी का शरीर अस्वस्थ है। शरीर के स्पन्दन को परिष्कार पूर्वक देखा कि वह असंयत तथा लयरहित (irregular, unrhythmic) है। अभिज्ञ चिकित्सक कहेंगे कि मात्र 2-3 मिनट स्टेथेस्कोप लगाने से ही अवस्था का ज्ञान सम्यक् रूप से नहीं हो सकता। अतः Electro-cardiograph चाहिये। वक्षयंत्र की क्रिया की एक प्रतिकृति सामने आना चाहिये। उस यंत्र की क्रिया की किस दिशा में क्या प्रवणता (Trend) है, इसका ज्ञान साधारण रूप से नहीं—सम्यक् विधि से हो जाना संभव हो सका। अर्थात् आपात् दृष्टि में जो अनियत है, उसका भी एक नियामक सूत्र हस्तगत हो सका। Index, clue, Ratio मिला। अब इसी आधार पर Treament चिकित्सा होगी। गणस्वास्थ्य, जन शिक्षा, अर्थनैतिक संस्था, सबका वैज्ञानिक उपाय है, गतिस्थिति की ह्रास-वृद्धि का एक निर्भरयोग्य "अलेख्य" मिल जाना।

मान लीजिए कि हमारा जप अभ्यारोह जप होगा। उसका उपाय क्या है ? वर्तमान में जो जप चल रहा है, वह तो चल-चपल-चंचल है। कभी, कथंचित स्थिर है। कभी अत्यन्त अस्थिर है। कभी वह गर्त्त के मेढक के समान है, तो कभी वह वृक्ष पर कूदता बन्दर है। कभी अत्यन्त सतेज है, तो कभी मृतक जैसा निस्तेज ! कभी उसके द्वारा कुछ आलोक प्राप्त होता है, तो कभी वह यांत्रिक है, नाक, कान मलकर माला घुमाते-घुमाते मरे के ही समान है। इस नितान्त अनियत, 'अबाध्य'

जप क्रिया को लेकर क्या होगा ? क्या उपेक्षा का शब्द "धत्" कहते हुए हाथ की माला फेंक दोगे ? पूर्वोक्त दृष्टान्त के अनुसार वही Electro Cordiograph यहाँ भी आवश्यक है। अर्थात् हमें जपकर्म की गतिस्थिति का एक नक्शा मिलना चाहिए। अपने जप कर्म को अत्यन्त सावधानी पूर्वक, अथच उदासीनता से लक्ष्य करना होगा। साथ-साथ अभिज्ञ पुरुषों के द्वारा उसकी परीक्षा एक graph अंकित करके करानी ही होगी। "सावधान उदासी" होकर लक्ष्य करना होगा, जिससे क्रिया का अपना रूप उससे व्याहृत न हो। यथासम्भव detachedly Objectively यह करना ही होगा। जपकर्म सांग होने के उपरान्त उसकी एक "विश्वस्त विवरणी" बनाने की चेष्टा करना अत्यन्त उत्तम कार्य होगा। तदनन्तर इस उदासी साक्षी अथवा द्रष्टा केभीतर भी क्रमशः एक कैमरा हाथ में प्रत्यक्षीभूत होता है। "अनश्नन् अभिचाकशीति" रूप से जो एकान्त उदासीन साक्षीपुरुष हमारे इस पिप्पल वृक्ष की शाखा पर रहते हैं, वे आवश्यकतानुसार अपने किसी न किसी "डिप्टी" के द्वारा पूर्वोक्त उदासीन का कर्म सम्पन्न करवा लेते हैं। डिप्टी भी स्वयं तटस्थ है अर्थात् कभी भोक्ता कभी द्रष्टा। फिर भी भोक्ता का अंश जितना ही कम है, उतना ही अच्छा ! जो कुछ भी हो, इस डिप्टी द्वारा ही किसी न किसी प्रकार से काम चलाना ही होना। मान लो छवि (फोटो खींचने) से, यह विदित होता है कि जपक्रिया में अस्थिरता की छाप अधिक है, मन में रुक्षता, चांञ्चल्य है, शरीर में वायु-ज्वाला-अनिन्द्रा इत्यादि का प्रकोप है। यह सम्यक् रूप से जान लेना होगा कि किस प्रकार कौन अधिक है। एक ओर तमः दूसरी ओर सत्व है। इन दोनों के स्पर्श परिचय के साथ इन राजसिक लक्षण, चांचल्य, अनिद्रा प्रभृति के साथ राजसिक लक्षणों का अनुपात क्या है ? अर्थात् बाह्य अभ्यन्तर का Inside Outside का ग्राफ। अब वह ग्राफ अभिज्ञ व्यक्ति के समक्ष पेश हुआ। उन्होंने देखकर प्रश्न किया कि किसी किसी बीज का किस प्रकार जप किया गया ? (अन्य प्रश्नों में से यह भी एक प्रश्न है)। उत्तर मिला "ह्रीं, क्रीं श्रो" "र" कार अथवा अग्निमात्रा के उपर जोर देकर ही मैं जप करता हूँ।" उन्होंने व्यवस्था दिया कि सोममात्रा (अनुस्वार) पर जोर दो। जोर देने योग्य मात्रा का भी उनके द्वारा प्रदर्शन किया गया। इसी के साथ यह निर्देश दिया कि कुछ समय के पश्चात पुनः रिपोर्ट देना होगा। अतएव दृष्टान्त परिलक्षित होता है कि प्रथमतः आहूति, तदनन्तर व्याहृति। पहले निमंत्रण तत्पश्चात् नियन्त्रण। माँग-जाँच कर सब कुछ को अपने पास लाना ही होगा। अपना कहकर हम इस मामूली, सामान्य जपकर्म का अभ्यारोह जप करने में समर्थ हो सके की नहीं ? मानो यह सागरतल में से मानिक प्राप्त करने के समान परम साधन धन हो। तुम श्री श्री बद्रीनारायण के यात्री हो। तुम किस गति से रेल में बैठे-बैठे लछमन झूला पर्यन्त पहुचकर अब दुर्गम चढ़ाई उतराई के लिये अग्रगामी हो रहे हो ? इस कारिका पर विचार करो—

"अपि विरलकषाये विश्ववैरस्यजाड्यं
वद क उरुकषायो भासमृच्छेन्द्रसालाम् ।
भव मुदितकषायो मध्वृचा दोग्धुकामो
मधु-मिलित-सवित्रा घूक्ष्व रोचिश्च भर्गः ॥२॥'

"ऋतस्य पंथाय" जप को अभ्यारोही करने के लिये "कषाय" तनुकरण पंचक्रम से करो

कषाय (धातु का अप्रसाद) विरल (अथवा तनु) होने पर भी यह अपरूप विरस तथा जड़वत् बोध होता है । यदि ऐसा होता है, तब उरु (विपुल) कषाय रूप कौन (विश्व में ओतप्रोत) इस रसाल ज्योति में प्रदेश करेगा ? (जगस्म ज्योतिरविदामदेवान्) । यदि मध्वृचा अर्थात् मधुमती ऋक् के मन्त्रवर्ण समूह द्वारा समस्त "माध्वीधारा" का दोहन करने की इच्छा हो (दुहाना अमृतस्य धाराम्) तब सर्व प्रकार से यह यत्न करो कि कैसे मुदितकषाय हो सकना सम्भव है ? तदनन्तर यदि मधुमती एवं सावित्री को मिला सको (जैसे छान्दोग्य, बृहदारण्यक ने दिखलाया है) उस अवस्था में "रोचिः" तथा "भर्ग" इन दोनों का सम्मिलित रूप से दोहन करो । रोचि की रोचना एवं भर्ग की द्योतना सम्मिलित होना चाहिये । श्रेष्ठ (मधुमत्तम) तथा वरिष्ठ (वरेण्य) को एक होना चाहिये । उरुकषाय, तनुकषाय, अणुकषाय, मृदित कषाय, अथवा निष्कषाय अथवा निर्गलित (Eliminatad or Sublimated) कषाय रूपी उत्तरोत्तर धातुगत कषाय के जागरण, मारण, शोधन क्रम का अतिक्रमण किये बिना हम इस मामूली जपकर्म को एक छलांग में अभ्यारोही जप कैसे कर सकते हैं ।

कषाय का व्यक्त रूप 'आमय' । इसके निवारणार्थ आहुति एवं व्याहृति

बाह्य आन्तर समष्टि-व्यष्टि रूपी सर्वविध आमय के स्थान पर शाश्वत "पदं अनामयम्" की प्राप्ति का उपाय है आहुति एवं व्याहृति । पुनः भावना करो—

"तुदति यदि विकारो ह्यामयाज्जायमानो
व्रज निवसति वैद्यो यत्र छन्दोग्यशर्मा ।
स यदि विचिनुते ते छन्दसां मंत्रशुद्धि
भुजगमिव स वैरं शास्ति कृष्णाङ्घ्रि घृष्टम् ॥१३॥

हमारे आन्तर से जायमान जो विकार (वैरूप्य) है, वह यदि तुमको कष्ट दे रहा है (तुदति) तब यह निश्चित जानो कि अल्प, स्वल्प, क्षणिक उपसर्ग विशेष से उद्विग्न अथवा worried न होना ही उत्तम हैं । तब क्या करना चाहिये ? जहाँ वैद्य (चिकित्सक) का निवास है, वहाँ जाओ । वैद्य का जहाँ निवास है, उसे भी खोजकर

पा लिया है। वैद्य का नाम है छान्दोग्य शर्म्मा ! इनका विशेष परिचय उनके साथ वार्तालाप तथा उनके आचरण से प्राप्त हो सकेगा।

यदि मान लो कि ऐसा करके उन्हें न पहचान सको। उस अवस्था में यह स्मरण रक्खो कि वे ही हैं सर्वश्रुति शिरोरत्न समुद्भाषित मूर्त्ति साक्षात् वेदान्ताम्बुज भास्कर श्रीगुरु ! छान्दोग्य (छन्दोग) एवं शर्म्मन शब्द का चिन्तन करो ! वे क्या क्या करते हैं ? तुम्हारे विकार वैरूप्य ने जिन समस्त परस्पर संघर्षी (विवादी) छन्द के जाटिल्य का सृजन किया है, उनमें से मैत्रभाक् (अनुकूल, Helpful Friendly) छन्दों को वे पृथक कर देते हैं। (विचिनुते)। परिणामतः वे जाटिल्य से मुक्त हो जाते हैं। उनका जो वैर अथवा वैरूप्य जनक प्रतिकूल भाव है, उसका शासन एवं दमन करते हैं (शास्ति)। कैसे करते हैं ? जैसे साक्षात् छन्दकुशल श्रीकृष्ण के चरणों द्वारा दमित फणों वाला कालीयनाग शासित हो रहा है।

कषाय तथा आमय का और विशिष्टरूप स्मर अथवा काम उसके प्रतिषेधार्थ स्मरपंचकम्

कषाय तथा आमय रूप से जिसे जाना, उसे और स्पष्टरूप से जानो—स्मर, काम। इस पाँच कारिकाओं (स्मरपंचक) का स्मरण करो—

स्मरविदहनदग्धो न स्मरेत् किं त्रिनेत्रं
स्मरगरलविशीर्णो न स्मरेन् नीलकंठम्।
स्मरखरशरविद्धो न स्मरेत् किं किरातं
स्मरविमथितचित्तो न स्मरेन् मन्मथेशम्
स्मरविदहनशान्त्यायर्कमध्यस्थिताजं
स्मरविशरणशान्त्यै पुण्डरीकाक्षलास्यम्।
स्मरविधुवनशान्त्या अच्युताधोक्षजौकः
स्मर विमथनशान्त्यै मन्मथं मन्मथस्य॥
स्मर भयमुरु जेतुं चण्डिकाध्यानमन्त्रे
स्मर तनुवितती वा रक्तबीजस्य हन्त्रीम्।
स्मर दित निजामस्तां चात्मना वैप्रतीप्ये।
स्मरनिचय निवृत्यै सुन्दरीसौम्यकान्तिम्॥
स्मरगररिपु गायत् कामदेवस्य मंत्रं
स्मरमखचिरतृप्त्यै हूयतां कामसूक्तैः।
स्मर रजसि विशाले वाग्भवञ्चापि तारं
स्मर रजसि विधूते ज्योतिरस्मीति शुक्लम्॥
स्मर मनसिजलेशं शान्त आत्मन्यपान्तं
स्मर विरसविपाके यो रसो वै सभूमा।

स्मर विरहितसंगे ब्रह्मणि स्यादसंगः
स्मर विधुनितशोक सर्वमेवेदमात्मा ।।१४—१८।।

हे स्मरदहनदग्ध ! तुम शिवमन्त्री हो, क्या तुम्हारे लिये यह स्मरण करना उचित नहीं है कि इन्हीं त्रिनेत्र महादेव ने अपनी परम भास्वर भालवन्हि के द्वारा दुर्निवार मदन को भस्मीभूत किया था ? हे स्मरगरल विशीर्ण सत्व ! क्या तुम स्मरण नहीं करोगे उन सोमार्द्धधारी नीलकण्ठ को, जिन्होंने समुद्र मन्थन से उद्भूत कालकूट को अवलीलाक्रम से स्वयं कण्ठ में धारण करते हुये, देवगण को अमृतभागी बनाया था ? हे कन्दर्पखरशरविद्ध ! तुम क्या स्मरण नहीं करोगे उन किरातवेशधारी महादेव को जिनके अंगों को अर्जुन के धनुष द्वारा निःक्षिप्त कोई भी तीर विद्ध कर सकने में समर्थ नहीं हो सका था ? हे स्मरविमथितचित्त ! तुम क्या उन्हें स्मरण नहीं करोगे, जो स्वयं उन्मनी योग में स्थिर रहकर मन्मथ के नाथ, प्रभु तथा स्वामी हैं। ।।१४।।

क्या तुम विष्णुमन्त्री हो ? अच्छा तब ऐसी भावना करो। स्मरविदहनज्वाला शान्ति के लिए प्रदीप्त अर्कमण्डलस्थ जो अज (पद्म) है, उस परमस्निग्ध कमल का स्मरण करो। अर्थात् सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती सरसिजासन नारायण मूर्ति का स्मरण करो। और जो तुम स्मरगणों के द्वारा निरन्तर विशीर्ण हो रहे हो, उसकी शास्ति के लिये पुण्डरीकाक्ष श्री हरि के लास्य अथवा वेणुवादन एवं नुपुरशिंजन के साथ हो रहे अपरूप संजीवन विमोहन नृत्य का (जैसे कालीयनाग के विस्तृत फणों पर नाच रहे श्रीकृष्ण के नृत्य का) स्मरण करो। कन्दर्प शर से विद्ध जर्जर एवं कम्पायमान हो रहा हूँ। इसकी शास्ति के लिये जो अत्युच्च हैं, अधोक्षज हैं, उनके ओकः, अव्यय अनपाय धाम का स्मरण करो। और जो स्मर तुमको प्रतिनियत रुप से विमोहित करता आ रहा है, उसकी शास्ति के लिये साक्षात् मन्मथ के मन्मथ (मदनमोहन) का स्मरण करो। ।।१५।।

क्या तुम शाक्तमन्त्री हो ? स्मरजनित विपुल भय को जीतने के लिये सुधाब्धिमध्यस्थिता, धृतमुद्गर वैरिजिह्वा श्री श्री चण्डिका का ध्यान करो और उनके मन्त्र [नवार्णादि] का जप करो। यदि इस समय स्मर उरुरुपेण प्रकटित न होकर सूक्ष्मरूपी भयाल विस्तार को प्राप्त हो रहा है और रक्तबीज के समान क्रमवर्द्धित होता जा रहा है, तब रक्तबीज का हनन करने वाली प्रकटितरसना उन कालिका देवी का ध्यानजप करो। तुम्हारी आत्मरति विप्रतीप है। विपरीत होकर अनात्म वस्तु में कामोत्पादन कर रही है, यह जानो। जो दितनिजमस्ता हैं, जिन्होंने अपना मस्तक स्वयं छिन्न किया है, जो अपना रुधिर स्वयं पान करती हैं, उन छिन्नमस्ता का स्मरण करो, और स्मर जनित समस्त उपद्रवों की निवृत्ति के लिये भी श्री त्रिपुर सुन्दरी देवी अथवा श्री श्री दुर्गा की चिद्गगन चन्द्रोपम सौम्यकान्ति का स्मरण करो।।१६।।

यदि तुम मंत्री (मंत्र जाप करने वाले) हो, उस स्थिति में तो स्मरङ्गर (विष) तुम्हारे दुरासद वैरी के रूप में प्रकट हुआ, किन्तु इस वैरी रिपु का भी रिपु है। Antidote है। यह स्मरण करो। वह (अर्थात् इस विष के लिए अमृत) क्या है ? वह है कामदेव (श्री कृष्ण) का मंत्र गायत्री। उसका ध्यान जप करो। इस काम यज्ञ में बराबर आहुति दे रहे हैं, परन्तु तर्पण कभी भी नहीं हो रहा है, इसके लिये क्या उपाय है ? अथर्व वेदोक्त प्रसिद्ध कामसूक्त के द्वारा अन्तर्हवन करो, उससे चिर तर्पण होगा। वह सूक्त साक्षात् ब्रह्मावबोधक है। यदि तुम्हारी दशा रजोविशाला है, तब वाग्भव बीज (ऐं) तथा तार (ॐकार) का ध्यान एवं जप के रूप में आश्रय लो। जब रजः विधूत (अपसारित प्रायः) हो, तब "अहं ज्योतिरस्मि शुक्लम्" रूपी परम निरंजन अनुभूति में स्थितिलाभ का यत्न करो। यही है वास्तविक विरजा होम ॥१७॥

विचार करो मनसिज (काम) "शान्त आत्मनि" रूप में अपना लेशमात्र न रखकर क्या अपास्त नहीं होता ? यह भी स्मरण रक्खो कि काम जनित जो कुछ तुम्हारा विरस विपाक है, उसका चिन्हमात्र कहाँ रहेगा जब "यो वै रसः स भूमा" इस सीमाहीन अगाध रस सिन्धु में तुम्हारे चिर अतृप्त रसलिप्सु मन विन्दु का समर्पण होगा एवं समाप्ति हो जायेगी ! इस परम साधना के उपाय रूप में गीता के "आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठम्" का भावपूर्ण आश्रय लो।

अनित्य संग की विरह वेदना से विधुर हो रहे तुम क्या यह मानोगे कि साक्षात् ब्रह्मस्वरूप तो असंङ्ग है, अर्थात् अनित्य—अनात्म सम्पर्क रहित है ?

और जो अवान्तर अनात्मप्रिय हैं, उनके द्वारा विधूनित (परित्यक्त) होकर तुम शोक मग्न होकर यह भूल गये हो कि "आत्मैवेदं सर्वम्" आत्मा सब कुछ में है। वह सब कुछ है। इसी कारण सब कुछ प्रियतम है। सब कुछ से रसास्वादन हो रहा है ! आत्मा से वास्तविक संयोग-वियोग नहीं होता। आत्मा का हान-उपादान नहीं है। अतः तुम निरतिशय श्रेष्ठरूप हो, स्वमहिमा में स्थित होही। अतएव शोक किसलिये ? "तरति शोकमात्मवित्"। इसी उद्देश्य से नित्य उर्ध्वरेता श्री सनत्कुमार और नारद आदि ज्ञान भक्ति सम्प्रदाय प्रवर्त्तक गुरुवर्ग का प्रारम्भ में स्मरण करो।

स्मरपंचक के अन्तर्हवन में छंद : पंचक किस रूप में उदाहृत है। विचयीकरण एवं निचयीकरण

Analytic isolation and Synthetic Sublimation

हम ऋतछन्द के जिन पंचपर्वों की आलोचना में प्रवृत्त हैं, वह पंचपर्व पूर्व कथित स्मरपंचक में उदाहृत हुआ है, यह याद रक्खो। चतुर्थश्लोक महासमन्वयी है और अन्तिम श्लोक परमसमन्वयी रूप से विशेषभाव से अनुधावन करने योग्य है।

प्रथम श्लोक में मिलित रूप से परिणयी, अन्वयी एवं समन्वयी रूप अभीप्सित हुआ है। और भी लक्ष्य करने योग्य तथ्य यह है कि प्रथम तीन श्लोकों में (शिव विष्णु, शक्ति मंत्र) प्रत्येक श्लोक के प्रथम तीन पाद में स्मर एवं विचयीकरण (Differentiation) का प्रदर्शन किया गया है। चतुर्थ पाद में निचयीकरण (Integration) का और उन-उन अवस्थाओं में उनका वर्णन और वर्जन-मार्जन और शोधन बोधन रूपी उपाय प्रदर्शित हुआ है। साधना में पहले विचयीकरण आवश्यक है। जितना भी सूक्ष्मभाव से सम्भव है, उतना analytic Seperation एवं isolation होना चाहिये। अरिमित्र-सबको एक साथ मिलाकर रखना मुश्किल है। तदनन्तर आवश्यक है शोधन-बोधन (Purification and Sublimation) स्मर अथवा काम एक Elemental poison है। केवल Poison नहीं है Function है। केवल यही नहीं, वह है Primal Energy, ब्रह्म स्वयं तथा "अकामयत्"। "न वै स रेमे"। मूल में यही शक्ति है।

यही है आद्य शक्ति की एक अयोनिजा मूर्ति ! इसका नाश नहीं किया जा सकता। और नाश करेगा भी कौन ? काम रूप प्रथम स्पन्द ब्रह्माकाश में उदित होता है। इसी में लीन भी हो जाता है। महादेव को भी भस्मीभूत काम को जिलाना पड़ा था ! अन्यथा सृष्टि ही स्तंभित हो जाती। अतएव आद्यशक्ति का "बोधन" कराने के लिये साधक को समस्त प्रयत्न करते रहना चाहिये।

Repression, उससे मुक्ति। सम्पूर्ण मुक्ति। यह कैसे प्राप्त हो ?

केवल काम का Repression अथवा Fixation सम्भव होता है। फलस्वरूप जीवन में जभी-कभी भय अन्तर में अतर्किक Fission उत्पन्न करते हुये सब उलट-पलट कर देता है ! Fission होता है Violent (उग्र) ! यदि ऐसा नहीं होता Slow Insidious (धीमा-सूक्ष्म) होने में तो कोई बाधा नहीं रहती ! इसमें अधिक विपत्ति है। इन सब स्मर पंचक को विशेष रूप से लक्ष्य करो। विशेष विचार करते हुये धीरभाव से उपाय का आश्रय लो। भूतत्वविद् को अग्निजनित उत्पात, भूकम्प आदि के निदानार्थ जिस गम्भीर अन्तर्दृष्टि को लगाना पड़ता है, तुमको भी वैसा ही करना होगा।

क्योंकि तुम्हारी समग्रसत्ता के केन्द्र स्थल को घेर कर यह विरंसा अथवा कामरूपी Primal Energy स्थित है। उस पर भी अनेक "कुछ" का दबाव भी पड़ता रहता है। दबाव पड़ने पर भी वह उद्दाम, प्रभावी तथा बलवान है। तुम्हारे आन्तर स्तर में भी सौषम्य, सौष्ठव का नितान्त अभाव विद्यमान है। Fault का प्राचुर्य है। अतः अन्दर निरुद्ध शक्तियाँ चापसमन्वय एवं तापसमन्वय कर्म में परिणयी एवं अन्वयी ऋतच्छन्द को खोज ही नहीं पातीं ! ऐसी स्थिति में वे समन्वयी

ऋत:च्छंद को कैसे खोज सकेंगी ! समाज, नीति तथा धर्म के अनुशासन द्वारा जब कभी अन्तर्विप्लव की सम्भावना को संकुचित करने की चेष्टा भले ही की जाती हो, विप्लवी शक्तियों का एक-एक देवमार्ग भी भले ही प्रदर्शित किया जाता हो, किन्तु सभी समय और संकट के समय क्या मिलेगा ? उपाय ? मित्र तथा ऋतछन्द के पंच पर्वों का अधिरोहण किंवा अभ्यारोहण शेष करना ही होगा । एक दो सिढ़ी चढ़कर रुक जाने से नही चलेगा । उसमें प्रभावी प्रतिक्रिया का भय है ।

योनि पंचक में छन्दः पंचक का सर्वथा समर्पण

इस बार स्मर तर्पण के पीठरूप में जो योनि है, उसकी इस प्रकार से भावना करो :—

"अपि निखिलसृजां याऽयोनिजा ब्रह्मयोनिः
प्रभुरपि सहसां यो यामृते स्पन्दते न ।
स्वयमिह रमणो वा यामृते नैव रेमे
प्रणय रतिकलाद्ये चाम्बिकां गुह्ययोनौ ॥१९॥

वे स्वयं अयोनिजा (कारण रहिता) ब्रह्मयोनि हैं । अर्थात् ब्रह्म भी विश्व-योनि रूप वे ही हैं । ब्रह्म का वांगमय रूपी जो वेद हैं, वह भी वे ही हैं । अत: वाक् रूप से अथवा प्रजापत्यादि रूप से जो निखिल विस्तार की सावित्री अथवा सविता हैं, उनकी भी योनि वे ही हैं । इस प्रकार उनके आद्या एवं अम्बा रूपी रूपद्वय कहे जाते है । निखिल बल एवं शक्ति के जो प्रभु, स्वामी हैं (सहसाँ), वे भी उनको छोड़कर (तद्व्यतीत) हिलडुल भी नहीं सकते । (उनमें स्पन्दन रूप से जगद्योनित्व की संभावना ही नहीं रहती) अथच यह प्रतीत होता है कि वे ही सब कुछ कर रही हैं । उनके असीम, अकुण्ठित ज्ञान-बल क्रिया की पृष्ठभूमि में उनका स्वभाव (स्वो भावः) तो है ही ! इसीलिये श्रुति ने वहाँ स्वभाविकी शब्द को स्थापित किया है । अथच, यह स्वभाव अचिन्त्य, अलक्षण है, निर्वचन योग्य नहीं है । अतः गुह्य है । यह कहने पर गुहा एवं योनि, यह दो रूप उपलब्ध होने लगते हैं ।

अन्त में वे इस विश्व भुवन की स्वयं "रमण" हैं । वे भी उसे छोड़कर रमण नहीं करतीं "नैव रेमे" । यह भी विशेष रूप से विचार कर देखो । यह कहने पर काम (रति) कला एवं आद्यकला, योनि रूपी अभिव्यक्ति द्वय का ज्ञान होता है । अतएव आद्यकला, अम्बाकला, गुह्यकला, योनि अथवा प्रकृति कला तथा कामकला-इस पंचमहाकला रूपिणी "योनिपीठ" को प्रणाम करो । स्मरगरजयी जो परमस-मन्वयी छन्दः है, उसमें अधिरूढ़ होकर परमज्योतिरस विश्रान्ति का लाभ करो ।

ब्रह्मलिंग पंचपात्-आकाश अथवा वियत् लिंग-अव्यक्त अथवा स्पन्दलिंग, तैजस लिंग सलिल लिंग और पार्थिव लिंग

"आकाशस्तल्लिङ्गाद् या श्रुतिषु निदमिता कीदृगी लिगता सा
यस्मिंल्लिङ्गानि जोषं जहति निजभवान् कीदृशं तद् ह्ययलिङ्गम् ।
क्ष्मामूर्तं वाप्यमूर्त्तं जिगमिषति गवां रेतसा चात्मगौरी
मिस्ताराद् गन्तृलक्ष्ये लयमपिच गतिं पञ्चपाद् ब्रह्मलिङ्गम् ॥२०॥

योनित्व की आद्यादि पंचकलारूप से भावना करके लिंग तत्व के अनुरूप भावना करो। इस युग्मभावना के द्वारा ही काम अथवा स्मर के जिस निचयीकरण का उल्लेख किया है (Integral transformation or Sublimation), वह सुसाध्य हो जायेगा। स्वल्प परिच्छिन्न, भासमान, प्लवमान दृष्टि से तो पूर्वोक्त संकटत्रय हैं। इसके स्थान पर ब्रह्मदृष्टि, सर्वानुस्यूत, सर्वभावन दृष्टि का उदय होने पर वास्तविक संकटत्राण होगा। स्वल्प, अनात्म परिचय और कृपणकुंठित प्रयोग में जो विष हैं, जो भय है, जो बन्धन है, वहीं असीम, अकुण्ठ तादात्म्य अनुभव में अमृत और अभय मूर्ति है !

इस बार उपर की कारिका का चिन्तन करो। "ब्रह्मलिंग पञ्चपात्" अर्थात् सर्वदा लिंगरहित जो ब्रह्मत्व है, वह स्वयं ही लिंगरूप हुआ है और फिर वही लिंग पञ्चपाद रूप हो जाता है। "आकास्तल्लिङ्गात्" इस ब्रह्मसूत्र द्वारा छांदोग्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध आकाश (आ, समन्तात् 'काशते') निरूपित हुआ है, वह तो "परोवरीयता" की काष्ठा तथा गतिरुप से साक्षात् अलिंग ब्रह्म ही है। उसने मानों आकाशरुप से (समन्तात् व्याप्ति, विश्वावीरुप से) प्रथम लिंगता का वरण किया है। किन्तु कौन विचार द्वारा निरूपण करेगा कि अलिंग की यह लिंगता कैसी है। तत्पश्चात् इस आदिम लिंगाकाश में जो आदि शब्द अथवा गतिरूपी लिंगता है, उसे अव्यक्त अथवा प्रधान की आख्या दिया जा सकता है। यह है नित्यपरिणामी (सदृश रूप से अथवा असदृशरूप से)। इस अव्यक्त नामक द्वितीय लिंग को वायव लिंग भी कहा जा सकता है। इसके पश्चात् तैजस अथवा आग्नेय लिंग है। "जिगमिषति गवाँ रेतसा चात्मगौरी"। गो शब्द ही यहाँ पर वाक् है। जो वाक् समूह का रेतः (ओज अथवा सार है) है, वही है स्वरं-नाद। यह सभी वाक् में (उसके अर्थ एवं प्रत्यय में भी) रेतः तथा विन्दुशक्ति रूप से प्रविष्ट रहता है। "आत्मगौरी" अर्थात् अपनी बीजाधान की जो योनि, जो वाक् है, उसमें। गौरी एक रहस्यमय शब्द संकेत है। गोः+ई=गौरी। गो शब्द से स्त्री अथवा बीजाधान की योनि समझना चाहिये। ई कार की विशेष आकृति भी चिन्तनीय है। शिवलिंग के गौरी-पट्ट तत्व को समझने का प्रयत्न करो। मानो प्रणव। अ उ म ये तीन मात्रायें स्वयं

नाद विन्दु रुप से (अर्धमात्रारुप से) जब तक अनुग्रह नहीं करतीं, तबतक कलन पूर्णता घटित नहीं हो सकती ! अ उ म रुप से कला = अंशकला। अ, उ, म, नाद, विन्दु = पूर्णकला। तदनन्तर कलातीत। अन्त में दो लिंग — सलिल-अन्तः अथवा लीन प्राणलिंग तथा क्ष्मा अथवा पार्थिव (अन्न + अन्नाद) लिंग। लिंग संज्ञा का विश्लेषण करने पर दोनों का सन्धान मिल जाता है। ल = क्ष्मा बीज भी है और गन्ता (इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि) भी है। ल और ग का संयोजक, सहग क्या है ? वह इकार ही संयोजक है। यह विशेषरुप से प्राणन की आकृति है। अतएव एक मुख्य प्राण का ही यह द्विविध लिंगत्व है। एक ओर है लक्ष्य (विषय अथवा अन्न) एवं उनका लयरुप और दूसरी ओर है गन्ता और गतिरुप ! यह तत्व और भी विशद रुप से कहा जायेगा।

कषाय, आमय एवं आशय (योनिलिंग) इन तीन स्थलों में छंद का क्रम दिखलाकर अब प्रयोग का प्रदर्शन। प्रथम-परिणाम— दक्षिण आचार।

"मिथुन परिणयी यो दक्षिणाचारमेति
न मिथुनमनुगच्छन् वैपरित्येन वामः।
न भवति यदि कौलो द्वन्द्वमन्वित्य सम्यग्
वद मिथुनमतीत्या द्वैतशान्तः किमाख्यः ॥२१॥
स शुभपरिणयी यः सुष्ठु युंङ्क्ते वियुक्ते
कृतिरतिमतिवृत्ते दक्षिणो जापकः सः।
अरिरपि यदि मित्रं कौशलेनास्य वामः
स यदि वद किमाख्यः कौशल श्चोत्तितीर्षुः ॥२२॥

मान लो कि दो के बीच विवाद परिलक्षित हो रहा है, तथापि विरोध एकांतिक नहीं है। यहाँ यदि इनके विरोध में भी किसी आंशिक मिलन का सूत्र तथा छन्द आविष्कृत हो सके और उनके परिणय अथवा मिथुन भाव को प्राप्त किया जा सके, तब अभीष्ट सिद्धि का एक पथ प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार से विरोध का आंशिक परिहार करते हुए दोनों को एक लक्ष्याभिमुखी एवं सहक्रिय करने की पद्धति को दक्षिणाचार कहा गया (Rightist way)। यह साधारण लक्षण है। यह लक्षण केवल तान्त्रिक साधन विशेष के क्षेत्र में ही प्रयोज्य नहीं है। मान लो दो शक्तियाँ परस्पर विरोधी हैं, और एक दूसरे से विपरीत दिशा में कार्य करती हैं। ऐसी स्थिति में दोनों का परिणय कर सकना अत्यन्त दुर्घट कृत्य सा है। जब तक एक दूसरे को पूर्णतः विजित नहीं कर लेता, अभिभूत नहीं कर लेता, तब तक अन्य कोई भी उपाय प्रतीत नहीं होता। अब यदि इनमें से एक अन्य के साथ कोणिक

सम्बन्ध युक्त होकर क्रिया कर रहा है, जैसे एक नदी के उपर नौका चालन के लिए दोनों किनारों पर से रस्सी द्वारा खीचा जा रहा है। (एक ओर से रस्सी खींची जा रही है, दूसरी ओर के किनारे से रस्सी को ढीला जा रहा है, ताकि वह सीधे पथ से न भटके) यहाँ शक्तिद्वय का परिणय सम्भव है। इस स्थल पर नौका भी बीच का एक पथ लेकर गन्तव्य पर्यन्त पहुँच जाती है। कल्पना करो कि एक ऐसी स्थिति है जिसमें जपाक्षर में मन देने पर यह विचार उत्थित होता है कि जपाक्षर पर केन्द्रित होना चाहिये अथवा इष्टमूर्ति का ध्यान किया जाये ? यहाँ पर वैकल्पिकी वृत्ति है। अतएव साधना में मन:संयोग नहीं होता, चंचलता (oscillation) आने लगती है। अब क्या किया जाये ? किसी को भी—एकबारगी छोड़ा नहीं जाता अथवा छोड़ने में सफलता नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में परिणय, मिलन करना ही होगा। जैसे जप कर्म के प्रारम्भ में न्यास के द्वारा जापक अपने यंत्र में इष्ट मंत्रमय भावना करते हैं, उसी प्रकार जपकाल में इष्टमूर्ति की इष्टमंत्रमयी भावना क्यों न करे ? बैखरी जप में यह भावना होती है, भावन नहीं होता। अर्थात् नाम-नामी का अभेद एकान्तिक रूप से उद्घाटित नहीं होता।

तथापि भावना ही करे ! यहाँ पर केवल भावना का उपक्रम एवं अनुक्रम दिखलाया जा रहा है। भूरादि सप्त व्याहृति के द्वारा इसी उपक्रम से परिपूर्ण भावना रूप परिग्रह करना है। यह हम क्रमश: देखेंगे। जप को श्वास कर्म के साथ मिलाने पर जप बीज की अग्निमात्रा तथा सोम मात्रा को किस प्रकार से तुष्ट किया जाये, यह सब समस्या परिलक्षित होती है। क्योंकि आभ्यन्तरीण संस्कार भूमि में (Potential field में) ऐसी लहरों का उमड़ना चलता रहता है। अत: परिणय (मिलन) संघटन की आवश्यकता है। इन सभी स्थलों पर जिनका पारस्परिक संघात (Co-incidence) हो रहा है, उनके संघात कोण (Angle of incidence) को बदल कर, संघात फल (Resultant) को 'अभीष्ट' (Toward or as desired) करना होगा। कोण = विरोधी भावभाव में भी कथंचित संयोग आदि सम्बन्ध की अकांक्षा।

'वाम' शब्द की मुख्य व्यंजना 'तेनैव विषखण्डेन भिषग्, वारयेत् रुजम्,

यदि उनके पारस्परिक कोणों को इतना परिवर्त्तित कर सकें, जिसके कारण उनका घुमाव (चालन) एकबारगी बदल जाये और इसके फलस्वरूप प्रतिकूल अथवा अरि भी मित्र होने लगें, तब यह कह सकते हैं कि अब विष भी कार्यत: अमृतवत् कार्य करने लगा है। यह 'वैपरीत्य' करण ही वाम की आख्या से युक्त है। जैसे कुनाईन ज्वरघ्न है, किन्तु उसकी प्रचुर अपक्रिया भी है। अन्य औषधियों के द्वारा उसकी अपक्रियाओं को दूर करके उसका व्यवहार ज्वरकाल में किया जाता है।

इस परिणय को दक्षिणाचार कहते हैं। एतद्विपरीत स्ट्रिकनीन अथवा हाईड्रोसियानिक ऐसिड अल्पमात्रा में भी तीव्र विष है। मात्रा के अनुकरणादि से (जैसे होमियोपैथी में होता है) उसे साक्षात् संजीवनीरूप में काम में लाया जाता है। मंत्र-तंत्रादि के द्वारा अत्यन्त प्रतिकूल (जैसे काम क्रोधादि के प्रचण्ड संस्कार) को भी अनुकूल करने का कौशल सब कोई आयत्त नहीं कर सकते। अतएव यह (वामाचार) सर्व-क्षेत्र में वीरों का साधन है। इसमें प्रतिपक्षीय भावना के द्वारा विपक्ष को भी अपने अनुकूल (सपक्षी) कर लिया जाता है। इसका दृष्टान्त सर्वत्र प्राप्त होता है। व्यवहार क्षेत्र में रसायन विज्ञान सर्वदा इस प्रकार के "अघटनघटन" में व्यापृत रहता है। वर्त्तमान चिकित्सा विज्ञान में Synthetic Poision तथा Anti-biotic की स्थितियों का चिन्तन करो। यह सब वामाचार है। "Leftist way" कहना क्या उचित होगा? अथवा इसे Reversionist कहें? समाज, अर्थनीति इत्यादि क्षेत्रों में यही आचार प्रयुक्त होता है। इसे दक्षिणाचारीगण भले ही अना-चार कहते रहें।

परिणयी तथा अन्वयी का सम्बंध भुवनाकृति तथा "तल" द्वारा समझने की चेष्टा।

परिणयी तथा अन्वयी भेदों की प्रकारान्तर से चिन्तना करो। सृष्टि के सब कुछ में भुवनाकृति (cosmic Pattern) विद्यमान रहती है। अणु-विराट, भाण्ड-ब्रह्माण्ड में इसी कारण आकृति-प्रकृतिगत समानता निहित रहती है। इस तत्व को जपसूत्र में विशदरूप से विवेचित किया जायेगा। अब देखो—आर्य विज्ञान में भुवन के साथ चतुर्दश संख्या संयुक्त रहती है। इस संख्या की द्योतना यह है कि चाहे कोई भी बाह्य अथवा आन्तर सामग्री क्यों न हो, (उसमें भले ही स्थूल व्यक्तरूप से न हो) उसमें सूक्ष्म रूप से १४ स्तर (Planes) विन्यस्त रहते हैं। इन्हें साधारण भाषा में "तल" कहा जा सकता है। यदि किसी सूत्र के माध्यम से इस तलसमूह के उर्ध्व एवं अध: का पार्थक्य किसी नियमानुसार (Principle or reference) पकड़ा जा सके, तब हम उर्ध्व, स्तर एवं अध: स्तरों की उपलब्धि करते हैं। उर्ध्व सात स्तरों को हम तल न कहकर लोक कहते हैं। इससे ऊपर एवं नीचे, उर्ध्व-अध: स्पष्ट हो जाता है। सामान्यत: कहा जा सकता है कि उर्ध्व लोकों को उन्मेष-विकास (unfolding) की भूमि कह सकते हैं। नीचे की अध: स्थिति (७ स्तर) को संकोचमय भूमि (enfolding) कहा जाता है। इन दोनों को समझने के लिये Emergence तथा Submergence शब्द ठीक ही हैं। अब विचार करके देखो कि किसी एक निर्दिष्ट तल अथवा भूमि में क एवं ख का पारस्परिक सम्बन्ध शत्रुता (अरि) का है। जैसे कामवश्यता वाले साधक के लिये काम। एक ही तल में साधक एवं विषय की अवस्थिति रहती है। यथासम्भव इन्द्रिय निग्रह के द्वारा परि-

णयी छन्द को पाना होगा। निग्रह तो 'नितरां ग्रहः' होकर व्यक्त नहीं होता। अतः संयम का बाँध टूटने की संभावना पग-पग पर रह जाती है, तथापि समग्र कार्य-कारण (Reactive Angle) को बदलने तक वैधमार्ग पर निष्ठापूर्वक स्थित रहना होगा। जिस गुण के द्वारा यह परिणय सम्यक् रूप से सम्पादित होता है, उसे दक्षता कहते हैं। जो दक्ष है, उसे दक्षिण एवं उसके आचार को दक्षिणाचार कहते हैं। यह सत्य है कि इन सब संज्ञाओं को वर्त्तमान स्थल पर सामान्य रूप से ही संकेतित किया गया है। यथास्थान पर दक्ष, दक्षिण, वाम आदि का लक्षण वर्णित होगा।

तल से तलान्तर की गति में रूपान्तरीकरण। व्याहृत्तित्रय का स्व-स्व व्याहरण। विश्व का छन्दः तथा विश्वनाथ का छन्दः।

एक निर्दिष्ट तल में जो प्रतिकूल अथवा अरि (विष) है, (With respect of another frame of reference), वह तलान्तर में प्रतिकूल नहीं भी हो सकता है। यहाँ तक कि वह अनुकूल, मित्र (अमृत) भी हो सकता है। सब कुछ के बीच, सब कुछ (उनकी आकृति तथा संभावना) सम्पुटित रहता है। यदि यह धारणा कर सकने की युक्ति है, तब विष एवं अमृत भी सब कुछ में सम्पुटित रहता है। देवासुर द्वारा समुद्रमन्थन कर्म का मूल तत्व भी यहाँ है। समस्त वर्णों की सर्वाभिव्यंजिका स्वीकृत न हो, ऐसा नहीं है। कहां कौन वर्ण किस स्थल पर कौन सी आकृति आदि अभिव्यक्त करेगा, वह मुख्यतः आशय + आग्रह + आहुति रूपी त्रिपुटी की विशेष आकृति पर निर्भर करता है। अर्थात् स्वः + भुवः + भूः इन व्याहृति त्रय पर निर्भर करता है। उस स्थान पर वहां समस्त कुछ शयान रहता है (आशेरते), किन्तु इस रूप से सब कुछ का आहरण घटित नहीं होता। अर्थात् भू अथवा "यह" रूप से एक विशेष आकार-प्रकार में वह आहृत हो रहा है। क्यों ? बीच में "कुछ एक" (जिसे यह अथवा वह, कुछ भी नहीं कहा जा सकता) सविशेष संस्थान संघटक (Medium of effectual relevancy) रूप से कर्म में स्थित रहता है। इसे आग्रह, आकांक्षा इत्यादि संज्ञा दी जा सकती है। यह सब कुछ में अनुप्रविष्ट है। सब कुछ का संस्थान स्थापक भुवः है। जैसे गणित में General Equation of the Second Degree के अन्तर्गत् Terms प्रभृति को एक-एक विशिष्ट सम्पर्क के माध्यम से हम कह सकते हैं। यह क्या द्योतन करेगा ? Circle या Ellipse अथवा Parabla, Hyperbola इत्यादि का द्योतन करेगा ? आग्रह अथवा आकांक्षा को देखना होगा। तभी तो साधक के आग्रह पर इतना जोर देना होता है। अणु अथवा विराट्, सभी के भण्डार में मुक्त विस्तार की स्थिति रहती है। अब यहाँ यह प्रश्न उत्थित होता है कि तुम उसका कार्यतः कितना उपयोग करोगे, तुम्हारे सम्बन्ध में उसकी Effectual Availability कितनी है ? सागर में तो जल का कोई नाप-जोख नहीं है। तुम कितना सागर जल अपने काम

में ला सकोगे ? एक घटी जल भर लाओ, परन्तु उससे क्या मिलेगा, वह तो पीने योग्य नहीं है। श्रावण मेघ की जलधारा को पाना चाहते हो ! उसे प्रचुर रूप से उपयोग में ला सकोगे। वह स्निग्ध-स्वादु जो है। यदि उससे भी आशा-पिपासा न मिटे, उस अवस्था में तो नदी होकर बहने लगो। मुक्त होकर बहने लगो। ऋजु-कुटिल किनारों को पकड़ कर बहते-बहते वह नदीनाथ से मिलकर एक हो जाती है। उस सागर का एक घड़ा जल भले ही नमकीन क्यों न लगे, किन्तु सागर तो केवल "लवणाम्बुराशि" नहीं है, वह सुधाब्धि है, अगाध, अक्षोभ, अपरिसीम है !

व्याहृतिहोम का मूल तात्पर्य है व्याहृति की अत्यद्भुद् क्रमबद्धता

अतः अन्वयी छन्द का (उदार अर्थ के अनुसार दामाचार का) लक्ष्य है प्रतिकूल धर्मी एवं विषक्रिय को कौशल के द्वारा विपरीत करना, उलट कर पलट देना, जिसके कारण उसकी निगूढ़, प्रसुप्त अनुकूल शक्ति उदबुद्ध होकर उसे अमृतायमान कर सके। किसी एक स्तर में 'क' के साथ 'ख' का विरोध और संघर्ष परिलक्षित होता है। इसीलिये जिस देशकाल में धर्म आदि का जो सम्बन्ध है और संस्था है, वह अदृष्ट के द्वारा एक निर्दिष्टरूप में निरूपित होता रहता है। नियामक व्याहृति "यह" को भूः कहते हैं। (तत्तद देशकाल धर्मादि की संस्था एवं सम्बन्ध के कारण) "ख" इस स्तर में 'क' के सम्पर्क से विष रूप है। इस क एवं ख का उक्त स्तर में पारस्परिक अदृष्ट निमित्त होता है। यह निःसंदिग्ध है कि उक्त स्तर में इनका परिणय घटित कराना संभव हो सकता है और यही सचराचर रूप से साध्य भी है। किन्तु 'अन्वय' ? ख उसकी प्रतिकूलता को भूल कर अनुगत मित्र कैसे हो सकेगा ? अरिकुल उसके स्वाभाविक वैर को कैसे भूलेगा ? उलट दो ! कौशल द्वारा ख को उसके पृष्ठदेश की ओर पलट दो। उसके निगूढ़ तल में तुम्हारा मित्र अमृतभाण्ड हाथ में लेकर अपेक्षा कर रहा है। उसे बुलाकर अपने अभिमुख-सम्मुख कर लो। समर्थ व्याहृति मंत्र से आवाहन करो। यही तो व्याहृति होम का तात्पर्य है ! कर्म को सविशेष कुशली तथा विपश्चित् होकर करना चाहिये। व्याहृति अवश्यमेव महाकुशलिनी तथा परम विपश्चित है। अतएव तभी श्री श्री धूमावती के हाथों में प्रकृति का समस्त Sorting कर्म न्यस्त है ! तब भी तुम्हारे किंचित सहयोग की अपेक्षा तो है ही ! जैसे होमियोपैथ दसलाख डाईल्यूशन वाली एक विन्दु औषधि से तुम्हारी व्याधि दूर हो जाती है। यह होमियोपैथ की अपनी अभिज्ञताजनित औषधि चयन से होता है, किन्तु इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेषज का जो निगूढ़-निपुण स्तर विन्यास जनित कर्म है (स्थूल-सूक्ष्म शरीर में तथा संभवतः परिपार्श्विक में भी) उसका हिसाब कौन रक्खेगा ? वह किसी परम कुशल विपश्चित का ही कृत्य हो सकता है ! इससे संख्याविज्ञान के कितने ही जटिलतम समीकरणों का समाधान हो जाता है।

तुमने ना जाने आलोक-अंधकार में किस गति से अपने तीर को छोड़ा। किन्तु वह तीर जा कर विद्ध करता है क्या ? वह कैसे विद्ध करता है ? विश्व की किसी "वास्तविक" वस्तु को पूर्णतः पहचानने, "वास्तविक" घटना को समग्र रूप से समझने का सामर्थ हमारे प्रचलित चालू ज्ञान को तो क्या, अत्यन्त अग्रसर उन्नत विज्ञान को भी नहीं है। यदि यह सामर्थ्य हो—तब ब्रह्मज्ञ-सर्वज्ञ हो जाता। यह धूलिकणा भी नगण्य नहीं है। जिस पैमाने से इसका हिसाब किया जायेगा वही खुद नगण्य है ! अतः किसी मन्त्र-तंत्र-यंत्र के निर्वाचन के सम्बन्ध में तुम अपने को चाहे कितना कुशल क्यों न मानो, वह यंत्र-मंत्र-तंत्र जिस कर्म को करता है और जैसे करता है, वह परम अद्भुत प्रक्रिया है ! जैसे देखने में वह एक कण औषधि है ! तुम तो अपनी बुद्धि के अनुसार चलना चाहते हो और अपनी बुद्धि के अनुसार समझना चाहते हो, किन्तु तुम यह नहीं जानते कि विश्व की यह रेणु भी विश्वनाथ की बुद्धि से चल रही है।

जो स्वयं विश्वनाथ हैं, वे (ऋतज्ञ-सतज्ञ) छन्द रूप हैं। वे परम समन्वयी हैं। अर्थात् विश्व को सर्वतोभावेन व्याप्त करके भी वे "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" हैं। कोटि-कोटि अतीत-अनागत-वर्त्तमान विश्व उन परम विस्मय का एकांश मात्र है, अथवा एक कला है ! वे "परम" होकर भी समन्वयी हैं। वे स्वयं केवल व्यतिरेकी होकर भी विश्व में इस अपूर्व महासमन्वय को कैसे घटित करते हैं ? अतः केवल शुद्ध सत्, चित्, आनन्द रूप से वे इस सृष्टि में अन्वित हों ऐसा नहीं है; प्रत्युत परम समन्वयी, महासमन्वयी (ऋतञ्च सत्यञ्च) छंद के रूप से भी वे विश्व में ओत-प्रोत हैं।

प्रणवादि का छन्दः। इस छन्द की अमानयोग्य 'मात्रा'

प्रणवादि वाक्, महानाम एवं भूरादि महाव्याहृति इस परम महासमन्वयी छन्द का निरतिशय समर्थ रूप है। अतएव उनकी आकृति, शक्ति तथा कार्यकारिता का आकलन अथवा इयता कौन कर सकेगा ? नाम की ब्रह्माण्ड व्यापी शक्ति का श्रवण करके हम केवल मात्र विस्मित होते हैं। तुम यथासाध्य कुशली विपश्चित् (अर्थात् विद्या-श्रद्धा तथा उपनिषद् सहाय होकर) "ॐ भूः" मंत्र से हवन करो। मंत्र अपनी शक्ति से जो कुछ सम्पन्न करेंगे, उसका माप तुम नहीं कर सकते, चाहे तुम्हारा मापदण्ड कितना ही बड़ा क्यों न हो ! तुम नदी नाला मापने वाली बाँस की लकड़ी लेकर अतल सागर के तल की खोज कर सकोगे ?

अच्छन्दः एवं विश्वच्छन्दः

तब उपाय क्या है ? अपने ही तल को देखना प्रारम्भ करो। वहीं पर परिणयी से प्रारम्भ करके समन्वयी पर्यन्त के सभी छन्दों का (संगीत का) परदा तथा ग्राम बाँधा हुआ है ! इस महामंत्र के उपर-नीचे के सभी परदों के परमकुशली से नो

महाझंकार ध्वनित होगा, मूलतः उसी महाझंकार से विश्व भुवन झंकृत है ! उपोद्-घात में इसे ही मूलछन्द कहा गया है। इसके साथ वैरुप्य निमित्त में जो अन्तर है और जो उसका स्वरस, निजगुण है, उसी के कारण वैगुण्य निमित्त में इतने विघ्न हैं। अनुरूपादि क्रमानुसार वैरुप्य को हटाते हुए सारुप्य-एक्य रुपा स्थिति को सब साधनों का उद्देश्य माना गया है। इसके फलस्वरुप भीतर-बाहर; तुम और विश्व मौलिक सत्ता तथा छन्द में मिलकर अभिन्न हो जायेंगे। छन्द की इस प्रकार की अन्तर्बहिः, सर्वत्र महापरमसमन्वयी "आकृति" के प्रदर्शनार्थ "स्वेमहिम्नि" में विराजमान भूरादि व्याहृति सप्तक की स्थिति है।

वाम का वास्तविक नाम (अउम) एवं वास्तविक कार्य

अच्छा, परिणयी के पश्चात् अन्वयी ! देखता हूँ कि वहीं पर विरूप को भी अनुरूप करने का कौशल प्राप्त होता है। कोई भी विरूप एकान्तिक रूप से, समग्ररूप से विरूप नहीं है। परिणयी स्थल में यह विचार कार्यतः कर लेना चाहिये कि किस तल में किस प्रकार से कितना विरूप है। किसी तल में, किसी देशकाल में, धर्मादि सम्बन्ध तथा संस्था (Ensemble में) वह पुनः अनुरूप हो सकता है। इसका कौशल आयत्त करने पर वह अन्वयी है। इसे यद्यपि वाम संज्ञा दी गई है, किन्तु वाम -Left नहीं है। वह Reverse है। हमारे Retina (आखों का भाग) में सब कुछ की छाप उल्टी पड़ती है। हम उस उलटा को ही "सीधा" कह कर काम चला रहे हैं। उल्टा को पुनः उल्टा करने से ही तो सीधा बनता है ! 'वाम' यही कर्म करता है। अतएव वाम का मुख्य अर्थ है सुन्दर-शोभन। 'वाम' तथा 'अउम' के ध्वनिगत दोनों पैटर्न की परीक्षा करो ! वाम नहीं हुआ, क्या काम मिटा, क्या धाम मिला ?

देखता हूँ नहीं मिटा और नहीं मिला। उलटा उलट कर सीधा हुआ, किन्तु वह तो पुनः उलट जाना चाहता है। देखता हूँ कि "सीधा होना" सहज वस्तु नहीं है ! विरूप अपनी पीठ फेर कर अथवा मुड़कर अनुरूप-अनुगत हुआ, किन्तु क्या वह साक्षात् विरूपाक्ष हुआ ? पीठ फेर लेने पर भी उसका जो कौणिक संस्कार (Angular Velosity, Momentum) है, उसे उसने नहीं छोड़ा। अतः वह "बांका" ही होकर स्थित है। ऐसा सर्वदा होता है। "विधि यदि वाम है", "उल्टा बन गया राम" साधक को इसी के सम्मुखीन होना होगा।

इस वास्तविक "काम" को करने के लिए अध्रुव में ध्रुव को किस गति से मिलना चाहिये। जप का दृष्टांत समीकरण। श्वास तथा जप।

तब उपाय क्या है ? उपाय—केवल कर्म को एक कौशल में (Formula में) कर देना ही उपाय नहीं हो गया। उसका एक निर्भर योग्य लेख (Curve, Picture)

मिलना चाहिये। अर्थात् Equation। जो ध्रुव (constant) है, उसके साथ अध्रुव-परिणामी का एक नियामक सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को सम्यक् रूप से जान लेने पर "कौणिक संस्कार" भी किसी सीमा तक आयत्त हो जाता है। समन्वयी छन्दः अत्यावश्यक समीकरण तथा उसके "लेख" को (ग्राफ को) अंकित कर देता है। मान लो कि जप हो रहा है, किन्तु तुम्हारी श्वास-प्रश्वास जप की ताल में नहीं चल रही है। जप काल में संकल्प से अथवा उसके पूर्व प्रणायामादि कर लेने से प्रथमतः परिणय तदनन्तर अन्वय का उदय हुआ। श्वास का नियामक हेतु तुम्हारा संकल्प ही नहीं है, केवल तुम्हारी प्राणायमादि क्रिया भी नहीं है, उसका हेतुपुंज पूर्णतः स्वभावतः अन्यंत्र है। अतएव तुमने कौशल से उसका फारमूला निश्चित किया फिर भी उसका निजस्व "कोणिक संस्कार" कहाँ जायेगा ? अतः और भी एक पग आगे बढ़ना होगा। समीकरण कर्म तभी साधित हो सकेगा। गीता ने इसे ही लक्ष्य करके "प्राणापानौ समौ कृत्वा" कहा है। श्वास क्रिया का नियामक शरीर है एवं मानस प्रकार का निय'मक Psyco-Somatic है। शरीर तथा मानस भी परस्परतः एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

अतएव पूर्वोक्त आहारादि पंचशुद्धि (पंचगव्य), आसन, प्राणायाम, सर्वोपरि निर्दोष समता विधायिका बीजाक्षर झरीमुखा श्रीगुरु शक्ति धारा का सर्वतोभावेन अवगाहन, इन उपायों के माध्यम से श्वास एवं जप की समता रक्षित हो सकती है। जप का एक निजस्व छन्दः है, अथवा निजस्व छन्दः होना उचित है। यहाँ तक कि प्रणवादि एकाक्षरी मंत्र में भी यही तथ्य कार्यरत है। इसी छन्दः का आश्रय लेकर संहत वर्ण समूह, अग्निषोमात्मक मात्रा आदि अनेक 'कुछ' का सौष्ठव रक्षित होता है। उसमें वाक्-प्राण-मन का प्रयत्न सौष्ठव आवश्यक है। पक्षान्तर से प्राण क्रिया का कोई विशेष सार्वभौम सौष्ठव नहीं रहता। यदि कभी रहता भी है (जैसे प्रगाढ़ निद्राकाल में), उसका जप के छन्दः के साथ सम्यक सामञ्जय (Compatible) नहीं होता।

अतः हमें साधना के द्वारा ऐसे एक समीकरण सूत्र की उपलब्धि करनी पड़ती है, जिससे श्वास तथा जप, अपने-अपने छन्दः का वर्णन किये बिना ही पारस्परिक रूप से एक दूसरे से अन्वित हों। केवल यहीं नहीं, इस बृहत्तर छन्द में दोनों की समृद्धि (अधिकतर एवं पुष्टि) होती है। श्वास की सहायता मिल जाने पर वैखरी जप को सहजता से मध्यमा के सेतु को उपलब्ध कर सकने का सुयोग प्राप्त हो जाता है। जप की सहायता मिलते ही श्वास भी यथार्थ रूप से "अजपा" आकृति में प्रतिष्ठित हो जाती है।

समन्वयी के अनन्तर महासमन्वयी। 'वैराज रूप तथा छन्द:का अनुवर्त्तन

जप के माध्यम से समन्वयी का एक उदाहरण मात्र प्रस्तुत किया गया, किन्तु यह सार्वभौम है, यह स्मरण रखना ही होगा। साधारण व्यवहार में साधना, विज्ञान तथा प्रज्ञान में यही अनुसरणीय है. तथापि इतने से ही छुटकारा नहीं है। समन्वयी को महा एवं परम पर्यन्त प्राप्त करना ही होगा। कोई व्यष्टि, व्यस्त, भग्न, व्यूढ़, आपेक्षिक समाधान कदापि ध्रुव निर्व्यूढ़ समाधान नहीं है। जैसे एक छोटा बीज। उसके विकास का निजस्व एक छन्द है, तथापि पारिपार्श्विक के साथ उसके अन्वय की अपेक्षा रहती ही है। विराट (महान्) भी एक महान विपुल ऐक्यतान (Divine Orchestra अथवा Cosmic Symphony) के साथ तुलनीय है। तुम्हारे अपने यंत्रों का स्वर और छन्द उसके साथ अन्वयी होना चाहिये, व्यतिरेकी होने से कुछ भी नहीं हो सकता। क्योंकि क्रिया-कारक-फल, अथवा क्रिया-आकृति-शक्ति प्रभृति सभी दृष्टिकोणों से तुम तो विराट के ही अंश हो, विराट के अंगीभूत हो। विराट देह के एक अवयव हो। अवयव का भी एक अपना छन्द: होना स्वाभाविक है, किन्तु अवयवी के छन्द से वह अन्वित, ग्रथित है। विराट तो स्वरूपत: प्राणहीन, चेतनाहीन जड़ नहीं है। तुम स्वयं भी उसके वैराग्य रूप हो। अर्थात् तुम विराट प्राण तथा चैतन्य की एक संस्था हो। इसलिये श्रुति ने विश्व-विराट्, तैजस-हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ-ईश्वर का युग्म बनाकर अविनाभाव सम्बन्ध का प्रदर्शन किया है। स्वभाव छन्द: चाहे तुम्हारा हो अथवा विराट का हो, श्रुति की भाषा में परदे से ढका पड़ा है, अपिहित है। जो ऋजु-सुषम है, वही वक्र-विषम हो गया है। जैसा तुम्हारा, वैसा ही विराट का, "मुञ्जाभ्यन्तरस्थित ईषिका" ! यहाँ विचयन की अपेक्षा रह गई है। यह जिज्ञासा एक अनुसन्धान की अपेक्षा कर रही है कि आकृति, शक्ति, क्रिया तथा इन तीनों का छन्द:, क्या विराट् है अथवा यथार्थत: क्या है ? अर्थात् 'ऋतञ्च सत्यम्' की खोज ! 'ऋतं बृहत्' एवं 'सत्यं महत्' इस युग्म अथच अभिन्न लक्ष्य को प्राप्त करना ही श्रुति का अकम्प अंगुलिनिर्देश है। Live according to nature–, Stoic का यह सूत्र उचित है। फिर भी Nature को मुखौटे के बाहर से, Make up में पहचानने से नहीं चलेगा, उसके स्वरूप को पहचानना होगा।

वैराज्य छन्द का स्वभाव मैत्र (Intrinsic alliance) विराट का सुहृद रूप

विराट तो तुम्हारा वैरी नहीं है, वास्तव में (अर्थात् सम्यक् रूप से पहचानने एवं सम्पर्क प्राप्त करने के लिये) तुम्हारा सुहृद तुम्हारे रिजर्व बैंक में (जो चक्रवृद्धि व्याज देता है) तुम्हारे कारोबार का जामिन, जमानतदार है। वह तुम्हारे जीवन का "बीमा" है। इसे कार्यत: एवं तत्वत: जान लेना होगा। कितना भी बड़ा

जलाशय क्यों न हो, यदि सागर उसका सुहृद नहीं है, सागर उसका सरवराह (मेघ-वर्षण क्रम से) बन्द कर दे, उस स्थिति में वह जलाशय शुष्क हो जाता है। अपनी इस पाँचभौतिक देह की भी विराट आकाश एवं विराट वायु आदि को मिलाकर ही भावना करना चाहिये। अपने प्राण तथा चैतन्यादि को भी विराट प्राण एवं विराट चैतन्यादि के साथ भावनायुक्त करना होगा। विराट के बाहर जो ढाँचा खड़ा है, वह सबके वश का नहीं है, किन्तु भूस्तर के समान जो ढाँचा है, उसकी भी गंभीर गवेषणा (Prospecting, boring इत्यादि) का विशेष प्रयोजन है। क्या बाह्य स्थिति हमारे जप आदि आध्यात्म साधना के लिये उदासीन अथवा शत्रु रूप तो नहीं है? विराट के सुहृद रूप को और मिश्र छन्द को जैसे भी हो मिला लेना हमारे लिये उचित ही होगा। कल्पना अथवा अध्यास करने मात्र से इनको मिलाया नहीं जा सकता। विराट को एकदम उड़ाने की चेष्टा भी व्यर्थ है। हमारा प्राण ही विश्व का प्राण अथवा प्राणब्रह्म है। अतएव हमारा जप, जप का मंत्र एवं उसका सम्बन्ध जब समग्र विश्व में, इस महासमन्वयी अनुभूति में पहुँचेगा, तभी वह चरितार्थ भी होगा। हमारा कर्म (विश्व के सम्बन्ध में) विश्व के सम्बन्ध में बाह्य एवं आगन्तुक नहीं है। उसके सम्बन्ध में वह अंतरंग, आन्तर, आत्मीय है। इस प्रकार कर्म के लिए एक Cosmic endorsement, assurance, acceptence हमें प्राप्त करना होता है। प्रणवादि मंत्र, उसके छन्दः, देवता और विनियोग को जिन्होंने विराट के मानदण्ड (On Cosmic Scale) पर देखा है, वे ही ऋषि हैं। "जाहां जाहां नेत्र पड़े, ताहां ताहां कृष्ण स्फुरे"। नाम, मन्त्र, छन्दः के सम्बन्ध में भी यही तथ्य है। वेद में जिन्होंने "मधुवाता" इत्यादि मंत्रों का दर्शन किया है, वे तो ऐसा ही करते हैं। अतः मधुछन्द किसी का निजस्व एवं पकड़ने योग्य छन्दः नहीं है। यह विश्व-भुवन में ओतप्रोत निगूढ़ छन्दः है। वेद में भी वही है, पुराण में भी वही है। इस महासमन्वयी स्वराज्य सिद्धि को बेमालूम तौर पर एकदम "परम" में जाने के लिये हाल में ही "पगदण्डी" के रूप में कबसे खोला गया?

महा एवं परम का सेतु। महासमन्वयी छन्द में चेतयिता, निर्वाहयिता, संवर्द्धयिता एवं प्रपूरयिता कौन-कौन तत्व हैं?

पगदण्डी अवश्य मिलनी चाहिये, अर्थात् परम समन्वयी छन्दः। इसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी विशेष रूप से नहीं कहना है। महा में जाकर जिस प्रकार से परम में मिला जाता है, वह विशेष रूप से कहा ही नहीं जा सकता। जिस छन्दः के द्वारा अपने कुशल छन्द के साथ विराट के कुशल छन्द का सम्बन्ध-सम्पर्क पूर्णतः स्थापित किया जाता है, उसी छन्द की बातें कहा है। इस छन्दः को चेतित करने वाली है श्रीगुरुशक्ति, निर्वाहयिता हैं विश्वेदेवा (आध्यात्मदेव भी हो सकते हैं), और इस छंदः के पूरयिता हैं साक्षात्, छन्दोरूपी ब्रह्म। "हम" ही को सर्वारस्तु से लेकर सर्वांग-साध्य पर्यन्त, सब कुछ कर लेना होगा, यह सोच-सोच कर हताश नहीं होना चाहिये।

जिस "मैं" ने गोष्पद से प्रारंभ किया था, वह मैं सागर में समाप्त नहीं हो जाता। वहाँ "मैं" ही बदल जाता है। महावाक्य में जो "अहं ब्रह्मास्मि" का अहं है, वह अहं ही नहीं है। तुम्हारा प्रयोजन है श्रद्धा-भक्ति-निष्ठा के साथ श्रीगुरुशक्ति का, उपयोगी विद्या तथा उपयोगी उपनिषद् का समाश्रय लेना। इसमें तुम्हारा पूर्ण आग्रह होना चाहिये। तदनन्तर परिणय-अन्वयादि रूप जो-जो छन्द आविर्भूत होंगे, वे सब छन्दोब्रह्म की स्वशक्ति से, स्वमहिमा से आविर्भूत होंगे। कल्पबीज कणिका का यत्न रक्षण करना होगा, किन्तु उसे छन्दः सिखलाना नहीं होगा। केवल यह सावधानी चाहिये कि तुम कहीं स्वयं एक विवादी-विसम्वादी "झमेला" के समान उस छन्द के महानिर्वाहण-परिपूरण में शैलवत् प्रविष्ट होने के लिये उद्यत न हो जाओ, प्रत्युत् समर्पण परायण होकर अनाकुल रूप से प्रतिष्ठित होने का प्रयत्न करो।

सकलकुशलमूलं श्री गुरुश्चेतयेच्चेन्
निपुणमपि च विश्वे निर्जरा वाहयेषुः।
कथमिह यदि छन्दो ब्रह्मणा पूर्यमाणं
क्रतुफलममृतं ते भाव—कार्पण्य दोषः ॥२३॥

भावादि के कार्यण्य दोष का परिहार कैसे होगा ? क्रतु के पार जो अक्रतु वीतशोक स्थान है, वहाँ कैसे पहुँचा जा सकेगा ?

तुम क्रतु (पूजा-जप होमादि) का अनुष्ठान करना चाहते हो, किन्तु उसके लिये जिस भाव का आश्रयण आवश्यक है उसमें इतना अधिक "कार्पण्यदोष" हो रहा है, यह क्यों ? तुम जप एवं होमादि के द्वारा प्राण और चेतना का संवाद प्राप्त करना चाहते हो, किन्तु तुम क्या यह नहीं जानते कि जो निखिल कुशल के मूल हैं; वे श्री गुरु ही स्वयं तुम्हारे क्रतु के चेतयिता हैं ? तुम तो उनसे युक्त हो जाओ, वे अचेतन को भी चेतन कर सकने में समर्थ हैं। इसके पश्चात् वे श्री गुरु ही जरामरण रहित "विश्वेदेव" के रूप में तुम्हारे कर्म के (क्रतु के) निर्वाहयिता (निपुणं वाह-येषु) हो जाते हैं।

अतः यह क्रतु किस प्रकार से सम्यक्रूपेण निर्वाहित हो, इस निमित्त भी तुम्हे चिन्तित नहीं होना है। तुम केवल आग्रह पूर्वक उनसे युक्त हो जाओ। अन्त में यह कहना है कि क्रतुसमापन फलरूप अमृत के लिये भी तुम चिन्तित क्यों होते हो ? जो स्वयं ही छन्दोरूपी ब्रह्म हैं (अर्थात् श्रीगुरु शक्ति ही परमसमन्वयी छन्दः रूप है) वे तुम्हारे क्रतु के संवर्धयिता और प्रपूरयिता हैं, और वे ही क्रतु का भरण-पूरण करते हुये, क्रतु के पार स्थित "अक्रतु वीतशोक अमृत", अभयस्थान पर्यन्त पहुँचाने के लिये तत्पर हैं। तुम तद्भावना पराणय हो जाओ। भावकृपण क्यों होते हो ?

विधुनयति कपाटादर्गलं वज्रसाराद्
गमयति गहनां यद् द्वारमल्पांश्च निद्राम्
व्रजसरित उरुर्म्मीदारय ल्लीलयैव
मुरसिधृतमुदेति ब्रह्म छन्दोगवेशम् ।।२४।।

उस परमछन्दोगवेश ब्रह्मगोपाल को भूल गये ? जिस छन्दोदुलाल के अचिन्त्य अघटन कुहुक द्वारा अश्मनिर्मित कंसकारागार के वज्रसार कपाट मुहूर्त्तमात्र में निरर्गल हो जाते हैं, यही नहीं, कारागार के द्वार के समस्त रक्षक महामल्ल, जो निशिदिन सजग होकर द्वाररक्षण करते रहते हैं, वे भी गहन विमोहन निद्रा से अभिभूत होकर पृथ्वीशायी हो जाते है, और केवल यही नहीं, जो ब्रह्मसंवित् कालिन्दी है, वह भी पूर्णभाद्रपद के मास में अपनी विशाल उर्मि राशि को विदारित करते हुये उस पार जाने का पथ दे देती है। और उस रात्रि में पथप्रदर्शनार्थ वे छन्दोघनमूर्त्ति चिदगगनपूर्ण शशि तो वसुदेव की गोद में शयन करते हुये उदित हो जाते हैं। वे ही परमछन्दोगरूपी ब्रह्म हैं, यह भूलना नहीं चाहिये। अपने भीतर बद्धार्गल वज्रसारकपाटयुक्त कंस के उस अंधकारागार की भावना करो। वसुदेव श्री भगवान के अनुग्रह रूप श्री गुरुमूर्त्ति हैं। देवकी तुम्हारी अपनी आग्रहशक्ति है। दोनों के परिणय से जिनका जन्म हुआ, वे स्वयं छन्दोदुलालवेशी ब्रह्म हैं। ये ही नन्ददुलाल भी हैं। वे अपने ब्रह्मस्वरूप के द्वारा ही छन्दः एवं नंदः का अभेद घटित कर देते हैं। जो तुम्हारे अन्धकारागार में भूमिष्ट हुये, श्री गुरु उन्हें स्वयं ही अपने गोद में लेकर समस्त व्यामोह और अवरोधों के पार ले आयेंगे। अब तुम्हारी चिन्ता का क्या कारण है ? फिर भी एक बात स्मरण रक्खो, इन द्वारमल्ल असुरों के साथ भिड़कर भांग के नशा में स्वयं को मत खो देना। किंवा तुम अपनी भावकालिन्दी के तट पर केवल उर्मिराशि को ही देखकर भूल मत जाना। इस पार का भांग का नशा, मध्य के भाव का नशा, इन दोनों को उत्तीर्ण करने पर ही ब्रह्म की भावरस माधुरी प्राप्त होती है।

स घटयति घटे ते बोधनं ब्रह्मसूक्तै
र्यदि मृगपति-पृष्ठ-न्यस्तपादाज देव्याः।
किमपि सितरुचिः श्रीः स्कन्दहेरम्बसिंहा
दधति न रिपुबाधाबाधनाय स्वशक्तिः ।।२५।।

वे (श्री गुरुदेव) तुम्हारे इस मंगलघट में ब्रह्मसूक्त (देवीसूक्त, रात्रिसूक्त इत्यादि अर्थात् समस्त बीजमंत्र) द्वारा उद्बोधित होकर वाणी, लक्ष्मी कार्त्तिकेय, गणेश; सिंहादि कोई देवता ही रिपुमय निमित्त से आई तुम्हारी महाबाधा का बाधन करने के उद्देश्य से अपनी-अपनी शक्ति को धारण करेंगे ? अर्थात् मुख्यबोधन सब से पहले निष्ठापूर्वक होने पर उसके काण्ड शाखा-प्रशाखादि का बोधन बीज की स्व-

शक्ति से, स्वच्छन्दता से होगा। इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु वह सब विभिन्न, विचित्र होने पर भी इसी मूल से ही अन्वित है, उसका ही अनुगत है। मूल के (देवी के) छन्द: द्वारा ही काण्डादि छन्द का परिणय, अन्वय, समन्वय घटित होता है। इसी मूल को ही स्वयं महासमन्वयी एवं परमसमन्वयी जानना।

मूल स्वयं साधिष्ठ होने पर भी छन्दोमञ्जरी के रूप से मूल की परिपूर्णता। अतएव मूल का मधुच्छन्दा रूप से समाश्रय करना होगा।

जब मूल ही स्वयं साधिष्ठ-स्वच्छन्द है, तब मूल को पकड़कर रखा तो गया। मूल का इतना सब छन्दोमाहात्म्य जान-सुन कर क्या होगा? अर्थात् जब कर्म का ही अधिकार है, आखों को बन्द करके कर्म क्यों नहीं किया जाता? जो कुछ करना है उसे तो कर्म ही करेगा। कर्म ही प्रभु है "कर्मेति मीमांसका:। यह उक्ति कुछ अंश में ठीक है, किन्तु सम्पूर्णत: ठीक नहीं है। यदि कर्म को उपास्ति अथवा उपासना रूप से पाना होता है, तब उसके साथ ज्ञान (कर्म कैसे और किस प्रकार से प्रेय: एवं श्रेय: है, एक प्रकार से जो इष्ट है उससे सम्बन्धित समर्थसाधनता इस कर्म में है, यह ज्ञान) भी मिथुन रूप से स्थित रहना चाहिये। "जिस कर्म को किया जा रहा है, उसके द्वारा हमारे इष्ट, हमारे प्रिय तुष्ट होंगे"। जब तक ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक कर्म में रसबोध नहीं होता, भाव नहीं प्राप्त होता। क्रिया तथा ज्ञान के मैथुन से ही भावरूपा तनु गठित होने लगता है। देवी तो भृकुटी अथवा हुंकारमात्र से महिषासुर का वध कर सकने में समर्थ हैं, तब इतनी विभूति, इतने लीलावैभव का विस्तार क्यों? इसका कारण है। उनके मधुच्छन्दा: से परिपूर्ण रूप को दिखलाने की आवश्यकता है, इसीलिये लीला विस्तार है। महावाक्य, महानाम, महामन्त्र तो स्वमहिमा में है ही, फिर भी वेद-तंत्र-पुराणादि उनका बहुधा ख्यापन करके भी परितृप्त नहीं होते। अनेक कुछ करने के पश्चात् वेदव्यास को नारद ने भागवत रचना की प्रेरणा दिया था। भागवत के अष्टादश सहस्त्र श्लोक क्यों है? भागवतामृत (स्वादुपदे-पदे) का स्वयं आस्वाद करने पर यह जिज्ञासा अथवा संशय रह ही नहीं जाता। तब तो यह विचार आता है "हाय यह इतने में ही समाप्त हो गया!"

> **अपि फलति कृतिश्चेन् मूढविश्वासमूला**
> **सकृदवरफलां तां कर्मधीर्वेत्थनैव।**
> **न जलदरससिक्ता भाति नैवार्कभासा**
> **चिर-परमफला सा कीदृशी कल्पवल्ली ॥२६॥**

कृति अमरफला तथा सकृत्फला होने से कार्य नहीं होता। वह कैसे परमचिरफला हो उसके लिये यत्न करना होगा—

अन्धविश्वास ने तुम्हारी जिस कृति (कर्म) लता का आरोपण किया है, यदि उसमें किंचित् अभीष्ठ फल फलित भी होता है, तब भी यही स्मरण रखना कि यह फल अवर (निकृष्ट है "दूरेण ह्यवरं") है। यह सकृत् है। इससे एकबारगी इसकी भी कोई निश्चित् स्थिति नहीं रहती है। धी (बुद्धि) कर्म की चक्की में घूमती रहती है। यांत्रिक रूप से कर्म करने में व्यापृत रहती है। अतएव 'कर्मधी' के लिये अपनी कर्मतालिका का तालमेल जान सकना संभव नहीं होता (भागवतोक्त हंसगीता के अनुसार स्वयं ब्रह्मा भी कर्मधी हैं, अतः उनकी भी बुद्धि को अपारगा, अविशारदी कहा गया है।) तुम्हारी उस लतिका को रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में "निबिड़ सरस वरषा" में अथवा पदावली में उक्त "जिमि भादर रसबादरे" में सिक्त होने का अवसर ही नहीं मिलता। वह भानु की आदीपित दिगन्तर दीप्ति से आलोकित-पुलकित हो ही नहीं सकती। अर्थात् वह लतिका भावरस विरहिणी और विज्ञानभाति से वंचिता ही है! अथच परम नित्य फल की प्राप्ति तो विज्ञानभाति तथा भजनरस माधुरी के साधिष्ठ सामरस्य के अभाव में संभव ही नहीं हो सकती। तुम तो अपनी इस अवरा लता के फलयुक्त होने की अपेक्षा करते हो! बोलो वह परमचिरफला कल्पवल्ली वास्तव में कैसी है?

यदि इष्ट की परमनिविष्टता वही परम फल है, तब उसे जानों। प्रथमतः—भक्तिरसिक

व्याहृति की विवेचना गणित की विवेचना के समान दुरुह है और नीरस है, परन्तु यहां जब मूलतः छन्दः की ही आलोचना की जा रही है, तब अन्ततः विनि-योग के क्षेत्र में इसकी सरसता एवं सरलता में कोई वाधा नहीं है। साधना का शेष लक्ष्य है इष्ट की परम निविष्टता। इसके निःसंशेष होने पर निखिल छन्द की तथा व्याहृति की चरितार्थता घटित हो जाती है। रसपिपासु भक्त की आविष्टता को क्या इस कारिका में देखोगे?

सजति सपदि भृङ्गस्तस्य पादारविन्दे
विशतिनखमयूखैरुज्वलां माधुरीं वा।
सरति परिमलेऽपि प्रायशो दिक्षु दिक्षु
किमरति मधुपोऽजात् किं मृषागुञ्जितं वा ।।२७।।

भक्तरसिक भ्रमर और विलम्ब सहन नहीं कर सकते। वे इसी मुहूर्त में ही (सपदि) उनके (इष्ट की) चरणसरोज से संलग्न हो जाते हैं (सजति)। क्या मात्र सलग्न होते हैं? उनके पदनख की कमनीय घटा से समुज्वल जो आन्तर निगूढ़ माधुरी (अर्थात् उज्वल रस गाढ़ता) है, वे उसमें भी प्रवेश करते हैं (विशति वा), यह प्रतीत होता है। उस पद्म की सुरभि परिमल तो जब-तब (प्रायशः) यहां-वहां उड़ती रहती तथा छिटकती रहती है। यद्यपि उस सुरभि पवन से आकृष्ट

होकर भ्रमरगण पद्म के सन्निधान में आते रहते हैं, तथापि आज जो मधुप उस पद्म के सरस रस से आविष्ट है, वह आज पद्म की निविड़ माधुरी को छोड़कर वायु के साथ इधर-उधर चक्रमण नहीं करेगा और न व्यर्थ, मृषा गुंजन करते हुये मंडराता ही रहेगा। शुद्ध निरंजन ज्ञान में जिस परमाविष्टता का अनुभव होता है, उसकी इस कारिका के द्वारा चिन्तना करो :—

श्रवणकुहरशंखध्मातवाक्यैर्म्महद्भि
रनलस रसनायास्त्यागतो वापि भागात् ।
बहिरपि घनमन्तर्नोभयं मन्यमाने
किमखिलमुपशाम्येत् स्याच्च् शिवाद्वैत-तूष्णीम् ॥२८॥

ज्ञानविचार के पथ में लक्ष्य है 'शिवाद्वैततूष्णीम'

तुम्हारे श्रवणकुहररूप शंखविवर में 'तत्वमसि', 'अयमात्म ब्रह्म' इत्यादि महावाक्य चतुष्ठय तो गूंज चुके हैं, और तुम्हारी अनलस रसना भी इन सब महावाक्य विचार के द्वारा भोगत्याग लक्षणादि प्रसंग से व्यापृत रहती है। और साथ ही श्रुति में प्रसिद्ध "न बहि:प्रज्ञं नान्तप्रज्ञं नोभयत: प्रज्ञं न घनप्रज्ञं' होकर भी क्या तुम निखिल प्रपंचोपशम "शान्तं शिवमद्वैतं" परमतूष्णीभाव में चिरविश्रान्त हो सके ? क्या आत्मा में तुम परमनिविष्ट हो सके ?

किमधिगतसमाधि: सास्मितानन्द-सेतु
मतितरितुमशक्तो यासि कैवल्यपारम् ।
किमपि विजयते वा धर्मवृद् प्रान्तभूमौ
यदि दृशमिव दृश्यं नो जये: शुद्धिसाम्ये ॥२९॥
(अपि सुतनुसबीजं धर्ममेधं: सुपुष्टं
कथमिव दृशि दृश्ये ते भवेच्छुद्धिसाम्यम् ॥)

सांख्ययोगी का परमलक्ष्य—समाधिभावनादि के स्थान पर कहीं-कहीं व्यासकूट आ सकता है

देखता हूँ कि तुम्हे समाधि अधिगत हो गई है, तथापि सम्प्रज्ञात में सानन्द एवं सास्मित नामक जो सेतु है, उस सेतु को पार कर सकने में तुम अपारग हो रहे हो अर्थात् आनन्द और अस्मिता के जिस अपूर्व गाढ़त्व एवं महत्व की बात व्यास-भाष्य में कीर्तित है, फिर भी जो सापेक्षतारहित परमभूमि नहीं है, यदि उसमें ही आविष्ट होकर रह जाते हो, और आगे बढ़ सकने में समर्थ नहीं होते, तब कैवल्यरूपा स्थिति (पारम्ये) में तुम कैसे स्थित हो सकोगे ? इस सम्प्रज्ञात प्रान्तभूमि में तुम्हारा क्षेत्र 'सुतनु सबीज' है, अर्थात् अति सूक्ष्म किंवा क्षीण संस्कार गर्भित हो रहा है। क्या तुम यहाँ यह विचार करते हो कि धर्ममेघ समाधि में तनु संस्कारभूमि एकान्तिक रूप से निर्जीव हो जाती है, अथवा संस्कार समूह और भी

पुष्ट हो जाते हैं ? 'अपि' तथा 'किमपि' पद के द्वारा इसी प्रश्न की जिज्ञासा की जा रही है।

अच्छा, यदि इस प्रान्तभूमि में 'धर्मवृट् (धर्म वर्षण करने वाला समाधि मेघ) अन्तराय के बीज के साथ के संघर्ष में अथवा मूल अपनोदन में विजयी नहीं होता, उसे भी छोड़कर यदि परवैराग्य की सहायता लेना पड़ता है, तब दृक् अथवा पुरुष, दृश्य अथवा प्रकृति तो "शुद्धि" की साधना में जप से वंचित रहने को विवश है। जब तक दृशि-दृश्य का शुद्धिसाम्य अविजित है, तब तक तुम्हारी भी विजय कैसे होगी ? सानन्द एवं सास्मित में एक विपुल निविष्टता अवश्य मिल जाती है, तथापि वह "निर्व्यूढ़ परम" कदापि नहीं है। धर्ममेघादि समाधि वर्षणा से व्युत्थित होते ही संस्कार समूह पुनः भासित होने लगते हैं। किन्तु जो सुतनु हैं, उनका क्या होगा ? 'यह मेघोदय पुनः होगा, उससे कल्याणवर्षण पुनः होगा" यह संस्कार, यह आवेग कहां जायेगा ? यह आवेग, यह अपेक्षा, तब भी शेष रह जाती है। जब तक आवेग; अपेक्षा है, तब तक किसी भी आविष्टता की गाढ़तर स्थिति के भी भंग हो जाने की संभावना रह जाती है। जब तक दृशि-दृश्य का शुद्धिसाम्य नहीं हो जाता, तब तक भंग होने से भी अव्याहृति नहीं मिलती। अतएव परमाविष्टता भी नहीं आती। दृशिमात्र रूप जो पुरुष है, उसके शुद्धि अथवा स्वरूपावस्थान की सहज ही धारणा किया जा सकता है, किन्तु दृश्य की ऐसी धारणा कैसे हो ?

इसका उत्तर—जो प्रकृति दृश्य अथवा दृश्यमूल है, उसे जब तक ब्रह्म के अथवा सच्चिद वस्तु के 'ऋतञ्च सत्यञ्च' रूप में देखने की स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक 'शुद्धि' अथवा 'सम' पर्याय नहीं आता। अर्थात् व्याहृति के आश्रय से हम छन्द की जिस सोपान परम्परा पर अधिरोहण करते हुये आगे बढ़ते हैं, वह जब तक अपनी शेष पदवी तक अथवा परमसमन्वयी पर्यन्त नहीं पहुँच जाता, तब तक दृश्य किसी भी प्रकार से यह नहीं कह सकता कि मैं पूर्णतः "शुद्ध" हो गया हूं, 'ऋतञ्च सत्यञ्च' हो गया हूँ। और जब तक वह यह स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक दृश्य से छुटकारा भी नहीं है। केवल वर्जननीति (By due dismissal) से दृश्य को हटाया नहीं जा सकेगा। ऐसी चेष्टा करने पर उसे किसी एक भार के बोझ द्वारा दबाकर (under pressure) रखना ही होगा। तब भी इस दबाव को हटानेवाला एक संवेग (Potential) रह ही जाता है। इसे 'अध्यास' 'मिथ्या' आदि कहकर उड़ाने की चेष्टा की जाती है, तथापि यह उड़ता नहीं।

विचार (Logically) से उड़ाने की चेष्टा करने पर यह कार्यतः नहीं उड़ता। यह समाधि स्थिति में भी अपना आत्मगोपन करते हुये स्थित रह जाता है। परवैराग्य में ही इसके बीज का नाश हो सकता है। उक्त शुद्धिसाम्य के बिना वैराग्य की परिणति परवैराग्य रूप में नहीं होती और मनन-विचार आदि भी परि

निष्ठित नही होते। यदि दृश्य को मिथ्या कहें, तब वह कहना यथार्थ तभी होगा जब कि हम दृश्य को परमसमन्वयी छन्दः में ले जा सकें। दृश्य कहता है कि "हमें सर्वप्रथम "ऋतञ्च सत्यञ्च" रूप से जानो, तत्पश्चात् इस चकार द्वय (ऋतञ्च सत्यञ्च) को मिथ्या कहकर उड़ा चाहो उड़ना दो, मुझे कोई भी आपत्ति नहीं होगी, अन्यथा हम ऋत मिथ्या, सत्य मिथ्या की उक्ति पर ध्यान ही नहीं देते।" वेद, तंत्र, पुराण, ऋषि, महाजन आदि सब ने "दृश्यमार्जन" में कितना सांघातिक भ्रम पाल रक्खा है, देखकर अवाक् हो जाना पड़ता हैं। "मार्जन" का अर्थ केवल धो देना ही नहीं है। पहले उसे धौत करने लायक तो करो, तभी तो धोना संभव हो सकेगा! दुर्बल अधिकारी अपने को धो-धो कर सबल करेंगे! व्याहृतिछन्द से धौत होते-होते दृश्य अन्त में जहां खड़ा होता है, वहां इन दोनों चकार (ऋतञ्च सत्यञ्च) को छोड़ कर धोने के लिये और बाकी क्या रहा? योगवाशिष्ट आदि में भी खोजकर ध्यान लगाओ।

दिक् और दृशि का विवेचन। भंगुरताभय की अवधि कहाँ तक है? उसका अवसान कैसे होगा?

अथवा दृक् (दृश-कर्त्तृवाच्य में), दृशि (करण वाच्य में) एवं दृश्य के रूप में अनुभूति (Experience) का विश्लेषण करो। प्रथमः (दृक्) का स्वरूप तो शुद्ध है, किन्तु तुम (मुमुक्षुसाधक) उसमें अवस्थित नहीं हो। तुम तो ज्ञाता, भोक्ता, कर्त्ता इत्यादि रूप से ज्ञेय, भोग्य तथा कार्य के साथ व्यवहारतः लिप्त हो। तुम जो कुछ भाव-भक्ति, ध्यान-समाधि, श्रवण-मनन आदि करते हो, वह भी प्रथम (दृक्) के हिस्से में नहीं आ पाता। वह दृशि-दृश्य की अन्यान्य अपेक्षाओं की कुक्षि में निक्षिप्त हो जाता है। वह कुक्षि को फोड़कर बाहर कैसे आयेगा? उत्तर—ऐसी स्थिति में दोनों के शुद्धिसाम्य के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। अर्थात् ज्ञाता भोक्ता आदि के रूप में 'तुम' हो और ज्ञेय-भोगादि के रूप 'वह' है, इन दोनों का जो हृत् आत्मा (Innermost Core and Essence) है, वहीं पहुंचकर इन सब का समीकरण प्राप्त हो जाता है। यही है वास्तविक रूप से 'तत्वमसि श्वेतकेतो'।

एक वटबीज को फोड़कर देखो। जो तुम्हारा अपना हृत् है, वही इस बीजकणिका का भी हृत् है। "तत्" पदार्थ को मात्र सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान वस्तु मान लेना ही उचित नहीं है। इस कणिका के भीतर भी उसी सर्वज्ञ को ही सर्व-भूताधिवास रूप से पाना होगा। इसके लिये तुम्हे उसका सुहृद बनना होगा। जो जो छन्दः तुम्हारे और उसमें परम सौहार्द का उदय कराता है, वही परम समन्वयी है। साधना का उद्देश्य है धीरे-धीरे इस छन्दः में उपनीत होना। तुममें और उसमें शुद्धिसाम्य (पदार्थशोधन की पराकाष्ठा) वास्तव में हो गया। अब वैषम्य की आशंका नहीं है। अतः अब क्षोभ भी नहीं आ सकता। छन्दः मात्र का उद्देश्य है

समीकरण। यह परिणयी से प्रारंभ होता है। क्रमशः इस समीकरण को निर्धोष एवं निर्व्यूढ़ करते चलना चाहिये। "निर्दोष सम" ब्रह्म में इसका अवसान हो जाता है। इसके पूर्व difference of potential (सम्भाव्य विषमता) और Subject-to-Conditionality (सापेक्षत्व) तो रहेगा ही। अतः क्षोभ की आशंका रहती है।

अयंख्याति से अस्ति ख्याति पर्यन्त सप्त व्याहृति की अभ्यारोहण समाप्ति से 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इन दो चकार से मुक्त ऋतम् सत्यम्

अयं से प्रारंभ करके अस्ति पर्यन्त जो सप्तख्याति सप्तव्याहृति के द्वारा उद्दिष्ट रहती है, उसे क्रमशः उत्तीर्ण करते हुये चरमख्याति पर्यन्त उत्तीर्ण हुये बिना "ऋतं" (जो सम्यक् रूप से चल रहा है) और सत्यं (जो सम्यक् रूप से है) के मध्य का व्यवधान (Hiatus) तिरोहित नहीं होता, और दोनों उक्त दो चकारों से मिलित भी नहीं होता। जब तक यह अनुभव है कि "चल रहा हूँ" तब तक यह जिज्ञासा तो रहेगी ही चलने के मूल में क्या है, आधार रूप क्या है, लक्ष्य एवं लक्ष्यपरायण रूप से क्या है? इस महाप्रश्न का समाधान अयं प्रभृति सत्यख्याति एवं सप्तव्याहृति सोपान का आश्रय लेकर अपने आप होता रहता है।

"यह-यह" कहने से सत्य प्रथमतः झलकता है किन्तु "यह" (अगोचर) के अन्दर वह छिपा रह जाता है। (जैसे कहा गया कि यह आम है, आम प्रथमतः "यह" के अन्दर अगोचर रहता है) अब दोनों के बीच एक अन्तरिक्ष (Hiatus) अनुभूत होता है "ना यह नहीं, यह है"। एक तो Inner Stress के समान है। हमारी अनुभूति में "यह" और "वह" रूपी दोनों पोल (सिरा) strain (रूपित) होने पर, दोनों के बीच में एक उदासीन भूमि (Neutral-zone) के रूप में अन्तरिक्ष विद्यमान रह जाता है। इसे विचार करके देखो। अब "यह और यह" दोनों को मिलाकर एक बृहत्तर-महत्तर अनुभूति आती है। तत्पश्चात् समस्त प्रत्ययों के निदान अथवा जड़ (Root) के रूप में इसे क्या कहकर पुकारा जा सकेगा? हो तुम विपुल, तुम महान्, तुम कारण, तुम हो। तत्पश्चात् अस्मि मैं हूँ, महान् आत्मा के रूप में तुमको क्रोड़ में रखकर मैं हूँ। मैं ही "तपसा चीयमान" होकर सब होता हूँ और हो रहा हूँ। किन्तु यहीं तो शेष नहीं हैं। "अस्ति"—'तुम' और 'मैं' कहता हूँ, "वह" कहता हूँ। मूल में, आधार में और अन्त में एक निःसंदिग्ध, निर्व्यूढ़ "अस्ति" है। इसी सत्य में ऋत् की विश्रान्ति होती है। अब इस कारिका का चिन्तन करो :—

प्रथममयमितिद्धा सप्तजिह्वे शिखा याऽ
नुभयमिति च चासौ द्वे शिखे इध्यमाने।
उभयमपि महद् यच्चासि चास्मीति चास्ति
त्वमहमिति सदेकञ्चासुहोता जुहोति ॥३०॥

ब्रह्मयज्ञ की सप्तशिखा है यह सप्तख्याति। सप्तव्याहृति ही इस सप्तशिखा की आहुति का स्वाभाविक मंत्र है

सात जिह्वायुक्त एक परमाश्चर्य रूप अग्नि है। प्रथमत: "अयं" रूप से इस अग्नि की एक शिखा "इद्ध" होती है। तत्पश्चात् "असौ" एवं 'अनुभव' (अर्थात् नहीं यह, ना यह) रूपी शिखा इध्यमान होती। तदनन्तर 'उभयं महत्' (अर्थात् यह और ये दोनों महत्तर रूप से) दीप्त होते हैं। शेषकाल में 'असि', अस्मि, एवं अस्ति रूप प्रत्ययत्रय की संस्काररूप "त्वं", 'अहं', एवं सदेकं रूपी शिखात्रय क्रमशः समिद्ध होती हैं। ब्रह्म स्वयं ही होतृरूप से इन सप्त शिखा में विश्वभुवन की आहुति देते हैं। उनका हवनमंत्र है सप्तव्याहृति ! अतएव आन्तर-बाह्यरूप सर्वविध हवन में इस व्याहृतिसप्तक का रहस्य के साथ आश्रय करने पर तुम्हारे यज्ञ का चरम प्राप्तव्य "अमृत" प्राप्त होगा।

व्याहृति के आधाररूप छन्दों के पंचपर्व का संक्षिप्तसंकलन। "महा" और "परम"

मंत्रशास्त्र में व्याहृति की आलोचना ही मौलिक आलोचना है। इसलिये आलोचना के आधार की प्रस्तुति में छन्द: को मुख्य स्थान देकर हम व्याहृति को समझने का यत्न करते हैं। छन्द: की जो पंचविद्या पूर्वविध, पहले प्रदर्शित की जा चुकी है, इस कारिका में उसका संकलन प्राप्त होगा:—

परिणयति यदेकं छन्दसी द्वन्द्वभाजी
अनुगमयति किञ्चिच्चाँशतोऽन्यस्य मंत्रम।
तदपि भवति सम्यक् सर्वतोव्याप्य किञ्चिद्
वृहद् तमनुयातं स्यान् महच्चेत् ततः किम् ॥३१॥

प्रथम = पारस्परिक द्वन्द्व लक्षित होता है। ऐसे दो छन्दों को जो छन्द: (द्वन्द्व रहने पर भी) पारस्परिक रूप से सहग कर लेता है, उसे परिणयी छन्द: कहते हैं। यहाँ 'Composition of Forces' ही घटित होता है। किन्तु मैत्र–Reconciliation ? मैत्र को घटित करता है अन्वयी छन्द:। किस प्रकार से ? दोनों के बीच अंशत: अन्वय अथवा मेल दिखलाकर अथवा घटित कराकर। यह द्वितीय है। तृतीय = यदि केवल अंशत: नहीं प्रत्युत् सर्वत: अन्वय अथवा मिलन घटित हो, उसे समन्वयी कहते हैं। किसी निर्दिष्ट क्षेत्र में अर्थात् देशकालादि परिच्छिन्न संस्था में समन्वय न घटकर विश्व संस्था में (Cosmic Frame of Reference में) समन्वय घटित होता है, तब यह महासमन्वय है। यह चतुर्थ है। इसके परिणामस्वरूप विश्व में ऋत् वृहद्रूप से अनुप्रविष्ट तथा समुदाहृत होता है। जहाँ तक अनुप्रविष्ट होता है, वहाँ तक पर्याप्ति सम्भावित हो जाती है। सभी प्रकार के साधनों में इसे निर्बाध-रूपेण होने देना चाहिये। क्या यहीं शेष, इति है ? नहीं, ऐसा नहीं है। अत: प्रश्न उत्थित होता है "तत: किम् ?' उत्तर = यहाँ प्रश्न का विषय है परमान्वयी। इसे

'ऋतञ्च सत्यञ्च' कहें, या कुछ और कहें, अथवा यह वास्तव में कहने की स्थिति, भाषा का विषय नहीं है ? क्योंकि विश्व में ओतप्रोत जो "ऋतं बृहद्" है, वह 'परम' के एक पाद रूप में प्रतीत हो रहा है। तथापि "अमृतं दिवि"?

साधन एवं व्यवहार क्षेत्र में इन पाँचों का कहाँ तक कैसे प्रयोग सम्भव है ? सामान्य एवं विशेषरूप। दृष्टान्त।

हम व्यावहारिक रूप से अथवा साधन भजन में छन्द के इन पाँच सोपानों में से कायक्लेश द्वारा प्रथम दो में (परिणयी—अन्वयी, सहग-सहित) पैर बढ़ा सकते हैं। किन्तु जब तक "भूर्भुव: स्व:" आदि व्याहृतिरूपा गुरुशक्ति अथवा विश्वकल्याण शक्ति का प्रकट अनुग्रह नहीं मिल जाता, तब तक हम तृतीय सोपान (समन्वयी) पर नहीं पहुँच सकते। हमारे व्यवहार क्षेत्र का अथवा साधन क्षेत्र का कोई भी समाधान, इस हेतु सम्यक् अथवा समीचीन नहीं होता। तदनन्तर महा-समन्वयरूपी महोदय प्रारंभ होता है मह: रूपी समर्थ व्याहृति का आश्रय लेकर। यह अकेले नहीं होता। 'असि' 'अस्ति', रूप से उक्त महोदय घटित होता है। 'सत्य' में आते-आते इस "महा" 'मह:' का शेष हो जाता है। इस शेष के साथ-साथ 'परम' का प्रारंभ हो जाता है। त्रिवेणी संगम में गंगावारि और यमुनावारि की तरह इस परम एवं महा के मिलन की उपलब्धि पृथक् रूप से नहीं की जा सकती।

'समर्थ' शब्द का व्यवहार २ बार किया गया। साधना द्वारा उदय-अनुदय-महोदय घटित कराने के लिये व्याहृति की सामान्यरूपता के स्थान पर उसकी एक विशेषरूपता का आश्रय लेना होगा। बहिर्विश्व में तड़ित्, चुम्बक, ताप इत्यादि शक्तियाँ तो सामान्य रूप से हैं ही, किन्तु कार्य में लगाने योग्य शक्ति प्राप्त करने के लिये सामान्य रूप से काम नहीं चलता, कौशल के द्वारा विशेषरूप को प्राप्त करना ही होगा। कौशल के रूपत्रय हैं शक्ति, आकृति, क्रिया। तीनों प्रश्नों का उत्तर इन तीनों से मिलता है। प्रथम=क्या शक्ति के द्वारा इस सामान्य शक्ति (मान लो केन्द्रीय तड़ित शक्ति) को हम अभीष्ट रूप से प्राप्त कर सकते हैं ? अर्थात् मात्रा, परिणाम इत्यादि में पा सकते हैं ? द्वितीय=उदय को सम्यक् रूप से कैसे आकारित किया जा सकता है ? तृतीय=प्रयोग अथवा क्रिया द्वारा, कैसे सम्यक्, रूपेण प्राप्त किया जा सकता है ? यह तीनों यथाक्रम से मंन्त्र, यंत्र, तंत्र हैं। अत: यह त्रयी ही कौशल है। इन तीनों के पारस्परिक अनुपात को एक निर्दिष्ट काष्ठा (Limit) पर ले आने से ही कौशल सिद्ध होता है। अत: जो मंत्र-तंत्र यंत्र इन्हें उपयुक्त काष्ठामान तक ले आते हैं, उन्हें समर्थ कहा गया है। वैखरी जप को मध्यमा में, मध्यम सेतु को पार करते हुये पश्यन्ति तक पहुँचाने के लिये मंत्रादि को अपने उद्देश्य में अवश्यमेव समर्थ होना चाहिये। व्याहृति विश्वत:क्रिय अवश्य है, किन्तु मंत्र-तंत्र-यंत्र के रूप में उसका व्याहरण (special accentuation) करना पड़ता

है। यह स्मरण रक्खो कि भूः व्याहृति में उक्त त्रिधा आहरण है। अर्थात् यह व्याहृति एक साथ ही मंत्र-यंत्र-तंत्र तीनों है। Potancy—Potantial (Field)—Power (What does work) ये तीनों भूः व्याहृति में सन्निहित हैं। अथवा यह भी कह सकते हैं कि Force, Field, Function. व्याहृति के यज्ञवाराही तनु, ब्राह्मी तनु के रहस्य की इस कारिका द्वारा भावना करो :—

अभजदणु तनुं वो ब्रह्मरूपां निगूढां
त्रिभुवनमखक्लृप्त्यै व्याहरंस्तां हकारः।
अरणिरभवद्रूत श्चोर्ज्जिता मन्थभूतात्
स्वरहविरभिषेके राददीप्यग्निजाया ॥३२॥

"भूः" रूपी आदि व्याहृति के 'व' करादि वर्ण की मूल व्यंजना

"भूः" के अन्तर्गत् 'व' कार ने कैसे तनु धारण किया है? सूक्ष्मातिसूक्ष्मा, निगूढ़ा, ब्रह्मरूपा "अणु" रूपी जो तनु है, उसी का उन्होंने परिग्रह किया है (अभवत्)। अन्तर्बहि सर्वविध सृष्टि के आदि में आधार रूप से, उपादान रूप से जो अखण्ड, सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्ताशक्ति है, उसे ही "व" जानो। उस अव्यक्त आधार में (वेदी में) त्रिभुवन सृष्टिरूप जो यज्ञ (मेघ) है, वह जिससे कल्पित होता है (उसकी अव्यक्त ही कल्पना करता है) उसके लिये क्या आवश्यक है? नाद अथवा महाप्राण शक्ति का वाक्रूपी जो "ह" कार है, उसके द्वारा उसका व्याहरण (विशेष रूप से एवं विशेष-विशेष केन्द्र के आश्रय से आहुति अथवा आहरण) होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर कौन होगा होता, क्या समिध होगा और क्या हव्य एवं हविः प्रभृति होगा? अतएव ऋग्वेद आदि ने प्रश्न किया है "किन्विदेवनम्" इत्यादि। वह कौन सा आदिम 'वन' है, जिससे आदि मधुकृत् प्रजापति ने आदि समिध् का संग्रह किया था? उस Primordial Creativity का मूल उपादान क्या था? देश? काल? सम्बन्ध? या और कुछ?

कैसे इसका उत्तर दिया जाये? अतएव वेद ने "किन्विदेवनम्" कहा है। यहाँ करिका का वही "व" वर्ण कहा गया है। अच्छा जब 'ह' 'व' को 'व्याहरत्' करता है, तब वही "भ" रूप से आदि समिध है। यदि समिध वन्हिगर्त्त में ही रह जाती है, तब भी कार्य नहीं होगा। उसे "अग्निन्धन" के रूप में अरणिरूर में उर्जिजता, उर्ज्जन्वती होना ही होगा। वह कैसे उर्जन्वती होती है, जानते हो? 'उतः मन्यभूतात्' मंथन दण्डरूप जो उर्ण है, उसके द्वारा मथित होकर वह उर्जन्वती होती है। "भू" तो मिला। किन्तु यहाँ तो 'वन्हिजाया' (स्वाहा) अरणि को 'समिद्धा', सम्यक् उद्यीपिता नहीं किया गया, जिससे विश्वभुवन यज्ञ में हविः, अभिषेक कर्म (हवन) निष्पादित हो सके। वन्हिबीज 'र' उसे हवन के निमित्त दीपिता करता है (अदीपि)। हविः के द्वारा हवन होगा, किन्तु वह कैसी

हविः है ? स्वर, स्वगत छन्दः से सहकृत जो रूति (स्व + रू) है, वही वाग्भव, वाचानुष्ठित विश्वयज्ञ में हविः रूप से कल्पित है।

भूरादि के अन्तर्गत् वर्ण यदृच्छा कल्पित नहीं हैं। कौन से राग की स्वरमयी मूर्ति तुलनीय है ? स्वरावयवः एवं स्वरावयवी का सम्बन्ध, पश्यन्ती ग्राम में कैसा दर्शन होता है ?

मालिनी छन्द में परिवेशित कई कारिकाओं द्वारा छन्दः के परिणयादि पंच-रूपों की विवेचना और व्याहृतिरहस्य साधारण रूप से आलोचित किया जा चुका। अंतिम कारिका में विशेषरूप से "भूः" का आविर्भाव हुआ है। उसके 'व' कार आदि अंग अथवा अवयव को यदृच्छाकल्पित (Arbitrary and Convential) मानना भूल है। ये वर्णसमूह यदृच्छाकल्पित संकेत ही नहीं है, जैसे गणित के X, Y, Z आदि Symbol होते हैं। मान लो कि किसी एक राग की स्वरलिपि (Notation) है। यद्यपि लिखित स्वरलिपि से दृष्ट छन्द का विन्यास कथंचित् प्रतिभात होता है, तथापि राग की स्वरमयी मूर्ति का अनुभव नहीं होता। उसे तो षड्जादि स्वर के माध्यम से ही दिखलाना पड़ता है। प्रणव, बीजमंत्रादि, व्याहृति आदि मौलिक स्वरावयव के ही अवयवी हैं। अवयवों का पारस्परिक रूप से एवं अवयवी के साथ प्राणिक (Organic) सम्बन्ध उसी प्रकार से रहता है, जैसे मुख्य प्राण के साथ प्राणायामादि का रहता है। तब क्या सब का लेखरूप है ही नहीं ? वह भी है। जप के पश्यन्ति ग्राम पर्यन्त उन्नीत हो जाने पर व्याहृति प्रभृति का केवल यथार्थ (समर्थ) शब्दरूप ही नहीं रहता, प्रत्युत उनका लेखरूप भी साक्षात् रूप से प्रत्यक्षगोचर होने लगता है तभी "ऋषयो मंत्रद्रष्टारः" की उक्ति कही गयी है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि पश्यन्ति में सत्य का "पैर धरने मात्र" और ऋत् का "सोलहो आना" आवरण उन्मोचित नहीं होता। वहां भी नूतन रूप से, नवीन भंगिमा में, नवीन व्यञ्जना में उस ख्यातिसप्तक को साधना पड़ता है। छन्दः पंचक को उत्तीर्ण करना पड़ता है। अर्थात् पश्यन्ति की कक्षा (Class) में उत्तीर्ण हो जाने पर भी 'भूः' से लेकर 'सत्यम्' पर्यन्त सब कुछ को नूतन रूप से आयत्त करना होगा। वहां भी परिणयी से प्रारंभ करके परम समन्वयी पर्यन्त समस्त छन्दों में बुद्धि को विशारदी होना होगा। इसीलिये जो व्यक्ति जपादि साधनों में लगकर किसी प्रकार एक-आधी बार मध्यमा सेतु के उस पार की सीमा तक ताक-झाँक कर आया हो, वहां से किंचिद् आलोक पुलक और रूपरस का आनन्द लेकर वापस आया हो, उसे तमस् के उस पार समुत्तीर्ण "आदित्यवर्णं पुरुषं महन्तं" रूप से अनाकुल दृष्टि महापुरुष नहीं कहा जा सकता। छांन्दोग्योक्त नारद-सनत् कुमार संवाद को देखो। प्रमोशन (उत्तीर्णता) पाये बिना सीमान्त पर ताक-झांक करने से विभ्रम तथा विपद् की ही आशंका अधिक रहती है।

इसके अनन्तर इन तीनों कारिकाओं के अर्थ का अनुधावन करो—

प्राण प्रयुक्तचिच्छक्तेरुर्जिजता स्फुटवृत्तिता ।
लम्बगा चापि मूर्धन्या भूरयं प्रत्ययस्ततः ॥
अरणि द्वे भकारे ये उकारान् मन्थनं तयोः ।
अयमित्यध्वरस्यास्य रकारादग्निदीपनम् ॥
प्रणवस्या 'म'योर्मध्ये चोकारः ह्रस्वमात्रकः ।
वायुब्रह्मण ईक्षाया 'यः' सन्नजायतोजितः ॥३३–३५ ॥

चित् और चिच्छक्ति । प्रकाश एवं विमर्श

इसके पहले जो कारिका व्याख्यात हो चुकी है, उसकी व्याख्या में यहां प्रथम कारिका के मूल तथ्य का प्रकाशन किया गया है। उसमें जिसे 'ब्रह्मरूपां निगूढ़ां अणुतनुं' कहा गया है, यहां पर उसे स्वरूपतः चिच्छक्ति की संज्ञा दी गई है। शुद्ध चित् सम्पर्क में व्याकृत (स्फुट उन्मीलित वृत्ति), अव्याकृत (अस्फुट निमीलित वृत्ति) प्रभृति भेदों की प्रसज्यता (Relevancy) नहीं है। क्योंकि चित् अथवा चैतन्य प्रकाशरूप है। शैवागमों ने जिस प्रकाश-विमर्श रूप द्वैध (Polarisation) की कल्पना किया है, वह चित् को चिच्छक्तिरूप से देख सकने पर ही संभावित हो सकता है। अच्छा, मान लो कि चिच्छक्ति अपने विमर्श के द्वारा स्वयं को सृष्टि की मूलभूत उपादान सामग्री (Primordial Cosmic Material as a whole) कर लेती है। यही वह अणुसूक्ष्मा निगूढ़ ब्राह्मीतनु है। यहां इसमें स्फुटवृत्तिता रूप उन्मीलन भी आवश्यक है। जैसे सुषुप्ति के अनन्तर जागरण ! समाधि के अनन्तर व्युत्थान। इस व्यापार में जो मूल निमित्त (Basic Factor) आवश्यक है, उसे प्राण (अथवा नाद) कहा जाता है। उससे प्राणयुक्त चिच्छक्ति की उपलब्धि होती है। इस प्रकार चिच्छक्ति ही स्वयं निखिल पदार्थों का उपादान तथा निमित्त है।

"विमर्श" शब्दाकृति का मौलिक विश्लेषण

विमर्श द्वारा भी उसी का संकेत दिया गया है। वि='व' के द्वारा उपलक्षित जो ब्रह्म की मूलोपादान सामग्रीरूपता है, उसमें "मर्श"=अर्थात् निमित्तोद्भावन पूर्वक सृष्ट्यादि रूप से वृत्तिमत्त्व। जैसे सुषुप्ति। सुषुप्ति में चित्त का जो मग्नभाव है, वही 'वि' है। जिस निमित्त के द्वारा इस मग्नभाव से पुनः भासमान, क्रियमाण भाव उद्भूत होकर जाग्रत होता है, वह है मर्श। बीज से अंकुर का दृष्टान्त लो। बीजमन्त्र द्वारा भी इसे समझने का यत्न करो। मर्शरूपी शब्द संकेत के द्वारा (Phonetic Formula द्वारा) भी यही निर्देश प्राप्त होता है। अन्त्यस्पर्शवर्ण म के द्वारा सूचित होता है कि वह 'तल' जहां स्पर्श, अथवा स्फुटवृत्ति (Manifest function) आकर अस्फुट (un-manifest) में लीन हो जाता है, वही निमीलन का स्थान है। इसी कारण माण्डूक्य आदि श्रुतियों में प्रणव के 'म' कार को सुषुप्ति का स्थान कहा गया है। तदनन्तर ऋ अथवा र मूर्धन्य। 'श'

तालव्य। इन दोनों की द्योतना भी स्पष्ट है। जो निमीलित है, उसे उन्मीलित करने के लिये किसी उर्ध्वतम अथवा साधिष्ठ धाम (Highest, Supreme) से मूल प्रचोदना (Original urge) का आगमन आवश्यक है। इसे चाहे ईक्षणादि कुछ भी कहा जाये ! यही है ब्रह्मवस्तु का तापसी तनु। इसके द्वारा जो संकुचित, निमीलित है, वह उन्मेष के निमित्त से जाग उठता है ("चीयते")। केवल एक बार सृष्टि के लिये नहीं, प्रत्युत् निखिल विकास के मूल में यही मूर्द्धन्यधाम (र—वन्हि) सतत अतन्द्रित, सजाग एवं सक्रिय है। हम तो व्यक्तमध्यमात्रदर्शी हैं। अतः सोचते हैं कि कमल का विकास सूर्यकिरण के कारण होता है। किन्तु दिवाकर उदित होता है, देदीप्यमान होता है किसकी किरणों से ? इसके लिये सविता के आदिवरेण्य भर्गः पर्यन्त जाना ही होगा। उसका ही "धीमहि" ध्यान करना होगा। मूल प्रचोदयिता वह भर्गः ही है, अन्य कुशल 'तल' (जैसे Concave Mirror द्वारा आलोक, ताप, ध्वनि की तरंग का अनुभव करना) में मूर्धन्यधाम सन्तति (Descending Cloud of Change radiation) को केन्द्रीण (Nuclear) धारा (Canalized) रूप में प्राप्त करना होगा। यह भी सार्वभौम विधान है, व्यभिचार नहीं है। तालु (तल शब्द के साथ इसका अन्वय करो) प्राणप्रयत्न द्वारा अभिहत (acted upon) होकर अपनी प्रतिक्रिया उक्त आकृति (Pattern) में व्यक्त करता है। अतः तालु को ही तल समझो। ओष्ठ-दन्त आदि के सम्बन्ध में हमने (इससे पहले) समझने का प्रयत्न किया है।

मूर्धन्य और लम्बगा वृत्ति। दोनों से अपेक्षा !

इस कारिका में लम्बगा शब्द है। मूर्धन्य ही तालव्य को प्राप्त करके कार्य सिद्धि करता है। फिर अब यह कौन है ? इसे जानना चाहिये। मेघ से निःसृत विद्युत मिट्टी में पड़ेगी। किन्तु मिट्टी की विद्युत को उसे ढकेल कर उठाना पड़ता है। यही सार्वभौम विधान है। तुम्हारे उपर किसी प्रकार की समर्था क्रिया होने के लिये लिये तुममे एक प्रस्तुति की अवस्था का होना अथवा आना आवश्यक है। इस पद्धति को प्रवणता (Proneness) भी कह सकते हैं। बीज रहने से ही पौधा नहीं उग जाता, उसकी नाभि से एक आवेग अथवा संवेग का किसी न किसी प्रकार से उत्थित होना आवश्यक है। उसे पूर्वकथित मूर्धन्यधाम की धारा में भी मिलित हो जाना चाहिये। 'परस्परं भावयन्तः'। गंगा जी तो हरजटाजाल से अवतरित होंगीं। फिर भी भगीरथ को तपस्या करना ही होगा। शंखवादन करते-करते आगे-आगे चलना ही होगा। जड़-प्राण, सर्वत्र यही नियम है। अच्छा ? भगीरथ की तपस्या की यह जो मूर्धन्यधाम से निकली धारा है, उसके बाहर, उससे अतिरिक्त भी कुछ और है ? अर्थात् ब्रह्म का जो तप है और जो तप भगीरथ का है, इन दोनों का क्या सम्बन्ध है ? इसका हठात् उत्तर दे सकना (कि द्वैत अद्वैत अथवा द्वैताद्वैत सम्बन्ध है) सहज ही नहीं है। यहाँ उसकी चेष्टा भी नहीं करना है। वास्तव में चाहे जो हो,

इन्हें व्यवहारतः "दो" के रूप में ही देखना होगा। जैसे पदार्थ विज्ञान में विपुल कास्मिक किरणों का एटमनिष्ठ Energy के साथ कोई ठीक सम्पर्क जुड़ता है, यह न समझ सकने पर भी उनका पृथक् भाव से गणित-हिसाब किया जाता है और काम चला लिया जाता है। इस उदाहरण को मूर्धन्य एवं लम्बग को पृथक करके दिखलाया गया है। इस प्रसंग में इन कारिकाओं की चिन्तना करो।

जो व्यक्ति स्वयं अवर (कार्पण्य दोष द्वारा उपहृत स्वभाव) है, क्या वह व्यक्ति आत्मा द्वारा 'वृत' होता है ? निष्कैतक अकिंचन को अवर नहीं मानना।

जटाजालान्तःस्था न बहति भूवीऽत्रिपथगा
बिना शंखध्मातं सगरकुलचूड़ामणिमुखात्।
दुहाना क्ष्मा नो चेद् गगनतड़ितः कुत्रकुलिशी
दिवोऽयां मुक्त्यै वा क्वचिदवरमात्मा न वृणुते ॥३६॥

गंगाजी तो त्रिपथगा हैं, किन्तु हरजटाजाल से होकर वे इस भूतल पर तब तक प्रवहमान नहीं हो सकती, जब तक (कृत कृच्छ्र तपाः) सगर कुलतिलक भगीरथी शंखध्वनि करके उनका (परम आग्रह से) आवाहन न करें। पृथ्वी (क्ष्मा) तब तक गगनावलम्बी जलद पटल की तड़ितराशि का स्वयं आकर्षण (दुहाना) नहीं करती जब तक कहीं पर रुद्ध पर्जन्यवारि के (दिवः अपः) मुक्ति दाता वज्रधारी देवता छिपे रहते हैं। अतएव जो व्यक्ति स्वयं अवर (कार्पण्यादि दोष द्वारा उपहृत स्वभाव है, और परम प्रयोजनरूप वर के लिए आग्रहान्वित तथा साधन तत्पर नही है), है, उसे (वह श्रुति प्रसिद्ध) आत्मा कभी भी वरण नहीं करता (यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः)।

पुनश्च दृष्टान्त अङ्कित है--
स्थिते पारावारे सुविपुलमहिम्नि क्वचिदपि किं
मरौ कश्चित तृष्णा-विधुर-मृति भाग्यं न भजति।
न चेद भानुः सिन्धुं प्रतपतिमयूखैर्जलमुचो
न वा सिञ्चत्यम्बु प्रसरति सरित किं झरमुखात् ॥३७॥
कृपासिन्धोर्नापो गुरुरविमृते यन्ति जलदं
त्रयीसन्देहाड्यं न सरति झरी वाऽमृतगिराम्।
पिपासार्त्ताः के वा भवमरुमृषावारिमृगणां
विहायासेवेरन् न चिर-करुणा स्निग्ध शमथम् ॥३८॥

श्री गुरु की माध्यमिकता-इसके अतिरिक्त परमवस्तु के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं होता

कहीं न कहीं महावारिधि अपनी विपुल महिमा के साथ विराजमान रहते

हैं, तथापि क्या कोई मरुस्थल के बीच निदारुण तृष्णा से कातर होकर मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं कर रहा है (और कोई-कोई दैव संयोग से तृष्णाकातर अवस्था में सागर के तट पर स्थित होकर (भाग्यदोष से) उस जल का परिचय अपेय लवणांबुराशि के रूप में प्राप्त करता है—as Blind, Brute, Cosmic Destiny)। यदि दिवाकर इस जलराशि को तापित एवं आकृष्ट करके स्वादुसलिलगर्भा मेघमाला की सृष्टि न करते, और वह जलद यदि धरणी पर स्निग्ध जलधारा का वर्षण न करता तब किस प्रकार गिरिनिर्झर के मुख से जल भरी नदियां तृष्णा आदि सन्ताप को दूर करने के लिए निकलती रहतीं।

अब इस वार दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक में जाने का यत्न करो। विश्वजनीन कृपासिन्धु (श्री भगवान की अनुग्रहशक्ति) तो समन्तात व्याप्त हैं ही। हमारी विमुखता के कारण वह प्रायशः अगोचर ऐसा नहीं है। वह विपरीत भाव में भी गोचर है। वह असीम कृपाराशि स्वयं ही घनीभूत, केन्द्रग होकर "गुरु रवि" रूप से समुदित होती है। तभी महासमुद्र की अनवगाह वारिराशि मेघरूपता को प्राप्त हो जाती है। (जलदंयन्ति)। वह जलद कैसा है ? निखिल कर्म-उपासना ज्ञानकाण्ड की त्रयी (वेद) के सन्दोह से वेद की सम्यक् सारवस्तु के द्वारा "आढ्य समृद्ध जलराशि की प्राप्ति होती है। अर्थात् तभी उस मेघ से जीवों का चतुर्वर्गादि वर्षण संभावित हो जाता है। यह न होने पर अमृत अभयवाणी की झरी (निर्झर) उत्सरित नहीं होती। सभी पिपासाकातर होकर इस भव मरुभूमि की मिथ्या मरीचिका के पीछे धावमान होते हैं (भवमरुभृषावरि की मृगया, उसका अन्वेषण करते रहते हैं)। अतः इस निदारुण मृषावारिमृगया (मृगमरीचिका) से छुटकारा पाने (विहाय) के लिये कौन उन (श्रीगुरु) की सर्वतोभाव से सेवा करते हुए चिरकरुणास्निग्ध शान्तिधाम को नहीं पाना चाहेगा ? (शमथ—शान्ति योगवाशिष्ठोक्त अंन्तः शीतलता)

श्री गुरु प्रदर्शित साधन सरणि (षट्सम्पत्ति)

मूर्धन्य तथा लम्बग से मानो 'हाथ मिलाना चाहिये' इसी तथ्य का निवेदन करने के लिए कतिपय करिकायें हैं। ब्रह्म जिज्ञासा के अधिकार का निरुपण करते-करते आचार्यों में से कतिपय आचार्यगण नें शम-दम आदि षट्संपत्ति का विवरण अंकित किया है। ये सभी साधन चतुष्ठय के अन्तर्गत हैं। इन सब की सहायता से लम्बगा और मूर्धन्या से हाथ मिलाया जाता है।

बहिर्द्वारि द्वौ यौ व्यवसितधियौन्तः प्रहरिणौ
विजिज्ञासस्व किं कुशलमभितस्तौ शमदमौ।
ततऽ श्रद्धाविद्ये उपनिषदिनिष्ठा मतिमतां
ध्रुवं वेदान्तान्तः समधिगमनं वो विदधतु ॥३९॥

बाहरी द्वार पर जो दो स्थिर बुद्धि प्रहरी रहते हैं, उनका नाम है शम एवं दम। पुर में प्रवेश करने से पूर्व इन दोनों से जिज्ञासा करो कि क्या चतुर्दिक कुशलता तो है न ! 'ततः' उनसे कुशलवार्त्ता के अनन्तर विद्या-श्रद्धा और उपनिषद् (उनमें निष्ठा) नामक तीन अन्तःपुर प्रहरिणी को प्रसन्न करो (इनका नामान्तर है श्रद्धा, तितीक्षा, उपरति, समाधान) । इन्हे प्रसन्न करके तुम मतिमान हो जाओगे। तुम तब तक मतिमान नहीं हो सकते, जबतक सर्वश्रुतिशिखास्वरूपा वेदान्त द्वारा स्वरूपावबोधक महावाक्यों का निगूढ़ लक्ष्यार्थ इन तीनों की कृपा से समधिगम (श्रवण, मनन, निदिध्यासन युक्त साक्षात्कार अथवा उत्तमाधिकारी के लिये सुनने मात्र से साक्षात्कार का हो जाना) न हो जाये। इनकी कृपा के अभाव में यह समधिगम नहीं हो सकता।

अतएव शमदम सुरक्षित (कुशल); "भद्र" होकर ब्रह्मान्तःपुर के द्वार पर पहुँच जाओ। वहाँ श्रद्धा, विद्या एवं उपनिषद की उपासना से विरजाः मतिमान हो जाओ। और जो तीन अन्तःपुर के द्वार रक्षक हैं (सन्धि समन्वय पूर्वक) वे तुम्हे निःसंशय (ध्रुव) तथा 'वेदान्तान्तः समाधिगम' का उपाय सम्यक रूप से प्रदान करें। उसका विधान (विदध) करें।

षष्ट समुच्चय

जब तक जपादि साधन रूप उपासना काण्ड में स्थित हो, तब तक षट्सम्पत्ति-रूप यही षट्समुच्चय आवश्यक है। समुच्चय का अर्थ है किसी एक के द्वारा अन्य का सम्यक् उच्चय, (heightening of efficacy, Cumulative effect) संसाधन। कर्म से कर्म का, भाव द्वारा भाव का और ज्ञान से ज्ञान का त्रिविध समुच्चय सदृश समुच्चय है।

इसके अतिरिक्त और भी तीन अन्योन्य समुच्चय की स्थिति है। (शारीरकादि के ज्ञान कर्म समुच्चय का विचार उपासना स्तर में प्रयोजनीय नहीं है)। भूरादि व्याहृति में से प्रत्येक का तथा सम्मिलित रूप से संवाद, समुच्चयी, समन्वयी (ऋग्वेद में 'संगच्छध्वं संवदद्धं' इत्यादि का बीज रूप से अनुवाद (rendering) को स्थानान्तर में सम्यक् रूप से आलोचित किया जायेगा। यज्ञ के रूप में भी इस त्रिवेणी का समाश्रय करो।

यागायानलनी वनेचरगृहात् कोऽग्नीन्धनं चाययेन्
नो चिन्वन् समिधो वनात् किमनली यज्ञाग्निमुद्दीपयेत्।
काष्ठैः सत्यनले चितेऽपि हविषा हव्यं न चेदाहुतं
यत्नेनालमत स्त्रिवेणिमिहि भो इज्यं विभर्तुं त्रिभिः ॥४०॥

समुच्चय के निर्देश से योगानुष्ठान का दृष्टान्त, समिध्— अग्नि—हविः की त्रिपुटी

जो योगानुष्ठान करेगा, यदि उसके पास अग्नि नहीं है अथवा यदि वह अग्नि का चयन करने में असमर्थ है (अननली), वह वनसंकुल कान्तार से (राशि-राशि) अग्नि के इन्धन (काष्ठ) का आहरण क्यों करेगा ? और जिसे अग्नि मिली है (अनली), यदि वह वन से यथेष्ठ समिध का आहरण करने में अक्षम है, तब अपनी यज्ञाग्नि को सम्यक् रूप से कैसे उद्दीपित करेगा ? पुनश्च, काष्ठ भी है (सति), अग्नि भी मिल गई है (चिते), तथापि हवनीय सामग्री की आहुति देने के लिये यदि आवश्यक हविः नहीं है, तब तो सभी यत्न ही निष्फल (यत्ने नालं) हो जाते हैं। अतः हे इष्टिकाम ! (भोः) त्रिवेणी तीर्थ जाओ (त्रिवेणीमिहि)। क्यों जाओगे ? तुम्हारे इज्य, याग का इन तीनों के द्वारा भरण करने का स्थान है यही त्रिवेणी तीर्थ (इज्यं विभर्त्तुः त्रिभिः)।

इस तीर्थ में अग्नि, हविः और समिध का एकत्रीकरण है। इस त्रिवेणी को त्र्यक्षर, (त्रिमात्रा अर्थात् प्रणव की त्रिमात्रा, अर्धमात्रा एवं अमात्र), विद्या-श्रद्धा-उपनिषद्, योग-भक्ति-ज्ञान इत्यादि अभीष्ट रूप में भावना करनी चाहिये। राशि-राशि कर्म किया गया, किन्तु भावभक्ति रूपा हविः और निर्मल ज्ञानरूपा अग्नि के अभाव में कर्म का असहनीय बोझ बढ़ता ही जाता है। पक्षान्तर से निष्काम कर्मयोग के शुद्ध आधार में भाव तथा ज्ञान को धारण करके इनका भरण करना ही होगा। भूरादि व्याहृति में इस त्रिवेणी को विराजमान जानों।

'भूः' व्याहृति की वर्णव्यञ्जना परिस्फुट है

लम्बगा का एक रूप है व्यष्टि कुण्डलिनी का उत्थान और मूर्धगा का रूप है समष्टि (महा) कुण्डलिनी का अवतरण। इन दोनों को मिला देना चाहिये। इनके मिलन के अभाव में माध्यमिक विष्णु ग्रंथि का उन्मोचन नहीं हो सकता। अतः पूर्वोक्त तीन कारिकाओं में से प्रथम का अर्थ इस प्रकार से प्रस्फुटित होता है—चिच्छक्ति ने प्राण प्रयुक्ता होकर ब + ह = भ रूप धारण किया। उ वर्ण द्वारा 'लम्बगा' तथा मूर्धन्या से सम्मिलित होकर उसने स्वयं का व्यक्तीकरण 'भूः' रूप से किया। इस व्याहरण के फलस्वरूप 'अयं' रूप प्रथम (व्याप्ति प्रत्यय) सम्भावित हुआ।

जपयज्ञ की भावना कैसे करें ? प्रणवजप का दृष्टान्त। अर्ध मात्रा हविः

प्रणव साधना का जो तीन पर्व है, उन्हे अर्थात् त्रिमात्रा, अर्धमात्रा एवं अमात्र को मिलाकर जपयज्ञ की भावना करो—

जपं स्त्रिस्त्रोमात्राः प्रणवजपयज्ञेषु समिधो
मनोवाक्यप्राणाट्विचयनात् काम मवहः ।
न चेदर्द्धामात्राऽ भवदपि हविस्ते किमकरो
रमात्रं तच्छान्ते जिगमिषुरनाज्याहुतभुजा ॥४१॥

तुम प्रणव जपकारी तो अ-उ-म इन त्रिमात्रा का बहुशः जप करके वाक्, प्राण एवं मन की गहनाटवी (अव्यक्त स्पन्द अथवा संस्कार भूमि) से चयन कर करके यथेष्ठ (कामं) समिध् (जप संस्कार राशि) को लाये (अवहः)। किन्तु भूल गये कि तुम्हारा परम गम्यधाम कहाँ है ? वह तो अमात्र तथा मात्राओं से अतीत है, जिसे श्रुति एवं आत्म प्रत्यय ने 'शान्त शिवमद्वैतं प्रपञ्चोपशमम्' रूप से जाना है। उस धाम में गमनेच्छु (जिगमिषु) तुम (अपने यज्ञ समापनार्थ) क्या कर रहे हो। (किमकरोः)। यदि सम्पुटित नादविन्दु रूपा (अनुच्चार्या) स्वयं अर्धमात्रा तुम्हारे इस यज्ञ में स्वयं को हविः रूप में कल्पित न करतीं (अभवदपि हविः); अर्थात् अर्धमात्रा यदि स्वयं सन्धि तथा सेतु रूपा होकर तुम्हारे द्वारा एकत्रित समिधराशि (क्रियादि संस्कार, वाक् प्राण, तथा मन में संग्रहीत) और तुम्हारे द्वारा संचित अग्नि (अधीत विद्या, परोक्षज्ञान आदि) से यज्ञशेषामृत शान्त स्वरस आत्मा की अपरोक्षानुभूति की सम्यक् योजना न कर देतीं, उस स्थिति में तुम क्या करते ? अतः अर्धमात्रा रूप हविः के अलभ्य रह जाने पर केवल त्रिमात्र रुप समिध राशि को लेकर आज्यहीन अमात्ररूप इस परमभूमि की प्राप्ति कर सकना असम्भव होता ! भावरस के दृष्टिकोण से भी जपयज्ञ की भावना की विवेचना आगे होगी।

आदिव्याहृति भूः (अयं प्रत्यय) रूपेण सृष्टियज्ञ भावना

आदिव्याहृति "भूः" रूप से सृष्टि यज्ञ की इस प्रकार से भावना करोः—

वनं किं स्वित् तस्यै भुवनरचनायै मखकृते
किमाधारा धन्ते समिध इह वेदिः प्रथमतः ।
कुतो व यज्ञीयारणिमिथुनमन्थोऽस्त्यनलचिद्
हविर्वा हव्यं वाऽयमिति मितिभृद् भूरिति बिना ॥४२॥

ऋग्वेदादि जिज्ञासा करते हैं—वह कौन सा वन है जो आदि मख (यज्ञ) कारी के लिये (मखकृते) कल्पित हुआ है ? क्यों हुआ है ? वे उससे अपने यज्ञ के लिये समिध का आहरण करेंगे। यह यज्ञ क्यों है ? यह है उस आदि भुवन रचना के लिये। अच्छा, समिध तो मिला परन्तु वेदी किस आधार पर कल्पित हो ? भुवनों की जो आधार वेदी है, उसमें भुवनयाग के उपकरण समूह थे। किन्तु वह आधार वेदी है, स्वयं किसके आधार पर रहेगी ? (अनवस्था नहीं कही जा सकती, आधार तो एक चाहिये ही)। तदनन्तर यज्ञीय अरणिमिथुन मन्थन कर्म करके उसमें अग्नि

चयन करना पड़ा, तथापि क्या यह जानते हो कि मन्थनकारी का मन्थनदण्ड कहाँ है? (अर्थात् उसका जो मिथुनी भाव है, Primordial Polarisation है, उसके मन्थन Co-evolving के लिये किसी एक समर्थ उपाय की अवश्य कल्पना की गई है। किन्तु वह कहां है ?

अथवा कहाँ से आता है। क्या मात्र यही है ? मूल हविः अथवा हव्य कहाँ रहता है। कहाँ से आता है ? इन सब बातों की जिज्ञासा का एक साथ उत्तर देने पर कहना होगा कि अयं प्रत्यय की बीजभूत जो "भूः" नामक अव्यय आदिम व्याहृति है, उसके बिना यह सब कुछ सम्भावित नहीं होता। जबतक कोई अव्यक्त, अव्याकृत सत्ताशक्ति स्वयं को "यह है" कहकर उपस्थित, हाजिर नहीं कर देती, तबतक (उपादान होने पर भी) कार्यतः वह उपकरण (वन एवं समिध) नहीं होता।"यह है" रूप से प्रतिभात न होने तक अधिष्ठान और सम्यक् आधार नहीं बन पाता। और "यह है" रूप से प्रकट कार्यकारी न होने तक कोई भी सम्भाव्यता (Potentiality) ही व्यक्त, समर्थ उपाय रूप (Means, Instrument) नहीं होती। और अन्त में हविः एवं हव्य (प्राण एवं प्राणीय, नाद एवं ध्वनि, Energy and Mass, power and pursuit इत्यादि) को इस प्रकार से उद्भूत (evolved) होना चाहिये कि "यह है"। अतः यह देखा जाता है कि अयं रूप से जो आविर्भाव है और जो मिति (Measure, manifestation) है वह समस्त विशिष्ट उद्भवों के आदि में है।

इसे "भूः" जानो। इस प्रकार से मौलिकत्व के कारण "भू" व्याहृति ने गायत्री जपादि सर्वविध यज्ञ के मूल में स्थान प्राप्त किया है।

मूर्धन्या ओर लम्बगा कारिका का मर्मार्थ

इस प्रकार पूर्व कथित उन दो छोटी कारिकाओं का मर्मार्थ सम्भवतः सुखबोध्य हुआ। ओष्ठवर्ण जो भकार है, वह उत्तर एव अधः ओष्ठद्वय के रूप में मानों अरणि मिथुन रूप हुआ। (जैसे धन एवं ऋण रूपद्वय धारण)। लम्बग रूप जो उ वर्ण है, वह अरणिद्वय के मन्थन दण्ड रूप में कल्पित हुआ। (किम्बहुना यह तुम्हारी कल्पना है, मेरी नहीं है)। उसके फलस्वरूप र कार रूप से अग्नि उद्दीपित होकर अयं रूप अध्वर. यज्ञ को विस्तारित करता है।

'अयम्' वर्णपुट कैसे आया ?

नादब्रह्म प्रणव है। तब यह अयं क्या है ? प्रणव की अ, उ, म तीनमात्रा के मध्य में मध्यमात्रा उ है। यह 'य' आकार में विवर्त्तित होती है। क्यों ? ब्रह्म के वायुरूप ईक्षण का फल जो वायुबीज 'य' कार है, वह उ कार स्थल में प्रविष्ट होता है। फलतः अ ऊ म होता है 'अयम्'। अतः अयम् शब्द तो रहस्यपूर्ण है। इसे इदं

शब्द के पुल्लिग के प्रथमा का एकवचन मात्र ही नहीं समझना। ब्रह्म का वायुरूप तथा वायुरूप से ईक्षण, इन दोनों को समझने का प्रयत्न करो। इस प्रसंग में प्रथम खण्ड के उपोद्घात के तीसरे श्लोक को व्याख्या के साथ पुनः देखो।

ब्रह्म का अक्षररूप में ईक्षण

ब्रह्म के इस प्रकार से अक्षररूप से ईक्षण की निम्नोक्त कारिका द्वारा भावना करो :—

ब्रह्मत्वं वियदः श्रुते निर्गमनाद् युक्तेश्च भूतेक्षणा
दीक्षाणं ह्यनिले हुताशपयसोर्मह्या किमान्ध्यं गतम्।
नादोऽभूद् हयरादिकाक्षरवृषश्चाक्षिप्त बीजं गवि
वाचं कामदुधामदुग्ध सुरसां यागं चिकीर्षुस्ततः ॥४३

श्रुति समूह में वियद एवं ब्रह्मत्व कथित हुआ है और ब्रह्मसूत्र तथा उसके भाष्य में इसे युक्तियों के द्वारा उपपादित भी किया गया है। "ब्रह्म ने ईक्षण किया" केवलमात्र यही श्रुत है, ऐसा नहीं। ब्रह्म के ईक्षण के द्वारा जो जात हुआ (पंच-महाभूत जात हुआ), वे उसका मी ईक्षण करते हैं, यह भी कहा गया है। अतएव (भूतेक्षणात्) ईक्षण द्वारा सूचित जो ब्रह्म है, वह वियदादि सृष्टि परम्परा में आ जानेपर भी बाधित नहीं होता। यहां यह प्रश्न उत्थित होता है कि ब्रह्म का यह ईक्षण आकाश, वायु, तेजः एवं अप् (हुताशपयसोः) में अबाधित रहता है, तथापि पंचभूत का जो शेष रूप पृथ्वी है, क्या वहां आकर यह ईक्षण अन्ध हो जाता है? अर्थात् पृथ्वीरूप में ब्रह्म का और ईक्षण नहीं है? उत्तर यह है कि यह ईक्षण (जगत् के पहले और पश्चात् में व्याख्यात) नियत है। ईश्वर का वस्तु-छन्दः एवं आकृति भले ही भिन्न हों, किन्तु सामान्य रूप से ईक्षण तो समष्टि-व्यष्टि निखिल विश्वव्यापार के मूल एवं आधाररूप में रहता है। बीज से अंकुर होगा-यहां भी वही ईक्षण है। हमने इससे पहले यह देखा है कि उँकार रूप में मात्रा-पाद-कला-काष्ठा रूपी चार पर्वों में एक बीज का भी विकास हो रहा है। इस विकास की सम्यक् अभिज्ञता के लिये इन चारों पर्वों का विश्लेषण करना ही होगा।

अच्छा, ईक्षणोपाधिक ब्रह्मत्व यह कर्म (योग) है। इसका निमित्त है नाद (अभूत्)। यह नाद कैसा है? ह, य, व, र, ल, मुख्यतः ये पांच अक्षर सब कुछ में, वाक्य में, वाक्रूपा गाय में, तेजः अथवा बीजरूप से निषेक के निमित्त वृष स्वरूप (हयरादिकाक्षर वृषः) हैं। नाद वृष रूप से क्या करता है? वह वाक्रूपा गौ में (उक्त हकारादि) बीज प्रक्षेप करता है (अक्षिप्त बीजं)। फलस्वरूप वाक् ही कामदुहा सुरसा हो जाती है। अतएव यागादि को सम्यक् रीति से सम्पादन करने की इच्छा से (यागं चिकीर्षुः) इस गाय का दोहन करते हैं (अदुग्ध)।

वियदादि एवं सभी के बीज जो सर्वत्र अनुस्यूत हैं

रहस्यभाषा में रचित इस कारिका के मर्म का अनुधावन करने का यत्न करो। यह वियदादि पंचतत्व ब्रह्म के ईक्षण का ही विशेष रूप है। हयरादि उसके स्वाभाविक शब्द अथवा बीज हैं। वियद आदि उपादान रूप से सृष्टि में सर्वत्र (बाहर एवं भीतर) अनुप्रविष्ट हैं। उनके बीजसमूह भी उसी प्रकार से वाक् में और वाग्भव प्रपंच में अनुस्यूत हैं। परिणामतः प्रत्येक वाक् (व्यक्त अथवा अव्यक्त आकार में) में इन बीज पंचक के उपादान एवं निमित्त (Material and agency) की सत्ता रहती है। चाहे जिस मंत्र का जप करो, उसे आकाशादि पंचतत्व में एवं हकारादि शब्दावयव के विश्लेषण के साथ जानना चाहिये। जप में कोन सा तत्व प्रधान है और कौन बीजाक्षर प्रधान रूप से है, यह जानना आवश्यक है। एक-एक तत्व का प्राधान्य लक्षण एक-एक प्रकार का होता है।

बीजमंत्रों का उदाहरण

"हंसः, हौंसः, हौं, हुं, ह्लूं" इत्यादि में ह को साक्षात् आधाररूप से देखा जाता है। इतने पर भी जपकर्म में आकाश तत्व की ही प्रधानता है, और यह प्रधानता नहीं भी हो सकती है। यद्यपि H तथा O जल के उपादान हैं, किन्तु दोनों के धर्म उक्त संयोग के कारण मानो तिरोहित हो गये हैं। कतिपय नूतन धर्म आविर्भूत हो रहे हैं। अतः हकारादि किसी भी मंत्र की उपलब्धि करने पर यह नहीं सोचना चाहिये कि वे आकाशधर्मी है। अवयवी अपने अवयव समूह के गुणों एवं धर्मों की सीधे-सीधे समष्टि नहीं कर लेता। इसीलिये "हंस" मंत्र के जापक क्षितितत्व में स्थित रहते हैं। उपयुक्त छन्दः (मात्रादि परिणाम, अनुपात) द्वारा उसे क्रमशः उपर के तत्वों में (उद्धार तथा चेतना द्वारा) खींच लिया जाता है। इसी प्रकार से ह्रीं अथवा ह्रौं बीज में 'र' की उपस्थिति देखने मात्र से ही उसे अग्निप्रधान कहना उचित नहीं है। छन्दोविन्यास की भंगी विशेष से वे अग्निप्रधान होते हैं। लक्ष्य करो कि प्रणव के 'अउम' में ह अथवा य प्रविष्ट होकर किस प्रकार से 'अहम्' अथवा 'अयम्' रूपी विशिष्ट शाब्दिक आकृति (Functional Pattern) की सृष्टि करता है। 'हंस' में प्रणव स्वयं प्रविष्ट होकर "हौंसः" हो जाता है। संयोग की ही तरह वियोग भी होता है। जैसे कि हंस मंत्र में ह कार लयप्राप्त होकर क्रमशः अर्धमात्रा में पर्यवसित हो जाता है। तत्पश्चात्? इस सेतु का समाश्रय परम अव्यक्त है। 'सोऽहम्' से स एवं ह का त्याग कर देने पर वह 'उम्' हो जायेगा। 'गोविन्द हरि-बोल' इत्यादि जपों में परम का वाचक यही ऊँकार हो हो जाता है।

छन्दों का विरचनी तनु

छन्दः तो परम का ही विरचनी तनु (creative vehicle and Embodiment) है। जपसूत्र का एक लक्षण है "छन्दो व्याकरणं प्राणानाम्"। भाव

एवं ज्ञान (उपयुक्त आकार में) को यह विरचन कर्म, प्राणों का यह व्याकरण सौष्ठव के साथ संचालित कर लेता है। अर्थात् जपादि क्रिया को युगपत् रूप से नामग, अध्वग एवं धामग कर लेता है। वर्त्तमान युग में मशीनों के द्वारा मस्तिष्क का अपना कार्य कराने का प्रयास वैज्ञानिकगण कर रहे हैं, परन्तु अभ्यारोही जपकर्म का सौष्ठव मशीन द्वारा नहीं हो सकता। अतः भाव एवं ज्ञान को पकड़ कर रक्खो अब विवेचन करो भूः रूपी आदिम व्याहृति में 'व, ह, र रूपी तीन व्यक्तभाव प्रविष्ट हैं और 'य, ल अव्यक्तरूपेण निहित है। 'र' के पीछे 'ल' छिपा रहता है, य उ की आड़ लिये रहता है। इस आड़ को जानना होता। क्या र, ल का आपसी अभेदत्व केवल काल्पनिक है? और ऊ को (दीर्घ ऊ) य ध्वनि में सन्निविष्ट ई का आश्रय लेना होता है? ऐसा न करने पर भूः में जो लम्बगा वृत्ति (Virtcial Component) आवश्यक है, वह नहीं आती। उ तथा ऊ, दोनों ही ओष्ठ वर्ण हैं। उसमें सामतालिकी वेध वृत्ति (Horizental Cum depth Component) का प्राधान्य है। इससे एक स्पष्ट लम्बग-सहग उद्भूत होने में (तालव्य) ई का अनुग्रह आवश्यक है। उ एवं ऊ दोनों का उच्चारण करने के लिये प्राणिक वृत्ति के गतिमुख चित्र (Vector graph) को मनश्चक्र में देखने का यत्न करो। (गणितीय Vector Triangle इत्यादि का इस प्रसंग में विचार करो) स्वर वर्ण में अ, इ, उ की त्रिपुटी मौलिक (Primary) है। मुख्यतः यथाक्रमेण तल-लम्ब एवं वेध की त्रिमुखी वृत्ति इन्हें प्राप्त है। ह्रस्व-दीर्घ तथा प्लुत रूपी त्रिविध मात्रा में इन-इन वृत्तियों का उन्मेष साधित होता है। जैसे प्रणव का उकार! इसके ह्रस्वमात्रिक उच्चारण में वेधवृत्ति (Depth Action) आरब्ध हो जाती है। दीर्घमात्रा में वह वर्धित होती है। उसके साथ लम्बवृद्धि संयुक्त होती है। प्लुतमात्रा में तल, लम्ब वेधवृत्ति की विवृत्ति घटित होने लगती है। तब वाराही शक्ति का महाचक्र द्रष्टा मन्त्र में निहित वस्तु को सकृद्घृत करने में प्रवृत्त हो जाता है।

गतिमुख के सन्धानी जप, मात्रा के आलय एवं मात्रा का लय कहाँ होगा ?

केवल जप करने से क्या होगा? उक्त गतिमुख का सन्धानी होकर जप करना होगा। भगीरथ ने तो दिव्य शंख बजाते हुये जान्हवी को पथ दिखलाया और आगे ले जा रहे हैं, किन्तु पथहारा (पथ विस्मरण) का भी उपद्रव प्रचुर रूप से विद्यमान है। अतः मुसाफिर होशियार! इस कारिका का चिन्तन करो—

हन्सोहन्सः इति ध्वनिं धमसि किं नादंन शुश्रूयसे
नादं त्र्यक्षरकं सदा नदसि किं बिन्दुं न जिज्ञाससे।
बिन्दोर्व्याहरणे क्षमो न सरणिं पाराय सुस्मूर्षसे
पारं वापि दिदृक्षसे यदि कथं मात्रालयं मित्ससे ॥४४॥

तुम भी तो नासाविवर रूपी शंख से हंस-हंस ध्वनि करते रहते हो (अजपा जप)। अथवा संज्ञानावस्था में इस मन्त्र को जपते रहते हो। इस हंस का गतिमुख किस दिशा में है, क्या इसका संधान किया है ? इस ध्वनि में जो नाद भगीरथ के मुख से (प्रणवात्मिका शंख ध्वनि) सन्निविष्ट है, क्या उसे सुनने की इच्छा करते हो ? हंस का ह एवं स उसमें लीन होता है ! और तुम तो नाद साधक हो, अ, उ, म त्र्यक्षर की ध्वनि तो सदा हो रही है, तथापि जो सूक्ष्म चरम घनीभाव है, जो तुम्हारे अभिव्यक्त नाद का पर्यवसान है (पुनः उस उदात्त शंख ध्वनि का चिन्तन करो), उसकी जिज्ञासा करने की इच्छा तुमने किया है ? पुनश्च, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म विन्दु का व्याहरण (विशेषतया आहरण) करने में तुम समर्थ हुये किन्तु बिन्दु की चरम सीमा तो वह अव्यक्त परमता नहीं है। अर्थात् दिन्दु के भी पार जाना होगा—क्या यह याद करने की इच्छा करते हो ? मानलो कि इच्छा करते हो फिर भी सत्य के उस चरम पार को जानने की इच्छा करो, तब देखो, मात्रालय के स्थान में भी परिणयादि की इच्छा क्यों ? जहाँ सभी मात्रायें लयीभूत हो जाती हैं, अथवा जो सभी मात्राओं का आलय है—अधिष्ठान है, वह तो अमात्रम्, अनिरुक्त, अलक्षणा, अव्यवहार्य है। अतः अमेय है। वहाँ भी तुम अपने मापदण्ड को चलाना चाहते हो ? जो समस्त प्रपंच वाक् एवं बुद्धि का विजृम्भण रूप (द्वैत) है, उसका उपशम स्थल है, वहाँ प्रमाण-प्रमेयादि व्यापार शान्त हो जाते हैं। हे सुधी साधक ! स्वाभाविक अजपा से आरम्भ क ते हुये इस शेष पर्यन्त के मार्ग पर चलते-चलते गतिमुख देखते चलो। सावधानी से चलो ! (पुस्तक के 'अद्वैत द्वैतादशक्रम' प्रकरण मे 'प्रणवधनु' से उकारादि क्रम से ज्या आरोपण करते हुये नादादिलक्ष्य बेध का प्रसंग अंकित है। 'नादानुसन्धानाष्टकं प्रकरण में अवर सन्धि तथा वर सन्धि प्रभृति का भी प्रसंग है, इन सबसे गतिमुख का निर्देश प्राप्त होता है।)

व्यष्टि जप तथा वैराज जप

केवल व्यष्टि जप होने से क्या होगा ? वैराज्य जप को भी पाना होगा। जब तक इसे प्राप्त नहीं करोगे, तब तक तुम छन्द के शेष दोनों सोपानों पर अधिरूढ़ नहीं हो सकोगे। नीचे के ढालुआ, काई युक्त (शैवालयुक्त) सोपान पर स्थिर होकर खड़े हो सकना सम्भव नहीं है। मान लो कि तुम उत्तराखण्ड में अलकनन्दा के तट पर समासीन हो। अन्तर्हवन कर रहे हो। मन्त्र है "ॐ भूः स्वाहा"। क्या यह मन्त्र झंकार तुम्हारे अपने सेट किये गये यन्त्र के द्वारा बजेगी ? बाह्य विश्व में यह महाव्याहृति हवन अविराम चलता रहता है। उस विराट की झंकार से जब तक तुम्हारी अपनी झंकार सर्वथा नहीं मिल जाती, तब तक क्या यह सोचते हो कि तुम्हारी छंद साधना चरितार्थ हो सकेगी ?

वैराज हवन किस आधार से कैसे करना

अव इस कारिका का चिन्तन करो—

ऊमीत्येव नमच्छ्रुतं किमपिते व्योमाक्षरं शाश्वतं
तूष्णीं व्याहरणं च भूधरवरादूर्ज्जस्वराद् भूरिति।
स्वाहेति स्वरितैः सदा सुरधुनी तुङ्गाद्रिसानुस्त्रुवा
वैराजं सवनं स्वरैर्वितनुते किन्ते श्रुतं वाध्वरे ॥४५॥

अक्षरात्मा व्योम में शाश्वत नाद के आधार रूप से जिस ओंकार की स्थिति है, उसी आधार से निखिल वाक् प्रपञ्च का उदय स्थिति तथा अवसान होता है। हे अन्तर्होमकृत् ! तुम क्या उस व्योमरूपी ऊँ को सुनते हो ? 'उमेव व्योम' व्योमरूपी को सुने विना तुम्हारी श्रुति खण्डिता स्वल्पा तथा व्याहता है। अथच तुम चाहते हो 'दिवीव श्रुतिरातता'। तदनन्तर मूर्त्तिमान् उर्जाराशिरूप भूधरों में श्रेष्ठ हिमालय की तूष्णि अथवा मौन व्याहरण को क्या तुमने इस 'भू' व्याहृति द्वारा सुना है और स्वयं स्वर्ण मण्डित तुंगगिरि भी सानुश्रुवा होकर 'स्वाहा' रूपी ओजस्वी वाक् स्वरित (लुप्त) स्वर द्वारा 'महतो महीयान' विराट हेतु जिस अनिर्वाण हवन को कर रहे हैं, क्या उस अविश्रान्त अव्यग्गेज्याः 'स्वाहा' ध्वनि को तुमने अपने होम में सुना है ?

श्रीश्रीचण्डी का उदाहरण

यह बाद में विवेचित होगा कि श्री श्री चण्डी में देवी की अन्तिम स्तुति में जिन ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी प्रभृति नारायणी शक्तियों की वन्दना की गयी है, उसमें प्रत्येक के वैराजजप का रहस्य संकेत निर्देशित किया गया है। जैसे 'हंसयुक्त विमान' विश्व भुवन में जो कुछ प्राणशक्ति से स्पन्दित हो रहा है। (अण्यते प्राण्यते) उस अजपा स्पन्दन में ब्रह्माणी (सावित्री अथवा प्रणव) अवश्यमेव प्रतिष्ठित हैं, किन्तु वे निगूढ़भाव से प्रतिष्ठित हैं। उन्हे विमानस्था विशिष्ट मान अथवा मात्रा में, अर्थात् जप में) अधिक रुढ करना होगा। करने पर (अर्थात् यदि मान समर्थ हो) वे "कौशाम्भक्षरिका" हो जाती हैं, जिससे असुरों की तेजहानि तथा सुरों की तेज वृद्धि होती। कुः = वेद। जो वेद में शयन करता है वह है कुश। वेद का रहस्य अथवा उपनिषद ही कुश है। यह देवताओं के लिये अमृत है। यही अतिगम्भीर तथा विन्दुरूपता में कौशाम्भः है। इसके रूप हैं बीजमन्त्र। जो जपक्रियारूप विमान पर स्थित होकर क्षरण (Dynamic) करती है, उस शक्ति को नमस्कार।

ऊँ भूः स्वाहा, प्रभृति तीन महाहवनों का तत्व तथा भावाधार प्रसंगक्रम से विविध ईक्षाणादि

इस प्रकार अपने सुरच्छन्दः को वैराज के सुरच्छन्दः से युक्त कर देने से क्या छुट्टी मिल जायेगी ? क्या इससे ही महासमन्वय पूर्ण होगा ? ना ! यह नहीं होगा। इस निमित्त इन करिकाओं के अर्थ का अनुधावन करो :—

भूः स्वाहेति [कृतं स्वविश्वसवनं वैराजहोमानले
प्रास्तं तैजसहृद् हिरण्यरजसि स्वाहेति पश्चाद्भुवः ।
स्वः स्वाहेति सुतं यतोऽस्य जननं प्राज्ञञ्च तत्रेश्वरे
नो चेत् सूक्ष्ममपि स्वकारणमृते हव्य न सम्यङ् महत् ।।
ईक्षस्व त्रिविधं त्रिधा जुहुधि वा भुङ्क्ष्वापि भोग्यं त्रिधा
भूरीक्षं प्रथमं तथा भुवरथो पश्य स्वरीक्षं ततः ।
त्रैविध्येन हुतो बहिर्धनमथो कल्पस्व चान्तर्हवि
रन्नञ्च त्रिविधं ह्यशान तदपि ब्रह्माक्षरं पारगम् ।। ४६-४७ ।।

'भूः स्वाहा' मंत्र को तुम्हारे द्वारा अपने स्वविश्व (जाग्रदाभिमानी व्यष्टि चैतन्य—Individual waking Consciousness) का वैराज होमानल में अथवा विराट जाग्रद चेतना में सवन अथवा हवन किया गया। अर्थात् तुमने अपने स्थूल बोधविश्व की आहुति विराट बोधविम्ब में प्रदान किया। व्यष्टिस्थूल का अन्वयी छन्दः समष्टिस्थूल के अन्वयी छन्द में (Cosmic Harmony में) मिल गया। यही नहीं, तुम ऊपर ही न रहकर अत्यन्त गंभीर में अवगाहन कर रहे हो। तुम्हारा जो सूक्ष्म तैजस है (प्राण एवं अन्तःकरण है,) उसकी भी हविरूप में कल्पना करते हुये, तुममे हिरण्यगर्भाख्य महासूक्ष्मसत्तारूपी, अग्नि में, महाप्राण में, हवन कर दिया। इसका मंत्र है "भुवः स्वाहा"। स्थूल तथा सूक्ष्म का हवन तो हो गया। अब 'स्व स्वाहा' मन्त्र द्वारा महाकारणरुप परमेश्वर के व्यष्टिरूप स्वयं तुम्हारा हवन अर्थात् महाप्रज्ञ में तुम्हारे धनप्रज्ञ का हवन जब तक नहीं हो जाता, तब तक तुम्हारा कल्पित हव्य कभी भी सम्यक् महत् नहीं होगा। तुम्हारा अन्वयी छन्द महासमन्वयी छन्द में नहीं मिल सकेगा। अतः स्थूल एवं सूक्ष्म साधना में यत्नशील तुम, जब तक ईश्वर में सर्वसमर्पण नहीं करते—तब तक महाकारण में प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती।

वैज्ञानिकों द्वारा ग्रंथिपरम्परा समाधान का दृष्टान्त

वैज्ञानिक, तुम लोग भी इसके बिना व्यष्टि अथवा समष्टि के मूल कारण की गति नहीं जान सकोगे। तुम स्थूल की ग्रंथि खोलने जाकर सूक्ष्म की ग्रंथि खोलते हो। उसे खोलते-खोलते और भी सूक्ष्म की ग्रंथि खोलने लगते हो, तथापि ग्रंथि तो अन्त तक सहज नहीं हो पा रही है। जटिल होती जा रही है। मूलग्रंथि—वह महाकारण ग्रंथि, तुम्हें सर्वत्र भुलावा देती जा रही है।

तीन भाव से ईक्षण आदि का विश्लेषण। ह्रस्व तथा दीर्घ ईकार

तीन प्रकार से ईक्षण करो। तीन प्रकार से हवन करो। तीन प्रकार से भोग्य (यंत्र कला का) भोग करो। ज्ञान-कर्म एवं भाव (इच्छा); इन तीनों में से प्रत्येक

की कल्पना तीन प्रकार से हो। अयं अथवा 'यह' रूप से ज्ञान को व्यक्त (Manifiest) कहा जाता है। 'असौ' अथवा "वह" रूप के ज्ञान को अव्यक्त (unmanifiest) कहते हैं। इन दोनों के मध्य का जो व्यवधान अथवा सन्धिसेतु रूप ज्ञान है, जिसे यह अथवा वह, कुछ भी नहीं कहा जा सकता, अथच जो मध्यस्थ रह कर इन दोनों को क्रमागत रूप से ले जा रहा है और जो इसी क्रमागत रूप से यह को वह तक और वह (नेपथ्यस्थित) को यह रूप में उपस्थित करा रहा है, उसे किस नाम से पुकारा जाय, यह नहीं जानता। इस मध्यस्थ 'अनामी' बोध को वेदादि अन्तरिक्ष नाम से अभिहित करते हैं। देखा जाता है कि ईकार को प्रयोजनानुरूप ह्रस्व भी किया जाता है। (उध्वर्ग लम्बवृत्ति Vertical ascent) भूः से स्वः को समझाने के लिये, दीर्घ एवं विपरीत मुखी को समझाने के लिये, ह्रस्व इकार का प्रयोग करना चाहिये। उदाहरणतः यदि पृथ्वी से तड़ित शलाका उत्थित होकर मेघ में प्रविष्ट होती है, तब यह दीर्घ ईकार है। और मेघ से पृथ्वी की ओर आती शलाका ह्रस्व इकार है। पुनश्च, तुम्हारी व्यष्टि कुण्डलिनी का हृद्देश पर्यन्त उत्थान (Ascent) दीर्घ स्वर है और उर्ध्वलोक से तुम्हारे हृद्देश की ओर महाकुण्डलिनी का अवतरण (Desent) ह्रस्व स्वर से व्यापृत है। हृद्देश में स्वर का आदिम और समस्त व्यञ्जनों का आश्रय 'अ' कार सामान्य आधार रूप से विद्यमान रहता है। हृद्देश में ई एवं इ मिलित हो जाते हैं। फलतः हृद्देश के आभ्यन्तर में जो हृदय है और उसके भी आभ्यन्तर में जो हृत् है, वह भी जाग्रत (heart opening) हो उठता है। और क्या हुआ? आधारभूत अवर्ण में इकार द्वय का प्रवेश हुआ। अर्थात् इ-ई ने अन्तर में जाकर अवर्ण को पूरित किया, मानो सामने लाकर रख दिया। फलतः जो आधार था अथवा आस्तरण था, वह हुआ आवरण। समस्त व्यञ्जनवर्ण में यह विपरीतकरण आवश्यक होता है। क-ख इत्यादि समस्त व्यञ्जन पहले मातृका के आदिवर्ण अकार के जठर में बीजरूपेण प्रविष्ट हो जाते हैं, तत्पश्चात् उस मूल मातृकागर्भ से अवर्ण ही पुनः आवरण (Placenta) के स्फुट वैखरीरूप में भूमिष्ट होता है। 'क' वर्ण का उच्चारण करते हुये प्राण के लेख (graph) का प्रणिधान करो। उससे इस विपरीतकरण, छिन्नमस्तारीति का ज्ञान होगा। अच्छा इसके पश्चात्? (इ+ई)+अ=य (इ—अ) हुआ। यह वायु ब्रह्म का बीज है। यद्यपि हृद्देश में इस बीज का स्थान अवश्य है, किन्तु ऊपर कही गयी रीति के अनुसार मूल एवं मूर्द्धा स्थान से दो तो ताड़ित् प्रवाह का मिलन करा कर उस बीज का 'समर्थ' उद्धार कर्म करना होगा।

माहेश्वरी 'महावृषभ'

प्रसंगक्रम में श्री श्री चण्डी की माहेश्वरी मूर्त्ति में वाक्‌रूपी भावना करो। त्रिशूल=अ उ म, यही त्रिमात्रा है। मध्य में उकार उदग्र, उद्यत है। चन्द्र=चन्द्र

विन्दु = नादविन्दु (अर्धमात्रा)। अहि = स्वरव्यञ्जनात्मक निखिलवर्ण मात्रा (अ से ह) का जो शक्ति (ई) कलन करती हैं = कलाशक्ति । अतएव 'त्रिशूल चन्द्राहि-धरे = प्रणव की प्रथम त्रिमात्रा + नादविन्दु + कला । किम्बहुना यहां कला का प्रयोग प्राण व्यापार के लिये हुआ है (जैसे महादेव ध्यान में)। इन दोनों प्रयोग में कोई विरोध नहीं है। अब वे महावृषभ वाहिनी हैं। वृषभ शब्द की व्यञ्जना तो विचित्र एवं गंभीर है। यहां इस प्रकार से भावना करो उ + ऋषभ = वृषभ। अर्थात् उ इस स्वर को (ऋ + ष + भ) को पाकर, इस आकृति (Pattern) को पाकर, महान् हुआ और इस प्रकार वह ॐ कार रूपी वाक् का वाहन बना। अर्थात् जब तक ॐ कार की महान् रूप में उपलब्धि नहीं होगी, तब तक प्रणव पूर्ण प्रभावी (Dynamic) नहीं हो सकता। ऋषभ स्वरसप्तक का द्वितीय स्वर है। इस आकृति का विश्लेषण बाद में मिलेगा। यह भगवान का एक अवतार भी है (भागवत देखो)।

भूरिक्ष विश्लेषण

इस त्रिविध ईक्षण अथवा ईक्षा को भूरिक्ष, अन्तरिक्ष (भुवरिक्ष) एवं स्वरिक्ष रूपी रहस्य संज्ञा दो। तीनों में ईकार ह्रस्व भी हो सकता है। ये तीनों नाम तीन फारमूला हैं। जैसे भूरिक्ष व + ह + उ + र + ई + क + ष + अ। अ कार तो समस्त व्यञ्जनों में आवश्यक है। उसे छोड़ देने पर ७ अवयव मिलते हैं। इसका पूर्ण विश्लेषण यहाँ नहीं हो सकता। तब भी विचार करो कि (व् + ह्) इस अंश में जो Sub-Potential हैं, वह high Potential हो रहा है। अल्पप्राण ही महाप्राण हो रहा है। मध्य में (र + ई) यह अश विशेष रूप से उर्जः शक्ति की सूचना दे रहा है। इस उर्जः शक्ति की जो उर्ध्वंग लम्बवृत्ति (Vertical Component) है, वह ई वर्ण है। और (क + ष) अंश यह सूचित करता है कि कतिपय kinetic Energy Level ही व्यक्त शक्ति के एक आरोहीक्रम अथवा ग्राम हैं। तीन प्रकार से ईक्षण हुआ, तदनन्तर तीन प्रकार से सवन अथवा हवन। हवन के तीन रूप (बहिःप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ, धनप्रज्ञ—विश्व, तेजस, प्राज्ञ भेद से) पहले कहे जा चुके हैं। इस त्रिधा हवन की प्रयोजनानुरूप अन्य तीन प्रकार से भावना की जाती है। (जैसे प्राण और अपान को समान में, प्राण-अपान और समान को व्यान में। उदान का इस हवन में श्रुवा के समान व्यवहार करते हुये पूर्णाहुति दो। और चारो को साथ-साथ मुख्य प्राण—अगंचीकृत प्राण में आहुति दो। पुनः मूलाधार स्वाधिष्ठान का हवन करो नाभि के मणिपुर में। इन तीनों का हवन करो अनाहत में।) अनाहत—विशुद्ध तथा आज्ञा का हवन सहस्रार में करो। पुनः सूर्य (पिंगला) का हवन करो चन्द्रमा (इड़ा) में। दोनों का हवन करो सूक्ष्माग्नि में। (सुषुम्ना में)। इन तीनों का हवन करो परम विद्युति (ज्योतिषि) में। आगमादि शास्त्रों

में "त्रिसवन" का नाना रूपों में वर्णन मिलता है । जपसूत्र के अनुसार बहिः, अन्तः एवं घन को यही त्रिविध मूल सवन मानो)

त्रिधा सवन एवं त्रिधा अदन

त्रिसवन अनुष्ठान करते समय त्रिविध अन्न का भी भोग करो (अशान) । वह तीन अन्न क्या है ? शुक्ल-अशुल्क-मिश्र, इस प्रकार से साधारण भेद कहा गया । आगे की कारिकाओं में अन्न सूक्ष्मरूप से कल्पित हुआ है, देखना । यदि 'आपो वै अन्नम्' इस भाव से भोग्य अन्न समूह को अप में सूक्ष्म अथवा बीजभाव से देखो । (जैसे आर्य प्रज्ञान एवं वर्त्तमान विज्ञान उसे प्रकारान्तर से देखता है) । तब वैदिक संध्या के मार्जनमंत्र में उक्त "उर्ज्जे दधातन', 'महेरणायचक्षसे' एवं शिवतमो रसः" इन तीनों की पर-पर (एक के बाद एक) उत्कृष्ट अन्न रूप में भावना कर सकोगे । बृहदारण्यकादि में जिस सप्तान्न का उल्लेख किया गया है, वे पांक्त-कर्म के साथ ग्रथित है । इस ग्रंथ में यथास्थान उनका प्रसंग उत्थापित होगा ।

त्रिधा के पार—परम । आहृति एवं आहुति

अच्छा ! किसी न किसी प्रकार से त्रिधा ईक्षण, त्रिधा सवन, त्रिधा अशन अथवा अदन सम्पन्न हुआ । ईक्षणादि के यथोपयुक्त त्रिवृत्करण में व्याहृतित्रय की अध्यक्षता का भी हमने प्रत्यक्ष किया । किन्तु जो तीनों के पार है, उस परम अक्षर ब्रह्म में कैसे जाया जा सकेगा, यदि इन तीन को एक में और एक को पुनः अद्वय में (एकमेवाद्वितीयम्-इस वाक्य के प्रति पद के लक्ष्यार्थ की भावना करो) मिलाया न जा सके । उक्त आहृतित्रय प्रवण (ब्रह्माक्षर) की ही विशेष-विशेष आहृति है । अतः जिसकी आहृति प्रणव अथवा ब्रह्माक्षर है, उनमें हमें इन तीनों की आहुति देकर पारग होना होगा । जप (गायत्री) प्रारंभ किया । 'ॐ भूर्भूवः स्वः' इस प्रकार समापन किया । प्रणव से ही आहृति और पुनः प्रणव से ही आहुति । इन शब्दद्वय को केवल शब्दालंकार ही नहीं मानना । ऋ एवं उ, इन दोनों व्यञ्जना को समझने का प्रयत्न करो ।

(मान लो प्राण ही धनु है । इसके द्वारा कौन सा लक्ष्यबेध करोगे ? 'आ' स्वर में ज्या रोपित है । 'हृ' द्वारा ज्या का आकर्षण करो । 'ति' ही शर अथवा तीर है । यह प्रक्रिया है आहृति । 'उ' स्वर के द्वारा आकृष्ट ज्या लक्ष्याभिमुख छोड़ो (Relax the string) । प्रथम है कौर्मशक्ति, द्वितीय है वाराही । ज्या खीचना कौर्मशक्ति, छोड़ना वाराही है ।

ब्रह्माक्षर में संख्यायन की स्वीकृति

ब्रह्माक्षर में ३, ५, ७ इत्यादि मान की स्वीकृति के सम्बन्ध में इन कारि-काओं का चिन्तन करो :—

तिस्त्रोऽस्यत्रिविधं मखाय सवनं तन्वन्ति मात्रास्तत:
पादा पञ्च सुतं प्रमेय मखिलं कुर्वन्ति पञ्चीकृतम् ।
स्वस्मिन् सप्तकलां सप्तानलमुखैरन्नानि सप्ताशितुं
काष्ठां स्वीकुरुते ह्यमानि तदपि ब्रह्माक्षरं मानदम् ।।४८।।

ब्रह्माक्षर निखिल सृष्टि का मानद होने पर भी स्वयं स्वरूपत: अमानी है, मानरहित है। 'अक्षर ब्रह्म' ही नाद अथवा प्रणव रूप में ब्रह्माक्षर है। ब्रह्माक्षरस्वरूप विश्वभुवन का जो 'मख' (यज्ञ) है, वह उसका मानव, मानदाता है। अर्थात् विश्व-भुवन के सब कुछ ने उसके अपने मान (परिमाण-संख्या आदि) को ग्रहण किया। ब्रह्माक्षरस्वरूप प्रणव ने स्वयं मात्र, पाद, कला एवं काष्ठा रूप चतुर्व्यूहात्मक मान स्वीकार किया है। अत: विश्वभुवन के सब कुछ में ये चारो अन्वित हैं, अनुस्यूत हैं। इस विश्व का महीरुह बीज इस चतुर्व्यूहता में प्रविष्ट होकर काण्ड, शाखा-प्रशाखा, पल्लव-मुकुलादि में मात्रा, पाद, कला, काष्ठा का द्योतन कराता है। अणु से विराट पर्यन्त तक में इसकी अवस्थिति रहती है।

अणु एवं विराट

एक अणु को भी बुलाकर यह पूछना होता है कि तुम किस मात्रा में स्थित एवं चलित हो। आगे के शतक में इसका निसंदेह उत्तर मिलेगा, अन्तत: यही आशा है। वर्त्तमान में अणु हमें कुछ संदेहों में ला पटकता है। यदि वह अपनी स्थिति (Position) की यथार्थ मात्रा बतलाता है, तब अपनी गति का हिसाब देने में आनाकानी करता है। यदि गति बतलाता है, तब स्थिति का संधान नहीं देता। हाउजनवर्ग के अनिश्चयवाद ने (In determinacy) भी गोलमाल कर रक्खा है। विराट के बारे में तो और भी समस्या है। क्या विराट अपना मान निश्चित रखते हैं ? उनकी प्रवृत्ति मान बढ़ाने में ही रहती है (expanding universe)। किन्तु 'अतिदर्पे हतो लंङ्का'। एक बुद्बुद बढ़ते-बढ़ते फट जाता है। केवलमात्र विराट का मान ही नहीं, उसकी कार्यकारी शक्ति (Sum-total Energy) क्या स्थाणु (Constant) है ? तत्पश्चात् अणु से पूछना होगा कि किस पाद में हो ? वह कहेगा-एक नाभि, और दोनों के बीच का अर, इस तीन पाद में तो मैं हूँ ही। एक छुद्र जीवकोष अनुवीक्षण की सीमा में यही कहता है। अन्त:करण की भी यही उक्ति है। जैसे प्राण-तैजस-विश्व इत्यादि ! स्थूल में, विराट में, इसका व्यभिचार होता है क्या ? Nebulae Spiral Pattern का कथन है, यह देखो हमारी नाभि अक्ष है। और देखो नेमि तथा अर। यह नाग के झूमने के समान ऊपर नीचे करते हैं। उठते-बैठते हैं। तत्पश्चात् क्या विराट्, क्या अणु, क्या बाहर, क्या भीतर, क्या भाव, क्या भाषा, क्या सुर, क्या छन्द, सभी यह कहते हैं कि यह देखो, हम सकल हैं। हमारी कला है। (Part, Element, Aspect)। चन्द्रमा के ही समान हमारी

कला भी कभी घटती है तो कभी बढ़ जाती है ! और की तो बात ही क्या-छुद्र से छुद्र एक अणु में भी कला का अवस्थान रहता है। सब कोई कला का ही प्रदर्शन करते हैं और अपने स्वरूप को और स्वयं को छिपाये रहते हैं। यदि स्वरूप निष्कल एवं अलिङ्ग है, उसमें भी किसी न किसी गति की कला एवं लिंग का उद्भव होता रहता है। तभी इस संसार का कार्यक्रम चल रहा है। साथ-साथ काष्ठा अथवा सीमा रूप एक वस्तु विद्यमान रहती है। जब मात्रा, पाद एवं कला कभी भी स्थायी (Constant) नहीं है, परिणामी है, उस स्थिति में काष्ठा अथवा Limit की बात उठना स्वाभाविक सा है। मात्रा आदि सब का कहना है कि हमारी व्याप्ति, गति एवं परिणति की क्या अवधि है ?

(इस बार 'वृषभ' आकृति की मात्रा आदि को देखो। ऊ=मात्रा, ऋ= पाद, ष-काष्ठा, भ=कला। उ कार (वाराही) मात्रा युक्त है। वाक् 'ऋच्छति' (पद्यते), मूर्धन्य महाप्राण (षकार) काष्ठा अवधि। वाक् इस प्रकार मूर्धन्य धाम अवधि, गति के फलस्वरूप निखिल अव्यक्त कला (व) रूप में सम्यक् व्यक्त होकर (महाप्राण अष्ठिवर्ण) 'भ' रूप में 'भवति' एवं 'विभाति' हो जाती हैं)

ब्रह्माक्षर का मात्रादि चतुर्व्यूह

इस प्रकार से ब्रह्माक्षर चतुर्व्यूह धारण करके विश्वभुवन में अनुप्रविष्ट हो जाता है। प्रत्येक में (मात्रादि में) पुनः कई विशेष-विशेष संख्याये (३, ५, ७, २, १) प्रविष्ट होकर याग का विस्तार करती हैं। सवनरूप क्रिया में (प्रमाण में) तीन मात्रा हैं (Three Level fuuctioning)—यथा याग में समिध संग्रह, अग्निचयन, ॐ भू स्वाहा' आदि मंत्रों से हवन। अर्थात् लिंगपरामर्श, व्याप्तिग्रह, निगमन आदि। जो निखिल प्रमेय इस सवन में 'सूत' हुआ है, वह सब पंचपाद है (Five Dimension Structure)। फलस्वरूप महाभूतों का पंचीकरण होता है। जैसे वियद् आदि पंचमहाभूत एवं उनके हयरादि वर्ण, पंचप्राण, कोषपंचक आदि। जो अत्ता अथवा प्रमाता है, उस पर इन सब का प्रतिक्रियारूप (Reaction) जो अन्न है वह है सप्तसंख्यक्। कं=सुखम्। यह ब्रह्म का ही रूप है। यह स्वयं का अत्ता एवं अन्नरूप से सप्तधा कलन करता है। परिणामतः कः, कं, केन, कस्मै, कस्माद्, 'कस्य, कस्मिन् रूपी सप्तविध कलाओं (Aspects) का मूल व्याकरण घटित हो जाता है। इन सातों का विषयी है अत्ता, विषय है अन्न। इन सातों का विश्लेषण भविष्य में किया जायेगा। यहाँ यह देखो कि इन सातों में प्रत्येक सप्तकला से व्याकृत होकर उसकी आकांक्षा अथवा अपेक्षा को पूर्ण करते हैं। इन्हें परस्परापेक्षी कहा जाता हैं।

कारक में अन्न एवं अत्ता

कारक वह लक्षण है जिसकी क्रिया में अन्वय है। षष्टी को छोड़ देने पर व्याकरण में साधारणतः षष्ट कारक परिलक्षित होते हैं। यहाँ पर केवल अन्वय के

सम्बन्ध में नहीं कह जा रहा है, प्रत्युत आकांक्षा एवं अपेक्षा के सम्बन्ध में भी यही बात है। क्योंकि 'कस्य' को छोड़ा नहीं जा रहा है। इन सप्तकों में से कोई भी 'एकेश्वर' अत्ता अन्न नहीं होता। जैसे "रामो दुग्धं पिबति"। यहाँ देखो राम = कः (अत्ता), और दुग्धं = कं (अन्न), यह सामान्य दृष्टि से प्रतीत हुआ। अब इसे तल में देखो (विशेष विवेचना करो)—राम में केवल अत्ता ही नहीं है, अन्न भी विद्यमान है। दुग्ध में केवल अन्न नहीं है अत्ता भी है। राम ने वास्तव में किसे 'अदन' किया ? स्वयं से उद्भूत (Excited or Induced) अनेक अन्तरोदन (Objects of Inner Consumption मात्राधर्म) हैं, उनका अन्न रूप होता है साक्षात् रूप से। इस उद्देश्य से (अन्न के उद्देश्य से) कतिपय आन्तर संस्कारों को भी व्यञ्जन तथा उपसेचन के रूप में ग्रहण करना पड़ता है। ऐतरेय उपनिषदोक्त सृष्टि के उपाख्यान को इस प्रसंग में याद करो। अतएव कहना पड़ता है कि अत्ता (अन्नाद) "अपना ही कुछ" अन्न के रूप में "अदन" करते हैं। ऐतरेय उपनिषदोक्त सृष्टि के उपाख्यान को इस संदर्भ में याद करो। प्रजापति स्वयं को ही अन्न बनाकर प्रस्तुत करते हैं। वृहदारण्यक में भी यही कहा गया है। दुग्ध की सत्ता का परीक्षण करो। वह वास्तव में क्या है ? वह वास्तविक सत्ता कहती है कि मैं राम के द्वारा पीये जाने पर अपने को ही भोग में दूँगा। (राम जो पीता है, वह वास्तविक सत्ता ही भोग करती है)। पुरुष स्त्री मिथुन में अन्न-अन्नाद की जो अन्योन्यता स्पष्ट होती है, उसे सर्वत्र अनुस्यूत जानो। अदन, अत्ता तथा अन्न को एक त्रिभुज की तीन बाहु के समान ही नहीं समझना चाहिये। ऐसी स्थिति में इन्हें तीन पाद मात्र ही कहा जाता। ये तीनों एक ही पदार्थ के तीन दिक् हैं। अतः इन्हें कला कहा जाता है। इसका विशेष विश्लेषण यथास्थान में किया जायेगा। चन्द्रमा तो हैं ही, परन्तु भूपृष्ठ का आवर्त्तन और चन्द्रमा का अपना आवर्त्तन किसी संस्था पर अवस्थित है। इसी पर यह भी निर्भर करता है कि चन्द्र की कितनी कलायें स्फुरित होती है और कितनी अलक्ष्य रह जाती हैं।

कला-काष्ठा (परा एवं अपरा), अपरा से परा तक कैसे जाना होगा ?

कला के स्फुरण के साथ ही काष्ठा एवं सीमा का उदय होता है। कितनी कला का स्फुरण होने पर वह पूर्ण होगी ? प्रकृति में इस स्फुरण की सीमा अथवा अवधि विशेष-विशेष क्षेत्रों में विशेष-विशेष रूप से व्यवस्थित है। अब यह विवेच्य है कि समस्त विकास को लेकर प्रकृति का एक पूर्ण उन्मेष अथवा विकास है, अथवा किसी एक विशेष विकास की साधारण सीमा के पार परिपूर्ण विकास की कोई काष्ठा है, अथवा नहीं। यदि है, तब काष्ठा को परा एवं अपरा रूप से द्विधा जानना होगा। जो कुछ भी हो, जैसे कला को अन्नरूप से सप्तधा देखा, उसी प्रकार काष्ठा की परिणति के दृष्टिकोणानुसार उसकी सप्तभूमिका की उपलब्धि होती है। An

ascending series of values. कोई भी 'अन्न' सप्तभूमिका में अपनी परिपूर्णता अथवा काष्ठा पर्यन्त उन्नीत हो जाता है। जैसे जपरूप अन्न। इसकी अपराकाष्ठा मध्यमा में, परापराकाष्ठा पश्यन्ति में और पराकाष्ठा पराभूमि में होती है। प्रथम काष्ठा की सप्त भूमियां हैं वाचिक, उपांशु, मानस, तनुमानस, पूर्वसेतुसन्धि, सेतु एवं उत्तरसेतु जप। इन सभी स्थूल जपरूप अन्न का रूप विभिन्न तथा विचित्र होता है। तनुमानस स्थिति में आकर नाद (अनाहत ध्वनि) की अभिव्यक्ति होती है। पूर्व-सेतुसन्धि जप में "विच्छुरितज्योतिकरण (Scintillation and Radiation), सेतुभूत जप में विततज्योति एवं उत्तर सेतुजप में मिथुनीभूत ज्योति प्रकट होती है। इस तरह तीन प्रकार से नादाभ्यन्तर: ज्योति: स्फुरित होती है। उत्तर सेतु के पार अतिमानस पश्यन्ति धाम (Realms of Superconsciousness) विराजित है। स्थूल का 'नमस' विवर्त्तित होता है 'मनस' के रूप में। यह मन् धातु वाला मन: नहीं है। म्ना धातु (जैसे आम्नाय) का मन: है। इस मन: के स्फुरणाभाव में पश्यन्ति का दर्शन नहीं मिलता। यही प्रकृत रूप से Psychic opening है।

(श्री श्री चण्डी में जो कौमारीशक्ति (अनघा) का ध्यान है, उसमें अंकित है "मयूर कुक्कुटवृते"। इसकी विभिन्न व्यञ्जनाओं में से मुख्य व्यञ्जना यह है मयूर = सा, कुक्कुट = नि। इसके द्वारा नाद के सप्तस्वर की अभिव्यक्ति का ज्ञान होता है। प्रणवादि, जिसमें गायत्री आदि छन्द: निपुटित हैं), उक्त सप्तस्वर से उनका उद्गीथ अथवा उद्गान होने पर वे यथार्थ छन्द ग होकर अनघ हो जाते हैं। प्रत्येक मंत्र उद्गान की आकृति से साधित होता है। जैसे नाम संकीर्तन।

जप के यात्रापथ का दृष्टान्त

मान लो कि जप करते-करते किसी एक अतर्किक स्थिति के कारण मध्यमा की सुरंग को पार करके पश्यन्ति की सीमा पर आ पहुँचे हो। वहाँ किसी न किसी दिव्य शब्द का श्रवण-दर्शन-भाव-पुलक आदि हुआ। अब प्रश्न उठता है कि किस कला में यह सब हुआ? क्योंकि पश्यन्ति में प्रवेश करते ही चिद्गगन का वह चन्द्रमा हाथ की मुट्ठी में आ गया! क्रान्तदर्शी कविगण ने जिस पथ को तलवार की धार के समान 'निशित' कहा है, उस तलवार की धार वाले निशित पथ पर तुमने अभी मात्र पैर ही रक्खा है! वहाँ का दिव्यगन्ध, श्रवणादि भाग्यवशात् प्राप्त हुआ, श्रद्धा वृद्धि होने लगी। फलस्वरूप दुर्गम चढ़ाई-उतराई वाले मार्ग पर बढ़ने का 'कलेजा' लेकर उस संकटापन्न मार्ग पर पदक्षेप की दृढ़ता मिली। पश्यन्ति अस्फुरन्त ज्योति: तथा रस से परिपूर्ण "तत: पर: ततो वरीयान" रूप से सज्जित उर्ध्वस्तर का एक अभिनव प्रसारी लोक है। स्थिर, वीर, धीर, होकर क्रमागत रूप से आगे बढ़ना चाहिये। यहाँ भी नूतन रूप से छन्द के परिणयी से समन्वयी पर्यन्त के पंच पर्वों को साधना होगा। इसे साधित न करने के ही कारण युधिष्ठिर को

छोड़कर शेष पाण्डवों का हिमालय में पतन हो गया था। एकमात्र युधिष्ठिर ही स्थिर थे, क्योंकि वे ऋत, सत्य, छन्द में स्थिर थे। स्वयं कृष्ण के सखा अर्जुन का भी पतन हुआ। क्यों ? क्योंकि उन्होंने भी छन्दः के छद्म रूप को सर्वथा, सर्वकाल में एकान्तिक रूप से नहीं जाना था।

क्षुरधार के समान मार्ग में जीवन की तीन भंगुरता-उरु, तनु, अणु

जीवन में भंगुरता तीन प्रकार से रहती है, उरु, तनु, अणु। अभिमानी दुर्योधन का उरु भंगुर था। अर्जुन का भंगुर कहाँ, किस प्रकार से गुप्त था ? इस प्रकार के वज्रसार सत्व में, जिन्हे स्वयं योगेश्वर ने अपने हाथों से योग में योजित किया, उनके भीतर भी भंगुरता !

भंगुरपंञ्चकम्

निपतित उरुभंङ्गात् भंङ्गुरो धार्त्तराष्ट्रो
विदरति तनुसन्धिर्भङ्गुरो जारसन्धः।
विशति च शिशुपालो भंगुराणुर्महान्तं
त्रिदिवसरणियातो भंगुरश्चापि पार्थः ॥
वसुदेवसुतमंत्री भंगुरः किं ध्रुवोवा
किमगलितकषायो भंगुरो नारदो वा।
गमितबदरिकः किं भंगुरश्चोद्धवो वा
वरितजनकतीर्थो भंगुरो जातविद्वान् ॥
अधिगतमनुसेतुर्भंगुरः सिद्धमंत्री
जहदजहदिति द्वे भंगुरः किं विचारी।
स्फुरितपुलकहर्षो भंगुरो भक्तभावः
समधिगतसमाधिर्भंगुरो व्युत्थितः किम् ॥
प्रभवति किमु छन्दो भंगुरं वामृताय
प्रभवति किमु वाक्यं भंगुरं वाक्षराय।
प्रविशति किमु चेतो भंगुरं वाप्यचिन्त्यं
प्रसरति किमु दीपो भंगुरो यत्र भानुः ॥
जप जप न हि यावद् भंगुरं यात्यमात्रं
कुरु कुरु न हि यावद् भंगुरं याति शान्तम्।
भज भज न हि यावद् भंगुराद् भीतिभंगो
मन मन न हि यावद् भंगुरासङ्गिसङ्गः ॥ ४९-५३ ॥

उरु, तनु एवं अणु रूपी त्रिविध भंगुरता के दृष्टान्त (व्यक्तरूप से)

अश्मसार तुल्य देह वाले दुर्योधन (धार्त्तराष्ट्र) का एक अंग (उरु) भंगुर था। इसी कारण वह भीम के गदाघात से निपतित हुआ। दुर्योधन का जो उरु है,

वह केवल उसी के देह का अंग नहीं है। वह जीवमात्र का उरु है। वह स्थूल भंगुरता का प्रतीक भी है। उरु = उद्धत = विशेषतः अभिमान। इसे अंग भंगुरता कहा जा सकता है। अब देखो कि जरासन्ध भी मल्लयुद्ध में अजेय था। उसकी भंगुरता कहाँ थी? तनु सन्धि में थी। यह भंगुरता वाह्यतः व्यक्त नहीं होती। तनुसंधिगत होने के कारण यह तनु है।

वहाँ भंगुरता थी, अतः तनुसंधि विदीर्ण होने के कारण उसका ध्वंस हुआ। इसे सन्धिभंगुरता भी कहा जा सकता है। तुम्हारा क्रियाकर्म, जपादि अंग विशेष मजबूत हैं, तथापि सन्धि में, इनकी पारस्परिक सम्बद्धता में दरार है। अतएव क्रमागत जरासन्ध वध हो रहा है। सन्धि को संभालो! जो तुम्हारा अरि (शत्रु) है, वह सन्धि पकड़ते ही चीर कर रख देगा! दुर्योधन के सम्बन्ध में श्रीभगवान ने अपनी जाँघ पर हाथ मारते हुये भंगुर स्थान का सन्धान दिया था। जरासन्ध के समय अन्य संकेत था—सन्धि को पकड़ो! तदनन्तर शिशुपाल वध में क्या हुआ? यहाँ अणुभंगुरता है। यहाँ भी गदा आदि की आवश्यकता नहीं है। स्वयं चक्री ने उसका वध किया!

अणुभंगुर शिशुपाल का अणु उस महान् श्रीभगवान् में प्रविष्ट हो गया! क्योंकि अणु का (सूक्ष्मतम, कारण का) लय तो 'पर' अथवा 'परम' में ही होगा। इसे पूर्वोक्त क्रमानुसार मर्मभंगुरता भी कहा जा सकता है। सर्वसृष्टि में यह भंगुरता का बीज है। इस त्रिविध भंगुरता के लिये तीन मंत्र हैं वषट, वौषट्, स्वाहा। पुनश्च, स्वर्गारोहण पथ के यात्री स्वयं पार्थ अर्जुन भी भंगुर हैं, यह देखा! विचार करो कि उनकी भंगुरगा कहाँ थी? गीता में उन्होंने "क्षुद्र हृदय दौर्बल्य" को काट दिया। किन्तु जो सूक्ष्मतम हृदय दौर्बल्य था, उसका क्या हुआ? हृदय की यंत्रणा सतेज हुई अर्थात् उरु भंगुरता का दोष कटा। Nerve भी मजबूत हुआ। अर्थात् तनुदोष भी कट गया, किन्तु जो नाड़ी चक्र (Nerve Central) दोनों का नियंत्रण (Control) करता है, वहाँ तो दुर्बलता छिपी रह गयी!

उक्त त्रिविध भंगुरता का दृष्टान्त, प्रचछन्न रूप से, प्रचछन्न अतार्किक रूप से प्रकट होता है।

श्रीनारद से बालक ध्रुव ने मंत्रलाभ किया और जप ध्यान में लग गये, भगवान का दर्शन भी मिला। अन्त में उनके लिये ध्रुवलोक की व्यवस्था हुई। किन्तु वे 'नगद विदा' क्या माँगते हैं? वही भंगुर, उरुभंगुर वस्तु! स्वयं नारद ने दासी पुत्र रूप से, इस लोक में आकर गुरु से चतुर्व्यूह मंत्र प्राप्त किया। जपध्यान में कोई त्रुटि नहीं किया। भगवान ने दर्शन भी दिया। कहा "अविपक्व कषायाणां सुदुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्"। सर्वनाश! नारद भी कुयोगी, अविपक्व कषाय! यह कषाय

है तनु । पुनः देखो ! भगवान के साक्षात् शिष्य तथा सुहृद् उद्धव को भी भगवान ने साधनार्थ बदरिकाश्रम भेजा ! उनकी भंगुरता कहाँ थी ?

वह थी तनु एवं अणु के मध्य में । उसे खोजने का यत्न करो । अन्त में देखो, जो जन्म से ही विद्वान हैं, ऐसे सर्वभूत समदर्शी शुकदेव ने भी ब्रह्मज्ञ जनक को तीर्थ, या गुरुरूप में वरण किया था ! उनमें भी भंगुरता ! मिथिला में एक दिन अग्निकांड करके उस अणु भंगुरता को उरु रूप में प्रदर्शित किया गया । (जनक ने मिथिला में अग्नि लगने पर यह कहा कि मिथिला में अग्नि से सब जल रहा है, परन्तु मैं (आत्म-तत्व) कैसे जलेगा) ।

(श्री श्री चण्डी में वैष्णवी शक्ति का ध्यान "शंख चक्र गदा शार्ङ्ग" इन आयुध चतुष्ठय से किया जाता है । शंख-ध्वनि = श्रवण-उच्चारण, चक्र = आवृत्ति अथवा अभ्यास (व्याहरण), गदा—व्यूढ़ (रूढ़) अन्तरायों का निराकरण, शार्ङ्ग = धनु जो प्रणवादि मंत्रों की प्रत्यंचा खींचकर आत्मा को तीर बनाकर ब्रह्मरूप लक्ष्यभेद करे ।)

जपी, विचारी तथा योगी की भंगुरता

तुम सिद्ध मन्त्री हो, तब भी देखता हूँ कि मन्त्र के सेतु भाग (जैसे प्रणव की अर्धमात्रा) में उपनीत होकर भी भंगुर ही हो । उससे क्या प्रकट होता है ? सेतु के इस पार उरुभंगुर, सेतु की सन्धि में तनुभंगुर, उस ओर किन्तु सेतु के मध्य में अणु भंगुर । सेतु पार कर लेने पर भंगुरता नहीं रह जाती । तुम विचारवान हो । महावाक्य (तत्वमसि आदि) में जहत्-अजहत् अंशद्वय रहते हैं । इस प्रकार से भाग त्याग लक्षण विचार का नियम है । तब भी विचारवान होने पर भी तुम भंगुर ही हो ! तुम योगी हो, तुमने समाधि प्राप्त है, किन्तु समाधि भी तो भंगुर है । उससे भी व्युत्थान हो जाता है । तो व्युत्थित अवस्था में क्या वस्तुतः भंगुर है अथवा क्या भंगुर नहीं है, इस पर तुमने विचार विमर्श किया है क्या ? तुम भक्त हो । तुम में भक्तिभाव, पुलकहर्ष आदि 'सात्विकविकार' अवश्य स्फुरित हो रहे हैं, तथापि ये सब भाव भी तो भंगुर हैं ! अन्त में तीनों स्थलों में उरु प्रभृति भंगुरतात्रय का विचार करो । वाराही शक्ति के "गृहीतोग्रमहाचक्रे दंष्ट्रोद्धृतवसुन्धरे" महाचक्र और दंष्ट्रा के द्वारा मंत्रादि छन्द को भंगुरता से निकालने का संकेत दिया गया है । दंष्ट्रा शब्द से उकार रूपी ज्या तथा टंकार भी ध्वनित हो रहा है ।

जो छन्दः भंगुर है (जैसे ऐतरेयोपाख्यान में गायत्री को छोड़कर अन्य छन्दः) वह क्या साक्षात् रूप से अमृतदोहन कर सकता है ? जो स्वयं ही भंगुर तथा कम्पमान है, क्या वह उदयास्तहीन (चिदादित्य) सूर्य जहाँ प्रकाशमान है, वहाँ तक प्रसार प्राप्त कर सकेगा ?

जपादि की अवसान भूमि

अत: तुम तब तक जप करते रहो, जब तक वह अमात्र किंवा मात्रातीत में पर्यवसित नहीं हो जाता। उसका बलपूर्वक बीच में ही वध नहीं करना। तुम तबतक क्रिया अथवा अनुष्ठान करते रहो, जब तक क्रिया नैष्कर्म्य की शान्तभूमि में लीन न हो ! क्रिया को भी आगे बढ़ाते-बढ़ाते एक स्थान पर स्थिर कर देना उचित नहीं है। तुम तब तक भजन करते रहो, जबतक निखिल भंगुर का भय स्वयं एक ज्योतिरस के आस्वादन में भंग न हो। कुछ भाव का उदय हो जाने पर उसकी बूंद होकर पड़े रहना उचित नहीं है। यदि तुम ज्ञानी हो, उस स्थिति में तबतक श्रवण—मननादि करते रहो, जबतक समस्त भंगुरता से असंग, प्रपन्चोपशम, अद्वैत आत्मतत्व में स्थिति न हो। जब भाग त्याग लक्षणादि विचार द्वारा लक्ष्यार्थ की शुद्धि हो जाये, तब कदापि यह मत सोचना कि "बस ! अब किला फतह है" और यह सोचकर वाह वाही के आस्फालन में प्रवृत्त मत हो जाना !

अब तो यह आवश्यकता है कि परम ज्योतिरस की साक्षात् उपलब्धि और उसका आस्वादन हो। 'अखाड़े' में तुमने कर्मवादी एवं उपासना पन्थी को विस्तृत मारात्मक जुजुत्सु के दाव द्वारा फतह कर लिया है, तथापि यह याद रक्खो कि कुश्ती के अखाड़े में चाहे जो हुआ हो, अन्त में उनके साथ अन्तरंग रूप से गले न मिलने पर तुम्हारा यह पहलवान वाला वेष खिसक नहीं सकेगा, तुम एकान्तिक रूप से निरावरण होकर "पारमहंस्य" की अपरोक्षानुभूति में चिरस्वस्थता का अवसर नहीं प्राप्त कर सकोगे।

(पहले जिस उकार रूपी उद्धारण अथवा उत्तोलन शक्ति का परिचय मिला है उस शक्ति का कार्य है क्षिति, अप, तेज, वायु एवं व्योमरूपी पंचपर्व को शेष कर देना। वाराही, नरसिंही, ऐन्द्री, शिवदूती तथा चामुण्डा मूर्ति रहस्य व्यञ्जना को समझना होगा। यह कालान्तर में आलोचित होगा।)

भंगुर-भंग की भंगी अनुकूल अथवा प्रतिकूल

जो भंगुर है, वह तो अवश्य भंग होगा, किन्तु भंग होने से पूर्व यदि वह हिडिम्बातनय घटोत्कच के समान कुरुकुल का ध्वंस, वैरी-ध्वंस करने के पश्चात् भग्न होगा (मृत्युमुखी होगा), तब भी भरोसा लायक बात थी ! यह तो भग्न होता है अपने ही घर को भग्न करने के उपरान्त ! काल वैशाखी की आंधी में गृहस्थ के आँगन में उगे ताड़ वृक्ष के समान मकान तोड़ते हुये गिरता, भग्न होता है। तभी इसे भंग होते समय घटोत्कच वाला कायदा सिखलाना चाहिये कि वैरीकुल का विनाश करके तब भग्न होना ! अर्थात् वह मित्र है अथवा वैरी, यह विवेचना करके तब भग्न करो। अतएव भंगुर को भी व्याहृति सिखलाना चाहिये। अन्यथा इस कारिका में लिखी दशा तुम्हारी भी होगी :—

अयि कुरंङ्ग भुजङ्गसमाकुलं
चल चिराय विहाय लतालयम् ।
वृक्नखेषु पतंश्च पलायसे (पलायितः)
किमु वनाग्निमुखेषु निपात्यसे (निपतितः) ।।५४।।

एक भंगुर से पलायित होकर अन्य भंगुर में निपातित ।

पारमहंस्य भूमि

हे आर्त्तजीवरूपी कुरंग ! तुम तो अपने लतावितान में (गृह में) सुख से थे । किन्तु तुम्हारे सुख का लतालय तो काल गर्भ समाकुल है, क्या यह देख रहे हो ? यदि यह देख सकते-तब उसे चिरविदा देकर चल देते । परन्तु कहाँ जाओगे ? गहन वन में ? वहाँ भी तो कृतान्त के दास वृक् के नखों में जा गिरोगे ! क्या तुमने सोच लिया है कि संसार से भय पाकर लगोटी चिमटा लेकर वन में चले जाओगे ? किन्तु तुम्हारा भाग्य अच्छा था । वहाँ वन में बाघ के पंजे में पड़कर भी गुरुकृपा से बच कर भाग आये हो, भाग कर तो चले आये, अब कहाँ जाओगे ? शायद अब कालदावाग्नि के मुख में कूद पड़ने को उद्यत नहीं हो ! गृह में सर्प का भय, वन में व्याघ्र भय और प्रव्रज्या में भी कालदावाग्नि का भय ! पारिव्राजक होने पर भी देखता हूँ कि वही भंगुर पकड़ दबाने के लिये साथ है, अतः भय तो नहीं कटा । गृह में, वन में यह काल भय घेरे ही रहता है, किन्तु यहाँ ? महिषगलघन्टाघनरव के साथ "निरालम्बो लम्बोदर जननि कं यामि शरणम् !" परमहंस भूमि सम्यक् रीति से अधिगत होने तक यही "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः" रूप को वे अतिवृद्ध के सम्मुख भी संवरण नहीं करते । अतः एकान्तिक "अभिः" भाव सहज नहीं होता ।

अतएव व्याहृतित्रय किस प्रकार से जापक के जपयज्ञ में क्रमशः नादज्योति प्रभृति का स्फुरण कर सकने में समर्थ मन्त्रोद्धार एवं मंत्र चैतन्य का सम्पादन करती हैं, उसे सम्यक् रूप से जानने के लिये निम्नोक्त कारिकाओं की भावना करो—

नादोरुक्रमाष्टकम्

जपकृदपि यदत्ति स्वं जपं ह्यन्नरूपं
तदशितमिह धत्ते सप्तधात्वं कलाभिः ।
न नदति तनुनादे वाचिकादीनि नादे
नदति च चतुरस्त्रं ज्योतिरन्नं रसालम् ।।५५।।
धमति च तनुशंङ्ख शाश्वत व्योमनादे,
स्फुरितमवरसन्धौ ज्योतिरंशुस्फुलिङ्गैः ।
कणमिह यदि सेतुं प्राप्य पश्येरजस्त्रं
वद वृतवरसन्धिश्चेक्षसे किं ततो वा ।।१६।।

सेतोः पारे निपतति मनो मन्यमानं पराञ्चि
त्यक्त्वा तन्वीं भजति तदणुं प्रोज्वलां योनिमग्र्याम् ।
यद्भूमिष्ठं तदपि च मनो मैथुनान् नादभासोः
पश्यन्तीं तत्स्वरसकुशलज्योतिषा को न पश्येत् ।।५७।।
यावत् सेतुं न तरति मनुन्तुस्तावदुद्धारकर्म
वाराही तां भुवमिवजलादुद्धरेन् मन्त्रशक्तिम् ।
तीर्त्वा सन्धी त्ववरवरयो र्नारसिंही-प्रभावान्
नादज्योतिर्मिथुनमनसोरुक्रमेणार्णसंवित् ।।५८।।
काम्येन्नोचेदणुसरणितः क्रान्तदर्शी पुमान् स
चैतन्यं किं भवति महतोऽप्युद्धृतस्याक्षरस्य ।
पश्यन्त्यां यत् त्रितयमिलनं नादसद्भावभासां
तत्तीर्थानां सुपथभजतां मन्त्रचैतन्यसिद्धिः ।।५९।।
आसेतोर्गोऽक्षरतनुभृताऽनाहतो गीयमान
श्चक्रे सोऽपि प्रथमसवनं मन्त्रचैतन्ययागे ।
चक्राते गीर्द्विविध सवनं भावदोहश्व सेतौ
पारे प्रत्यक् त्रिविधसवनं चक्रिरे भूर्भुव स्वः ।।६०।।
स्फूर्त्तोनादः स्फुरति यदि चित् स्थूलमन्त्राक्षरेषु
मूर्त्तोभावः क्षरति यदि चिज् नादमध्यस्थमाध्वीः ।
जोषं ज्ञानं मृषति यदि चिज् ज्तोतिषे नादभावौ
ज्योतिः पारं चलति यदि चिज् ज्योतिषां ज्योतिरेति ।।६१।।
न्यासोर्न्यस्तदरणिचयो जापयागाय वेदौ
प्राणायामैरनलमथने व्याप्रियेत क्रतुज्ञः ।
वाराही सा तदुपरि नये न्निम्नगं भूतशुद्धौ
मानसेज्यं वहति हविषा ह्याहुतं तद्वरेण्यम् ।।६२।।

पुनश्च व्याहृतियज्ञ । पर्जन्य शब्द की व्यञ्जना

'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसंभवः'' इस वाक्य में अन्न संभव है ''भूः'' पर्जन्य है स्व और यज्ञ ही भुवः है । पृ अथवा पृ + जन्, इस धातु के मिथुन से उत्पन्न पृजन् = जो श्रेय एवं प्रेय का पूरक तथा जनक है । इसका भाव है पर्जन्य । इसे साधारण मेघ अथवा वृष्टि नहीं समझना चाहिये । प्रेयः अथवा अभीष्ट दान में समर्थ तथा इनका पूर्ण वर्षण करने वाला जो कुछ परोक्ष में (उस, That के रूप में) अवस्थित है, वह पर्जन्य है । पर्जन्य में श्रेयः एवं प्रेयः परोक्ष रूप से, सम्भावना के रूप में अवस्थित है । वह 'अन्न' के रूप में प्रत्यक्ष एवं गोचर होता है । वह अब That न होकर This (भूः) हो जाता है । यज्ञ कर्म किसी शक्ति विन्यास (अपूर्व)

को संघटित करते हुये That को This कर देता है। इस उपयुक्त शक्ति संस्था को (Requsite Field of Energy को) न तो यह और न तो वह ही कहा जा सकता है। उसका स्वयं का (Intrinsic) कोई दिक् (Directedness) नहीं है। यह भुवः है।

जपयज्ञ से किस प्रकार 'यज्ञामृतफलभुक्' होगा ?

अब यहाँ देखा कि जपयज्ञ में जप करते हुये जिस जप को अन्नरूप में साक्षात्कृत किया गया है, वह है व्येति। क्योंकि 'स्वं जपं' से वह प्रस्तुत है। अन्न रूप से अदन किया गया है, वह अन्न भी (पूर्वोक्त रीति से) सप्तकला प्रसज्यता के कारण सप्तधा हो जाता है। उसमें प्रथम तीन प्रकार की अन्न प्राप्ति है वाचिक, उपांशु एवं मानस। (अर्थात् उक्त तीनों वैखरी जप)। जब तक इन तीनों जप के द्वारा सूक्ष्म नाद का स्फुरण नहीं हो जाता (न नदति तनुनादे), तब तक इन्हे वैखरी जप ही कहते हैं। अर्थात् सूक्ष्मनाद के अनुग्रह की पूर्वावस्था में इन वाचिकादि त्रिविध अन्न का जो अदन है, उसे ही यहाँ (इह) लक्ष्य किया गया है। नाद की अभिव्यक्ति के पश्चात् (नादे नदति च) जो अन्न अदन के लिए प्राप्त होता है, वह अन्न वास्तव में ज्योतिष्मत् तथा रसाल है। जिस कारण ज्योतिरूपता को प्राप्त वह अन्न 'चतुरस्त्रं' चार कोणों तथा अर से युक्त है, उसी कारण नाम अथवा नादानुग्रह के पश्चात् रसाल ज्योतिरूप से उपनीत अन्न की भी चतुः कला प्रत्यक्ष हो जाती है।

सेतु की वर तथा अवर सन्धि। 'तनुमानस' किसे कहते हैं। तनुमानस अनुभूति को किस स्तर पर्यन्त ले जाते हैं ?

महानाम अथवा नाद तो व्योम के समान सर्वत्र गमन में समर्थ तथा शाश्वतिक है। यहाँ विपर्यय यह है कि हमारी जप क्रिया में उसका अनुग्रह सचराचर रूप से अनुभूत नहीं होता। अनुभव प्राप्त करने के लिये "तनुशंखे" अथवा तनुमानस में "परिक्षीणरजस्तमः सूक्ष्मक्रमावगाही" मन में उस ध्वनि के श्रवणार्थ उन्मुखता होती है। उससे विमुखता के कारण ही यह सब स्थूलत्व एवं जड़त्व है। अथवा अब उसकी ओर उन्मुख होकर सन्धान प्रारंभ करो। संन्धान में पहले जो अन्न उपस्थित होता है, वह यद्यपि ज्योतिस्मत् है, वह अब जड़, मलिन अन्न नहीं है, तथापि तब भी यह देखता हूँ कि उस अन्न से कितनी ही कुण्ठा एवं संकोच के साथ "आलोककण" ही विच्छुरित हो रहे हैं। समस्त आलोक राशि का बंधन भग्न नहीं हो रहा है। जप एक अनिश्चित स्थिति में तमस् के मध्य यात्रा कर रहा है। तमस् के परपार जो आदित्यवर्ण महान् ज्योति है, उसका कोई निर्देश ही नहीं मिल रहा है। सहसा देखता हूँ—तमस् को चीरते हुये सचकित स्थिति में ज्योतिकण विच्छुरित होने लगे। क्या ये अदृष्टपूर्व ज्योतिकण हैं ? साथ ही अश्रुतपूर्व सुर तथा छन्द की एक झलक

झंकार और अनास्वादितपूर्व भावपुलक की एकआध स्पर्श सिहरन। यह "विच्छुरित कणविभाव" का भाव कब घटित होता है? जब जप 'तनुमानस' का हाथ पकड़कर अवरसन्धि के स्थल पर उपनीत हो जाता है। वैखरी एवं मध्यमा की संयोजक सन्धि को अवरसन्धि और मध्यमा तथा पश्यन्ति की संयोजक सन्धि को वर सन्धि कहते हैं। तत्पश्चात् भू: सन्धि तथा स्व: सन्धि की संज्ञा दी जाती है। अच्छा, यदि सेतु में उपनीत होकर अजस्त्ररूपेण पूर्वोक्त ज्योति—छन्द आदि का अनुभव कर सको, तब बोलो स्वर सन्धि एवं तदुत्तर भूमि में (ततोवा) किस प्रकार से उनका अनुभव करोगे? कण तथा अजस्त्र, इन दोनों शब्दों पर ध्यान दो। अजस्त्र अवस्था में कणभाव नहीं जाता, तथापि कण समूह की जो कुण्ठा तथा कार्पण्य है, वह दूरीभूत हो जाता है। मानों एक रुद्ध झरनाधारा का मुख सहसा खुल गया। तुम उसे चाहे जितना दबाओ, वह अब रुद्ध नहीं होना चाहता। Effort and Exertion की वाहिता एवं अनियमितता के स्थान पर Inspiration and Spontaneity की एक अनायास नियततापूर्ण अवस्था तुम्हे प्राप्त हो रही है। तृष्णार्त्त अवस्था में फल्गु नदी की बालुका को एक ओर हटाओ, वहीं पर पिपासा की शांति के लिये जल प्राप्त हो जायेगा। किन्तु अन्य स्थान पर बालू के गर्त्त को भरने में कितने क्षण लगते हैं? गर्त्त करके जल छोड़ो, क्षणमात्र में तिरोहित हो जायेगा। यदि किसी प्रकार से बालुका के तल में एक स्त्रोत फूट उठे, तब क्या उसके ऊपर बीसों बोझ बालुका छोड़ने पर भी वह सूख सकेगा? इसे अजस्त्र अवस्था कहते हैं। कण के अनन्तर अजस्त्र। पहले प्रसाद 'कणिकामात्र' तदनन्तर 'भूरिश:'। अजस्त्र के उपरान्त भी और दो प्रकार का ज्योतिरसाल अन्न है। अत: पहले वाले तीन और ये चार, सर्वसम्मत सात। यदि अन्तिम दो का नाम प्रोज्वल एवं परमोज्वल रक्खो, तब इन चारों में से प्रथम दो का नाम कणोज्वल एवं कामोज्वल कह सकते हो। रस एवं वाणी (छन्द) के दृष्टिकोण से भी इनका स्वतंत्र नाम होगा।

"नादाभ्यन्तरं ज्योति ज्योतिरभ्यन्तरंमन:"

अत: तनुमानस ने तो पथ का प्रदर्शक दिशानिर्देशक होकर सेतु की वरसन्धि पर्यन्त पहुँचा ही दिया। फलत: नाद, भाव एवं भास (ज्योति:) का (कणरूपेण नहीं) अजस्त्र रूप से हमने अनुभव किया। यदि परा नितान्त आगे की स्थिति है, तब सेतु के पार की स्थिति तो पश्यन्ति ही है। उस देश में भी क्या यही पहलेवाला पथप्रदर्शक (गाईड) पथ दिखलायेगा? ना! यहाँ पर पहले वाले मन (तनुमानस) का पतन हो जाता है। वह मन यद्यपि सूक्ष्म है, तथापि "पराञ्चि" के समान बहिर्मुखता तो अभी कहीं नहीं है। पराक्प्रवण जो मन है, वह पश्यन्ति के सीमान्त में आकर छुटकारा नहीं पा सकेगा। क्योंकि इस बार वास्तविक अन्तर्दृष्टि (Inner-vision) का प्रदेश प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ बहिर्दृष्टि के वेग को (Momen-

tum) को काटना ही होगा। बहिर्दृष्टि का संस्कार (Inertra) अभी भी सहजता से साथ नहीं छोड़ता। इसी कारण पश्यन्ति के कतिपय सोपान पर "कम्बल मुझे नहीं छोड़ रहा है" वाली दशा कटती प्रतीत नहीं होती। यहाँ "सच्चे के साथ कुछ-कुछ झूठा" मिला रहता है। अतः उसके पृथकीकरण के लिये व्याहृति को साथ रखना चाहिये। यद्यपि सेतु पार हो जाने पर पराक् प्रवण मन तनु त्याग कर देता है, तथापि "संकोच शरीर" कुछ और दूरी तक साथ नहीं छोड़ता। चलता रहे। किन्तु इस मन के पतन के साथ-साथ एक अभिनव मन भूमिष्ठ हुआ। (नादाभ्यन्तरं-ज्योति ज्योतिरभ्यन्तरं मनः)। इस मन को जो योनि जन्म देती है, वह कैसी है? वह है अणु, अग्रा, प्रोज्वला! अणु तो सूक्ष्मभाव की शेष सीमा पर्यन्त ले जा सकने में समर्थ है। अग्रया कहने से जो आगे रहकर चलता एवं चलाता (Lead देता) है, अर्थात् जो किसी भी प्रकार की भंगी के सन्धान के लिये पीछे नहीं चलता। प्रोज्वला अर्थात् अजस्त्र के भी उत्तर में जो उज्वलता की प्रकर्ष भूमि है, जहाँ की ज्योतिः केवल चाक्षुष ज्योतिः (Perceptual brightness) नहीं है, वह केवल मानस ज्योतिः (conceptual Lucidity) भी नहीं है, किन्तु वह वास्तविक आन्तर ज्योति अथवा विज्ञान भाति (Inner illumination) है। इसे न जानने की स्थिति में पश्यन्ति के दर्शन को ठीक से समझा नहीं जा सकता। हम यह देखेंगे कि इस प्रोज्वल में आने पर भी अभी सत्यलोक शेष है। सत्यलोक शेषलोक है। (जपसूत्र मे सत्यं, सत्यमिति, सत् एवं तत् इन चारों सूत्रों के द्वारा सत्यवस्तु का संकेत दिया गया है)।

अच्छा! योनि का संवाद लिया! अब नूतन जातक का नाम क्या होगा? "मन" ही कहो। नाद एवं भास के मैथुन से यह उत्पन्न (जात) हुआ है। अणुमानस, अतिमानस नाम भी आवश्यकता के अनुरूप चल सकते हैं। यहाँ पश्यन्ति के जो सब अभिनव, अपरूप ज्योतिर्मय धाम हैं (Realms of higher and brighter experience), उन्हें इस नवजातक मन की 'स्वरसकुशल दीपछटा' में क्या देखना उचित नहीं है? यह नूतन आलोकरूपी पथप्रदर्शक (दिशाएँ) अपने रस और कौशल के द्वारा सब कुछ को सरस एवं कुशल रूप से दिखलाने के लिये तत्पर रहता है। अतः इसे मत छोड़ना।

मन एवं मनु परस्परतः सहग हैं। ऋद्धमान, समृद्धमान, समर्थमान का वास्तविक पश्यन्ति भूमि मे आरोहण

मन के साथ का यात्री कौन है मनु अथवा तुम्हारा जपमंत्र। पहले मंत्र का उद्धार, तदनन्तर चैतन्य तो करना ही होगा। इस सेतु को पार करने के बहुत पहले ही उद्धार सम्पन्न हो गया है। सेतु पार न होने तक ही उद्धार कर्म चलता है। उद्धरण शक्ति है वाराही। तुमने मनु को मन के साथ करके सेतु को पार किया

है। वाराही शक्ति साथ ही साथ मन्त्रशक्ति को निम्नतल से उठाते हुये क्रमश: उर्ध्व में स्थापित करती जाती है। मन्त्र का शक्तिमान (Energy level or Value) वर्धित होने पर ही कुछ हो सकेगा। वैखरीजप द्वारा मन्त्रशक्ति मूलत: समष्टिमान (अर्थात् Arithmetic summation के रूप) में बढ़ती है। अत: संख्या के अनुसार जप एवं पुरश्चरण करे। इस समष्टि मान को क्रमश: ऋद्धमान, समृद्धमान करने के लिये मन्त्र में स्थित अर्धमात्रा को जाग्रत करना चाहिये। जैसे मधुकैटभ के भय से भीत ब्रह्मा को योगनिद्रा का स्तवन करना पड़ा था। ऋद्धमान के लिये अवरसन्धि को एवं समृद्धमान के लिये वरसन्धि को पार करना होगा। तदनन्तर समर्थमान की स्थिति में पश्यन्ति प्रवेश हो सकता है। जैसे एक-एक पैसा एकत्र करते हुये एक रूपया जुटा। अब इस रूपये को ऐसे कारबार में लगाना चाहिये, जिससे यह दूना, तिगुना, चारगुना हो सके। ऐसे १००) जुट गया। अब इसे ऐसे कार्य में लगाओ ताकि यह स्वयं को वर्ग, घन इत्यादि में वर्धित कर सके। अर्थात् १००००) इत्यादि हो जाये। विज्ञान की Molar Energy, Molecular Energy, Atomic Energy आदि की इससे तुलना करना चाहिये। वाराही तो शक्तिमान को क्रमश: उत्तोलित करती चलती है। अब सेतु की दोनों सन्धियों को पार करने के लिये नारसिंही का प्रयोजन है। संधि का अर्थ है जिसका किसी न किसी प्रकार से विग्रह है। (अर्थात् संग्रह नहीं है)। तदनन्तर मिलन होता है। मिलन अर्थात् संग्रह ! समस्त वैर विग्रह को नारसिंही अपने वज्र से भी कठोर नखों के द्वारा पूर्ण कर देती है। वाराही एवं नारसिंही मन्त्रोद्धार कर्म को करती हैं। किन्तु मंत्र चैतन्य, संवित्, कैसे हो ? वह घटित होता है उरुक्रम द्वारा। वे कौन हैं ? वे हैं नादज्योतिर्मिथुनतनु रूपी अणु (वामन) मन।

अच्छा ! वाराही, नारसिंही प्रभृति मन्त्रोद्धार में व्यापृता रहती हैं। वे कहां से प्रत्यक्ष होती है ? इसके लिये निष्ठापूर्वक जपयज्ञ करते रहना चाहिये। इससे मंत्र-गुरु एवं इष्ट की त्रिमूर्त्ति यथा समय इन-इन शक्तियों के रूप में प्रकट होती है। यह स्मरण रखना कि उनका प्राकट्य तुम्हारे नैकट्य की अपेक्षा करता है। जहाँ से मंत्रादि आकर तुम्हारे उद्धार का भार ग्रहण करते हैं, अन्तत: वहीं तक "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत"। (नैकट्य आवश्यक है।)

मंत्र का शक्तिरूप में जागरण एवं संवित् रूपेण जागरण उद्धृत मन्त्र एवं उद्बुद्ध मन्त्र

यदि क्रान्तदर्शी कवि अणु (सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा तलवार की धार के समान) मार्ग पर गमन न करें, तब तुम्हारे पुरोभाग के, पूर्वपूर्व भूमि के, उपर उद्धृत् महाशक्तिधर मंत्र भी चैतन्य नहीं हो सकते। अर्थात् यह जान लो कि मंत्राक्षर

का महाशक्तिरूप जागरण एवं पूर्ण मंत्रसंवित्‌रूपी जागरण, एक ही अवस्था नहीं है। उद्‌धृत शक्ति को अब उद्‌बुद्ध होना चाहिये। केवल उत्तिष्ठत्‌ एवं जाग्रत होने से नहीं होगा, 'निबोधत्‌' भी होना होगा। शक्ति स्वयं की केवल शक्तिरूप से अथवा केवल भावरूप से ही उपलब्धि नहीं करना चाहती, वह स्वयं की बोधि अथवा विज्ञानरूप से भी उपलब्धि करने के लिये उद्यत रहती है। इस अत्यावश्यक परिणति के लिये तुम्हे किसी किसी एक क्रान्तदर्शी कवि अथवा एक पुरुष से मिलना होगा। वर्तमान में आणव विज्ञान की मन्त्रोद्धार जनित कुशलता के कारण महाशक्ति की जागृति हुई है। मन्त्रचैतन्य विधान में जो पुरुष (Scientific Theory) व्यापृत हैं, क्या वे क्रान्तदर्शी हैं ? ऐसा नहीं है। प्रत्युत्‌ वे एक ही नेत्र से देख रहे हैं, उनका दूसरा नेत्र अन्धा है ! वे बाहरी विज्ञान में कुशल हैं, परन्तु वे अन्तर विज्ञान तथा प्रज्ञान में अन्ध ही हैं।

अतः परिलक्षित होता है कि मन्त्रोद्धार तथा मन्त्र चैतन्य में एक दुस्तर व्यवधान है। मन्त्र की साधना में जहाँ से एक ज्योति का स्पर्श मिलता है, वहाँ से ही मन्त्र चैतन्य की सूचना मिलती है, किन्तु मन्त्र चैतन्य सिद्धि तो अत्यन्त दूर की बात है। मध्यमा सेतु को उत्तीर्ण कर लेने के अनन्तर हम पश्यन्ति की सीमा में आ जाते हैं। यहाँ नाद, भाव एवं भास (ज्योति) रूपी त्रिधारा का मिलन घटित हो जाने पर जिस त्रिवेणी की रचना होती है, उस तीर्थ का वरण करते हुये (जो साधक) कुपथ का त्याग करते हैं, वे ही मन्त्र चैतन्य सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

मन्त्रयोग का त्रिविध हवन। यह तीनो हवन क्रमशः किसके द्वारा निर्वाहित होंगे ? नाद-भाव-ज्योति-भूर्भुवस्वः

जब तक सेतु पर उपनीत नहीं होते तब तक मन्त्र चैतन्य योग के लिये हम प्रथमतः हवन करके ही शान्त हो जाते हैं। यह हवन कौन किसके द्वारा करता है ? अक्षर तनुधारी (प्रणव आदि) की अनाहत ध्वनि द्वारा प्रथमतः निष्पन्न होता है। अर्थात्‌ मन्त्राक्षर का निष्ठापूर्वक जप करते रहो, परन्तु उस अक्षर में से अनाहत ध्वनिरूप नाद अभी स्फुरित नहीं हो रहा है। अभी नाद का अनुग्रह नही हुआ है, अतएव मन्त्रचैतन्य योग का हमारा जो प्रथम हवन है, वह अभी प्रस्तुत नहीं हो सका है। अक्षरतनुभृत्‌ मन्त्र जब अनाहत स्वर को प्राप्त करेगा, उसी समय हमारे प्रथम हवन का समय एवं सुयोग उपस्थित हो जाता है। सेतु में उपनीत होने के पहले ही यह प्रथम हवन हमारे लिये सम्भव होता है। जब उस सेतु को प्राप्त कर लेते हैं, तब मन्त्र चैतन्य योग में हमें दो प्रकार से हवनार्थ प्रस्तुत रहना चाहिये। इसमें से एक का निर्वहण स्वयं वाक्‌ के द्वारा होता है और दूसरे का निर्वहण भाव द्वारा होता है। भाव वाक्‌ के सार रूप में निर्गलित होता

है (भाव दो, भावरूप दो)। अर्थात् वैखरी जप के अन्त में मध्यमा सेतु पर उपनीत होकर मन्त्र चैतन्य के लिये जिन दो का हम मुख्यरूपेण समाश्रय लेते हैं, उन दो से वाक्रुपी नाद एवं वाक् का सार (रस) जो भाव है, वही है भावदोह। जिस प्रकार से सेतु पार कर लेने पर पश्यन्ति अथवा प्रत्यक् चैतन्य भूमि में जाकर उपनीत होते हो, तब तृतीय हवन करना पड़ता है। यहाँ इस शेष तीन प्रकार के हवन की निर्वाहयिता किसकी है ? नाद, भाव तथा ज्योति की त्रिपुटी द्वारा सम्मिलित रुप से यह यज्ञ समाधित होता है। रहस्य भाषा में इस त्रिपुटी का नामान्तर है "भूर्भुवस्व:"। अर्थात् वाक्रुपी नाद भू स्थानीय, भाव भुव: स्थानीय तथा ज्योति स्व: स्थानीय है। जब तक इस प्रकार से जपयज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न नही हो जाती, तब तक मन्त्र चैतन्य की पूर्णता साधित ही नही होती। अत: मन्त्रोद्धार की तरह मन्त्र चैतन्य भी एक क्रमवर्द्धमान उदयन कर्म है। मन्त्रोद्धार एवं मन्त्र चैतन्य होने के पश्चात् जप आरम्भ होगा, यह सोचना उचित नही है। यदि जप कर्म निष्ठापूर्वक तथा सौष्ठव के साथ चलता रहे, तब उसके अपने ऋतछन्द के द्वारा इस अत्यावश्यक मन्त्रोद्धार तथा मन्त्र चैतन्य का संघटन किया जा सकता है। यहाँ निष्ठा का तात्पर्य है जपनिष्ठा, गुरुनिष्ठा तथा इष्टनिष्ठा। सौष्ठव का अर्थ है विद्या, श्रद्धा तथा उपनिषद् का त्रिवेणी संगम।

मन्त्रयोग में वेदी समिध एवं अग्निमन्थन की भावना कैसे करना हो ? न्याय, भूतशुद्धि आदि का तात्पर्य। जपकारी के न्यास 'भूतशुद्धि आदि का तात्पर्य। जपकारी यन्त्र की Antipathy तथा Sympathy

तदनन्तर जपयोग की प्रकारान्तर से भावना करो। योगानुष्ठान के लिए वेदी है। यह देह ही वेदी है। अंगन्यास, करन्यास प्रभृति प्रक्रिया के द्वारा इस वेदी के उपर यज्ञकाष्ट को विन्यस्त करो। अर्थात् भावना करो कि तुम्हारी यह देह रक्त मांस आदि की समष्टि नहीं है। यह मंत्राक्षर तनु तुम्हारा जपतनु है। न्यासक्रिया के द्वारा इस आवश्यक Auto-Suggestion को प्राप्त करना होगा। प्रत्येक कार्य समान-समान चलता है। विषम-विषम नहीं चलता। इसी कारण तुम्हें मंत्राक्षर के साथ जिस सम्पर्क को बनाना होगा, वह सम्पर्क है Sympathetic। जब तक मन्त्रवत् Antipathy दूर नहीं हो जाती, तब तक जप का स्पन्दन सम्यक् रूप से क्रियाशील नहीं हो सकेगा। अत: न्यास के अनन्तर वेदी के उपर वज्रकाष्ट विन्यस्त किया जाता है। तदनन्तर अभिज्ञ यज्ञकर्त्ता प्राणायाम का अनुष्ठान करके इस विन्यस्त वज्रकाष्ट से अग्निमन्थन करते हैं। अब भूतशुद्धि के द्वारा इस अधोमुखी अग्नि को उर्ध्वमुखी किया जाता है। जिस शक्ति के द्वारा अधोमुखी अग्नि उर्ध्व हो जाती है, उसे वाराही शक्ति कहते हैं। अत: भूतशुद्धि में इसी वाराही शक्ति को उद्बोधन के द्वारा प्रसन्न करना चाहिये। रहस्य भाषा के अनुसार यही है कुल-

कुण्डलिनी का जागरण। इस जागरण में कुछ समय लगता है, तथापि भूतशुद्धि के समय इस उर्ध्वगं जागरण का एक Auto-Suggetion इसे कल्पना अथवा भावना के माध्यम से देना पड़ता है। अवश्य ही इसके साथ-साथ अनेक मन्त्राक्षर भी प्रयुक्त होते हैं, जिनकी एक भावनानुकूल क्रिया होती है। तदनन्तर मानसपूजा, ध्यान इत्यादि अन्तर्याग करना चाहिए। इनके द्वारा उर्ध्वंग वन्हिशिखा की छवि प्रक्षिप्त होती है और वह समृद्ध अग्नि वरेण्य भर्गरूप से ज्योति में मिलित हो जाती है। क्रिया का एवंविध अनुष्ठान कर सकने पर वह यथार्थ मन्त्रोद्धार एवं मन्त्र चैतन्य का कारण बन जाती है।

मन्त्राक्षर की 'प्रसुप्तमिव चित्शक्ति' को जगाकर रखना ही मन्त्र का साधन है। चण्डी में ब्रह्माकृत् योगनिद्रा स्तुति का मुख्य तात्पर्य यही है

"नासते विद्यते भावः" यदि मन्त्राक्षर में इस वरणीय भर्गरूप से ज्योति अथवा चैतन्य की सत्ता नहीं रहती, उस स्थिति में किसी प्रक्रिया के द्वारा भी उसमें चैतन्य संचरित नहीं हो सकता था। मन्त्राक्षर में स्वयं चित् ही शुद्धरूप से, शक्तिरूप से तथा छन्दः रूप से अनुस्यूत रहता है।

अग्निगर्भा शमीवृक्ष के समान मन्त्राक्षर के गर्भ से शाश्वत अग्नि भूमिष्ट होती है। वह जिस कर्म भूमिष्ठ होती है, वही कर्म हमें करना पड़ता है। यही कर्म है मन्त्रसाधन। यह अन्तर्निहित चित्ज्योति क्रमशः शनैःशनैः स्फुरित होती है। जैसे-जैसे आवरण क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे इसका स्फुरण हमारे जपकर्म में अनुभूत होने लगता है। सर्वप्रथम यह वैखरीजप के स्थूलमंत्राक्षर में नाद रूप से प्रकट होती है। तब हम नाद का सन्धान प्राप्त करते हैं। इसी नाद के आधार से समस्त शब्द अभिव्यक्त होते हैं और पुनः इसी आधार में प्रविलीन होते हैं। द्वितीयावस्था में नादस्थ जो रस अथवा मधु है, उसका क्षरण प्रारम्भ हो जाता है। अब भाव की अभिव्यक्ति होती है। नाद में जो भाव निगूढ़ था, वह मूर्त्त होकर साक्षात् आस्वादन की वस्तु हो जाता है। तब हम कहते हैं "नाम में इतना रस है, इतना मधु है"। यह है अक्षर के अन्दर स्थित चैतन्य का द्वितीय उन्मेष। अब पूर्वानुभूत नाद एवं भाव का मन्थन होने लगता है। जिस प्रकार से यज्ञ में अरणिमन्थन होता है, यहाँ भी वैसा ही जानना चाहिये। यह मन्थन क्रिया जब एकान्तिक एवं शान्तिपूर्ण रूप से चलने लगती है, तब जिस अग्नि का प्रादुर्भाव होता है, वह है ज्ञान। ज्ञानरूप ज्योति का प्रादुर्भाव होने से ही चित् की सामग्री समाप्त नहीं हो जाती। ज्योति के पार जो "ज्योतिषां ज्योति" अवस्थित है, जिसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि प्रभृति कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकता, तथापि "यस्य भासा सर्वमिदं

विभाति" उस ज्योति का साक्षात्कार होने पर ही इस यज्ञ का अवसान होता है।

परोक्ष शक्तिनिर्झर का बीज "स्वः"

दन्तासश्च वकारश्च रकार इति त्र्यर्णकम्।
बीजं स्वरीति जानीयाददृष्टशक्तिनिर्झरम् ॥६३॥

"स्व" का विश्लेषण करने पर दन्त्य स, व एवं र प्राप्त होता है इन अक्षर-त्रय (अर्णं) का जो विशिष्ट बीज है, उसे अदृष्ट अथवा ऐसी सत्ताशक्ति एवं छन्द निर्झर जानना चाहिये जो साक्षात्रूप से प्रतियमान नहीं होता। इस अव्यक्त से सभी व्यक्तमापन्न, व्यक्त होता है, अतः यह स्वः है।

इस बीज के वर्णत्रय की विशिष्ट व्यञ्जना

दता संच्छिन्नरूपत्वं महाप्राणस्य व्यक्तये।
वकारेण निगूढ़त्व पारोक्ष्यमपि गम्यते ॥
सकारः शक्तिपिन्डश्च रकारश्च निरुपकः।
गूढ़गाढ़त्व मायाति रकारस्यान्तरान्वयात् ॥६४-६५॥

जो स्वयं महाप्राण है, अतः अविभक्त अपरिच्छिन्न है (undifferentiated) वह है दत्ता। दंतावृत्ति का आश्रय लेकर मानो परिछिन्न (differnentiated) हो रहा है। वकार निगूढ़ता का सूचक है, वह परोक्षता का भी सूचक है। महाप्राण स्वयं को सच्छिन्नरूप क्यों करता है? 'व्यक्तये' इस प्रकार से व्यक्त न होने पर व्यक्ति (Individualized Manifestation) नहीं होता। किन्तु यह व्यक्तिता एक छलांग में नहीं होती। यदि महाप्राण को शक्तिसामग्री (undiffer-ntiated power Continum) कहें तब व्योमवत् शक्तिराशि में प्रथमतः विचय संच्छेद (Differentiation) के कारण शक्तिपिण्ड अथवा नीहारिका का जन्म होना चाहिये। जैसे एक जड़ ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में Cosmic Nebule अथवा Clouds है। दन्त्य सकार तो व्यक्ति की माध्यमिक अवस्था शक्तिपिण्ड की सूचना देता है। "र" इसी शक्तिपिण्ड का निरूप रूपशिल्पी है।

निरूपक तो वहाँ 'हाथ बाँधकर' बैठा हुआ है। मानो इस शक्तिपिण्ड में निगूढ़ रूप, जो कुछ निरूपणीय है, निरूपण योग्य है, वह पर्दे की आड़ में, नेपथ्य में विराजमान है। वह दृश्यमंच की यवनिका को सम्यक् रूप से उठाने में रुकावट पैदा कर रहा है। स कार एवं र कार के 'अन्तरा' में मध्य में स्थित रहते हुये (अन्त-रान्वयात्) व कार ही नेपथ्य से निगूढ़ भावों का बाह्य स्फोट कर रहा है। जब तक 'व' स्वयं को प्रथमतः 'उव' रूप में और पश्चात्काल में 'ऊ' रूप में परिवर्तित नहीं करता, तब तक परोक्ष की इस यवनिका का पूर्ण उत्तोलन हो सकना संभव नहीं है।

जलीय वाष्प समग्र वायुमण्डल में विराजित रहती है, किन्तु प्रत्यक्ष वारिवर्षणार्थं उसका वाष्पपिण्ड अथवा मेघरूप होना आवश्यक है। मेघरूप हो जाने से ही वृष्टि नहीं हो सकती। 'व' कार की यवनिका की रज्जु को खींचे बिना कुछ भी बाहर आकर "हाजिर" नहीं हो सकता। अध्यात्म साधन में भी इन दृष्टान्तों की भावना करो। व बीज को प्रसन्न करना ही होगा।

हयवलर आकृति कैसे आती है? रहस्य निरूपण

ह से य तक आने के पश्चात् तो र को आना ही चाहिये, किन्तु र स्वयं नहीं आता। जो प्रत्यक्ष होता है वह है व। महाप्राणवर 'ह' कार व्योमवत् है। वही गति एवं कलनवृत्ति को स्वीकार करने के कारय य है। उसका फल है क्रियासंभव सहकृत् शक्तिसामग्री का मिलना। किन्तु पूर्वोक्त 'व्यक्ति' को व्यक्ति रूप से (वह) उसी समय रूपायित नहीं होने देता। वह निगूढ़रूप से 'निगूढ़ परोक्ष' भाव का आश्रय करते हुये स्थित रहता है। वह पिण्ड का निर्माण करके इस अपरूप ब्रह्माण्ड को अपने 'भाण्डार' में गर्भोल्वण द्वारा आवृत्त कर देता है। यही व कार है। व कार से सीधे-सीधे 'र' का रूपायण नहीं हो जाता। मध्य में ल कार की (पिण्ड के लिये आवश्यक Plastic, Mouldable Condition) स्थिति है। निगूढ़ नेपथ्य की अवस्था को उच्छिन्न करते हुये वह बाहर आता है। तत्पश्चात् है 'र' कार। जैसे अन्न। अन्न द्वारा ही शारीरयंत्र को अपने चालन के लिये आवश्यक ताप प्राप्त होता है। वायु, जल, मृत्तिका इत्यादि में अन्न व्यापक एवं सचलरूप से अवश्यमेव स्थित है, किन्तु उस रूप में वह हमारे लिये सम्यक् आहार्य अन्न नहीं है। वह भले ही वृक्ष-लता आदि के लिये अन्न है, परन्तु हमारे लिये विहित एवं आहार्य नहीं है। हमारे लिये जो भी आहार्य है उसे व्रीहीयव एवं दुग्धादिरूप में प्राप्त करना होगा। अर्थात् जो अन्न "हय" आकृति में था उसे 'व' आकृति में पाना होगा। जो अन्न व्रीहियवादि रूप में व्यापक तथा सचल है, उसका 'रुद्धभाण्डस्थ' अथवा 'गोदाम' में बन्द' रूप किसी प्रकार से घटित हो जाता है। तदनन्तर उस नेपथ्य में बद्ध, रक्षित अन्न को हमारे शरीर अथवा मानसिक शक्ति के रूप में प्राप्त करने के लिये, उसे ल कार (Plastic, Mouldable, Assimilable form) के द्वारा ही प्राप्त करना होगा। भास्कर की विपुल सचल, भोजव तेज की राशि ही उक्त 'ह य' की आकृति है, तथापि इस रूप से वह हमारे अन्न पाक का ईन्धन नहीं है। अतः काष्ठ आदि के द्वारा, कोयला, किरासिन, पेट्रोल आदि में उसे सर्वप्रथम 'व' के रूप में पहचानना पड़ता है। तदनन्तर वह इस ल कार की मध्यस्थता से 'र' (व्यक्त अग्नि अथवा तेजः रूप में) के रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ ज्ञान है 'ह य', कर्म है ल र, मध्य में भाव की अवस्थिति 'व' रूप से है। प्रणव का नादविन्दु 'ह य', है। अर्धमात्रा व तथा अऊम को 'ल र' का रूप दिया गया है। विश्वस्पन्दन में जो वीचि आकृति (ह य 'व'

ल र) है, वह निखिल अभिव्यक्ति की मौलिक आकृति है। ह य र व ल को ब्रह्म के ईक्षण की ऋजुधारा कहा जाता है।

ब्रह्म के ईक्षण की ऋजुधारा। उसमें वकार का अनुप्रवेश। अनुप्रविष्ट 'व' को कैसे जानना होगा ?

इक्षित में इक्षिता के अनुप्रवेश के कारण यह ऋजुधारा कार्यतः ऋजु नहीं रह जाती। जपसूत्र में उक्त है "तमेवाधिकृत्याणुप्रवेशो ब्रह्मणः"। इसी अधिकार के द्वारा ब्रह्म का अपना ईक्षण अथवा सृष्टि में अनुप्रवेश होता है। वह क्या है? वह बिन्दु है। यह विन्दु एक ओर ह य में तथा दूसरी ओर ल र में प्रविष्ट होकर सर्वत्र सृष्टि की उपरोक्त वीचि आकृति का संघटन करता है। अतएव ह य व ल र के मध्य में स्थित जो व है, उसे केवल वरुण बीज ही नहीं समझना चाहिये। अन्यथा यह विचार आ सकता है कि यह 'अनधिकार प्रवेश' अथवा 'अनधिकृत्य प्रवेश' है। तथापि यह बिन्दुगर्भित बिन्दुशक्ति का रूप है। अधिकृत्य अधिकारी का सन्धोपाधिक प्रवेश अथवा अनुप्रवेश है। विन्दुगर्भित वरुण शक्ति ? 'अप एव ससर्जादौ तासुबीजमवाक्षिपत्' इस सृष्टि क्रम का स्मरण करो। इस प्रसंग में जपसूत्र के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद की १७, १९, एवं २० सूत्र कारिकाओं को देखो। पुनश्च, अन्त्यस्थ एवं वर्गीय 'व' कार का उच्चारण करके प्राणप्रयत्न को लक्ष्य करो। 'संकुचत् आवृत्' आकृति से विन्दु का, प्रसरत् विवृत् 'आकृति' से वरुण का द्योतन होता है। अत :'ह य व ल र' मे व का उच्चारण भी मुख्यता संकुचत् आवृत् आकृति से ही करना होगा। क्योंकि अनुप्रविष्ट विन्दु की ही प्रधानता रहती है। शेष आकृति 'ल र' कहीं अथवा आवश्यकतानुरूप स्वयं को उल्टा कर देता है जैसे 'ह य व र ट् ल ण।' व्यवहारक्षेत्र में भी इसका सहजता से उदाहरण मिल जायेगा। इस कारण ल एवं र का अभेदत्व माना गया है। विन्दु सम्बन्धित ब्रह्म के इस अनुप्रवेश की भावना निम्नोक्त कारिका के द्वारा करो—

> ऋज्वीधारा हंयवरलतो ब्रह्मणो येक्षणाय
> तस्यां व्याजप्रजनन मृते संम्भवेन्नप्रपंञ्चः।
> पूर्णं शून्यं परिणयमितो ब्रह्मणोविन्दुभावे
> तत्सम्बन्धी हयवलरथा ब्रह्मणोऽनुप्रवेशः ॥६६॥

ऋजुधारा, अनृजु वीचि आकृति (wave pattern) इत्यादि का परिग्रह कैसे होगा ?

'ह य र व ल' रूप से ब्रह्म का सृष्टि के लिये जो ईक्षण है, उसकी ऋजुधारा हो गई है, किन्तु पंचीकरण आदि के अभाव में इस पंचसृष्टि की उपपत्ति संभव नहीं है। अतः इस ऋजुधारा से ही किसी प्रकार से अनृजुत्व की उत्पत्ति होती है, जिसके फलस्वरूप कुछ भी सरल (सीधा) नहीं चलता। 'टेढ़ा-मेढ़ा' चलता है।

वीचि (लहरों) की भंगी से चलता है, चलते-चलते घूर्णित हो जाता है, आवर्त्त की सृष्टि करता है, गह्वर हो जाता है । विराट तथा अणु, दोनों की अण्डाकृति (Sphe re or spheriod Pattern) हो जाती है । ऋजुरेखा में जो इस प्रकार का व्यतिक्रम है, उससे प्रपंचसृष्टि होती है । प्रपंच में कहीं भी ऋजु तथा सरल से कार्य नहीं चलता । ब्रह्म के किसी प्रकार की विन्दुरूपता के ही कारण शुद्ध ऋजु में भी अनृजु अथवा वक्र की स्थिति हो जाती है । जैसे एक सरल रेखा है । जब तक उसे एक अखण्ड अविभाज्य वस्तु समझते हैं, तब तक वह टेढ़ी नहीं होती, किन्तु विन्दु गतिपथ रूप में, अर्थात् बिन्दु के सीधा चलने पर भी, उसे इच्छानुरूप वक्र होने में कोई बाधा नहीं रहती । घूमना-फिरना, वीचि-आवर्त्त, गुहा-अण्ड आदि सभी आकृति अथवा Pattern बिन्दु को आधार बनाकर ही सत्तान्वित रहते हैं । अतएव ब्रह्म अथवा भूमा इसी विन्दुरूपत्व को ग्रहण करने के उपरान्त प्रपन्च की रचना करते हैं । वास्तव में यह ब्रह्म विन्दु क्या है ?

ब्रह्मविन्दु क्या है ? समस्त सृष्टि में यह किस प्रकार अनुप्रविष्ट है ?

इसमें ब्रह्म के पूर्णत्व तथा शून्यत्व का अनिर्वाच्य मिथुनीभाव घटित होता है । विन्दु एक साथ ही सद् एवं असद् काष्ठा है । वट के एक बीज को लो । उसमें वृक्ष है अथवा नहीं है । विचार करो कि इसका उत्तर क्या होगा ? अन्वय तथा व्यतिरेक तो पृथक् हैं । किन्तु ऐसा एक स्थान अवश्य है, जहाँ पर अन्वय कहता है कि "मैं तो पुराभाव हूँ" । व्यतिरेकी भी यही कहता है । यहाँ दोनों ही काष्ठाप्राप्त हैं । अतः इच्छानुसार एक ही काष्ठा को पूर्ण अव्यक्त (असत्) और दूसरे की काष्ठा को पूर्णव्यक्त (सत्) कहा जा सकता है । एक है ऋणमुखीधारा का अवसान (Negation Series का) । दूसरा है धनमुखीधारा (Affermation Series) का अवसान । इन दोनों का योग है शून्य । यह कैसा शून्य है ? यह पूर्ण शून्य है । इसमें, इसकी कुक्षि में । धनमुखी एवं ऋणमुखी दोनों धाराओं का अवसान अवस्थित रहता है । इससे ही ये दोनों अनन्त एवं विभिन्न रूप से (धन एवं ऋण) प्रसृत होते हैं । प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का प्रारंभ एवं अवसान भी इसी विन्दु में होता है । अतएव यह निरूपण योग्य नहीं है । तथापि विन्दुरूपी परम रहस्यबीज की आवश्यकता तो है ही । ब्रह्म एवं विन्दु के अधिकार के कारण (एतदधिकृत्याधिकारिसम्बन्धोपहित होने पर) उसका ईक्षण एवं ईक्षित भी सृष्टि में सर्वत्र अनुप्रविष्ट रहता है । उसका ईक्षण विन्दुरूप है एकोऽहम् । अनुप्रवेश भी सामान्य एवं विशेष, दो प्रकार से होता है । जैसे आकाशादि का वाचक है, य, सामान्यरूप से विन्दु का आश्रय लेकर हं तथा यं हो जाता है और (हं यं) एवं (लं रं) इन दोनों में वं का प्रवेश ही विशेषानुप्रवेश है । जपसूत्र के प्रथमाध्याय के तृतीय पाद के कतिपय सूत्र तथा कारिकाओं में इस

तत्व के निरूपण की यथासंभव चेष्टा की गयी है। मन्त्र में (प्रणवादि में) विन्दुरूप से ब्रह्म का अनुप्रवेश सविशेष ध्यानयोग्य है।

अक्षर में विन्दु का अनुप्रवेश—नादरूपेण विस्तार-अर्धमात्रा रूप से नाद-विन्दु का मिथुनीकरण

मंत्राक्षर में विन्दुमाध्यमिक अनुप्रवेश की धारणा इन दो कारिकाओं द्वारा करो ;—

सामान्येनाक्षरतिलकोऽर्त्तियो विन्दुलेख
स्तेनैवाप्तं हि वियदनिलादेः स्वबीजाक्षरत्वम् ।
विन्दोर्द्वित्वेऽक्षर मनुगते नादमैच्छद विसर्ग
श्चार्द्धमात्रा शिवशशिकला द्वामिमौ चन्द्रविन्दुः ॥६७॥
व्यक्तैर्व्यक्तां दधति च कलामक्षरादीनि वाचि
विन्दोर्गुह्या भवति च कला गोप्यबीजादिगर्भा ।
सेतोविन्दु भजति च कला मृग्यनादा विसर्गान्
नाग्रं नानु प्रविशति कलाविन्दुनाद्यातिगं तत् ॥६८॥

एक-एक अक्षर जिस समय अक्षरतिलक विन्दु को तिलकविन्दु के समान अपने मस्तक पर धारण करते हैं, अर्थात् जब ह, य, र इत्यादि अक्षर उक्त तिलक विन्दु को धारण करते हुये हं, यं, वं इत्यादि का रूप धारण करते हैं, तब क्या होता हैं ? तब अक्षर ब्रह्म द्वारा विन्दुरूप से अनुप्रवेश के कारण, ये सब अक्षर वियद् आदि के वाचक न होकर उनके बीजाक्षर हो जाते हैं। यह है विन्दु के द्वारा सामान्यतः अनुप्रवेश का उदाहरण। तदनन्तर इस विन्दु का द्वित्व होता है (कारण और सूक्ष्म में 'एकोऽहं बहुस्याम्' इत्यादि प्रक्रिया का प्रारंभ हो जाता है। स्थूल में एक बीज टुकड़ा होकर दो, दो से चार होने लगता हैं)। परिणामस्वरूप एक विन्दु द्वित्व में 'विसर्ग' होकर नाद को (वितान विस्तार को) प्राप्त करने की इच्छा करने लगता है। (ऐच्छत्)। अन्त के अक्षर के मूर्द्धा में जो चन्द्रविन्दु (ह्लीं आदि रूप से) है, वह अर्धमात्रारूप सेतु होकर नाद-विन्दुरूपी दो काष्ठा को ही (द्वामिमौ) प्राप्त होकर उनके उस पार जाने में प्रयत्नशील होने लगता है। यह अर्द्धमात्रा ही शशिशेखर के भाल पर 'शशिकला' के रूप में स्थित है। 'अर्वत्ति'—'आप्तं'—'ऐच्छत्' इन तीन अतीतकाल के द्वारा क्या सूचित होता है, यह विचार करो !

कलाशक्ति—व्यक्तगुह्यादि द्विविधरूप से

वाक्य में अक्षरसमूह 'क–ख–ग आदि रूप से व्यक्तिरूपता (as Iudividual Sound and Script) धारण करने के लिये शक्ति की जिस कला का (Aspect का) आश्रय लेते हैं, उसे व्यक्तकला कहा जाता है। इन सब स्थलों पर अंश के साथ समग्र का जो अन्वय है, अनुमर्श अथवा अनुग्रह है, उसे अनुप्रवेश का ही रूप

जानना चाहिये। अन्वयादि तीनों को आंग्लभाषा में Involution, Implication, Inspiration कहा गया है। तत्पश्चात् कहीं ह्रीं आदि गोप्य मंत्रों में जो गर्भित शक्ति है, वह शक्ति साक्षात् रूप से विन्दु द्वारा ही प्राप्त है। विन्दुरूपा इस कला को गुह्यकला कहा जाता है। व्यक्तकला के साथ तुलनात्मक रूप से यहाँ लक्ष्य करो कि यद्यपि विन्दु के साथ अक्षर में व्यक्तिरूपता अवश्य है, किन्तु उसका Stress इस बार अंशाभिव्यक्ति पर न पड़कर समग्र शक्ति कुण्डलिनी पर पड़ा है, तदनन्तर विन्दु के द्विभाव (Inner Polarisation) से उत्पन्न विसर्ग का आश्रय लेकर कला नाद (वितान, विस्तार का The sense of Expansion) का अनुसंधान करती है (मृग्यनादा)। इसे उर्वीकला कहा गया है। अब नाद विन्दु की काष्ठा लेने के लिये सेतुरूपा अर्धमात्रा इन्दु अथवा ऐन्दवी कला (चन्द्रविन्दु) की अपेक्षा करती हैं। ये सभी उस (तत्) परमाक्षर के अनुप्रवेश से युक्त हैं, किन्तु स्वरूपतः वह 'तत्' विन्दुनाद कला से अतीत भी है। अतः अग्र से अथवा पश्चात् से, कहीं से भी उसमें विन्दु नाद कला का प्रवेश नहीं हो सकता।

जो विकल्परहित तत्व है, उससे सत्यमिथ्या आदि विकल्प का उदय कैसे होगा ?

ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्''। उस स्वरूप में अनुप्रवेश किस प्रकार से होगा, इसके लिये इस करिका की भावना करो :—

आनन्त्यं यदह्यनवसरदं पादमात्रांशसीम्नां
सत्यं यद वापि नहि सहते सत्यमिथ्योत्थभावम् ।
ज्ञानं यच्चापि न हि वृणुतेऽनावृतस्यावृतिंवा
तत् स्वारूप्येऽघटनघटनी कीदृशी कस्य शक्तिः ।६९।।

जो निर्विशेष आनन्त्य पाद है, मात्रा-अंश-अथवा सीमा, काष्ठा आदि को वहां कोई अवसर ही नहीं है। वह द्वंद्वातीत है। वह सत्य एवं मिथ्या अथवा इस प्रकार के किसी भी विकल्प से उत्थित भाव को सहन नहीं कर सकता। वह शुद्ध निरंजन ज्ञान है। वह स्वरूपतः अनावृत है, अतः किसी भी आवृति अथवा आवरण के किसी भी क्रम का वरण ही नहीं कर सकता। अच्छा, कहो किसकी वह शक्ति है, जो इस तत्, निर्विशेष, द्वंद्वातीत, शुद्ध निरंजन, स्वरूप में अघटन घटित कराती है ? पुनश्च—

सच्चिदानन्द वस्तु 'किं-कथं' प्रभृति जिज्ञासा के परे है। अथच आश्चर्य यह है कि बुद्धि तथा वाक् उस वस्तु को लेकर केवल किं कथं ही करते रहते हैं !

प्रमाता वाऽनपिहितचिति स्यात् प्रमेय प्रमाणं
जिज्ञासा वाऽनुपहित सति प्राचि सत्वं न वा तत् ।

लब्ध्वा तं वा हृनलसितरसं कस्य वानन्दिशब्दो
नीतं स्कन्धं स्वकमपि नयेत् कः कथन्तादि पारम् ॥७०॥

वह स्वप्रकाश चित्ज्योति कभी भी आवरण को स्वीकार नहीं करती। (अनपिहित), वह प्रमातृरूपेण (ज्ञाता अथवा ग्रहीतारूप से) विषयों का प्रकाशन अवश्य करती है, किन्तु प्रमेय (ज्ञेय-object, ग्राह्य) रूप से वह क्या है, प्रमाणरूप से वह क्या है ? जैसे 'यह घट है' में प्रमाता प्रभृति तीनों को ही चैतन्य उपाधि से युक्त किया गया है; तथापि इन तीनों उपाधि को और उसके लिये तदनुरूप भूमिका को अबाधित प्रकाशमात्र नित्य रूप चित् ने स्वीकार क्यों किया ? इस जिज्ञासा का सम्यक् उत्तर कौन, कब आगे आकर देगा ? जब निर्विशेष शुद्ध सत् ही एकमात्र विद्यमान है, तब देखो यह जिज्ञासा कैसे उदित हो सकी 'सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्' अथवा "असदेव सौम्य" ? अर्थात् निर्विशेष रूप सद् में सत्, असत् एवं सद्सत् रूपी भेद आरोपित कैसे हुये ? पुनश्च, जो रस साक्षात् एकरस और भूमा है, उस रस के सम्बन्ध में "रसं लब्ध्वा ह्ययं आनन्दी भवति" इस श्रुतिवाक्य एवं अनुभूति (Relevancy) का उपयोग कैसे हुआ ? कौन बुद्धि अथवा वाक् अपने कन्धों पर चढ़ाकर 'किं कथं' इत्यादि जिज्ञासाओं के सम्भावना के पार वाली वस्तु के पास ले जाने में समर्थ है ?

ब्रह्म के बिन्दुरूप में सर्वत्र अनुप्रवेश की पंचविधता

प्रत्येकम् तत् परमपि किम् प्राविशद् वा प्रतीचा
सर्वस्मिन्न् वा सममपि किम् प्राविशत् तत् समीचा ।
तिर्यक्त्वं किम् तदृजुपरमं प्राविशद् वा तिरश्चा
किं वाऽनुचा स्थितमपि चिरं प्राविशद् किं पराचा ॥७१॥

क्या वह परमतत्व 'पर' सर्वातीत (Absolute Transcendent) होकर भी प्रत्येक वस्तु में (अणु से विराट तक में) प्रविष्ट है क्या (परमपि किम् प्राविशत्) ? जो 'पर' है वह किस प्रकार से प्रत्येक में प्रविष्ट (universally Immanent) होकर 'प्रत्यक् हो गये ? परम की प्रत्यगवृत्तिता (प्रतीचा भाव से) के अभाव में अणु अथवा विराट भी अपने स्वभाव में अपनी शक्ति तथा अपने स्वधर्म को नहीं प्राप्त कर सकते। यह तो सत्य है किन्तु जहाँ दिक् देशकाल सम्बन्ध आदि की कोई निरुपणीयता ही नहीं है, वहाँ यह प्रत्यक् अथवा प्रतीचा रूप का निरूपण सावकाश कैसे हो सकेगा ? क्या माया निमित्त कल्पना द्वारा ? माया तो केवल यह द्योतन कराती है कि जिसमें स्वरूपतः कोई 'मान' नहीं है, उसमें किसी प्रकार का 'मान' आ गया है। जो अमेय है, वह मेय हो गया है। It is a Simple statement that you have a desired frame of

reference for appreciating the Alogical given माया कहने से वह Alogical सत्यासत्य तो Logical नहीं हो जायेगा !

केवल यही नहीं कि Alogical आ जायेगा। भाग्यवशात् तुम्हारा जो frame of Reference जुट गया है, उसमें भी वह ओतप्रोत हो जायेगा। उसमें कुछ भी, यहाँ तक कि एक धूलिकणा भी इस फ्रेम में यदि चला आयेगा, वह ब्रह्मादि को भी उसमें नहीं आने देगा "हरिहरादिभिरप्यपारा"। इस काण्ड को हम इस जपसूत्र के तत्व सूत्र में विशेष रूप से लक्ष्य करेंगे। वह लक्ष्य होगा माया एवं महामाया सूत्रों में। जो कुछ भी हो, इस प्रतीचा को स्वीकार करने के कारण, वह परम फल होगा प्रत्यगात्मा। केवल प्रतीचा ही नहीं, समीचा का भी चिन्ता करो।

जो वास्तव में निर्दोषसम है, वह सब में सम्यक्रूपेण प्रविष्ट हो जाता है। यह कैसी बात है ? उस परमसमता में "असमा" को प्रवेश का स्थान कैसे मिलेगा ? यहाँ तक कि ऐसा क्या था, क्या है अथवा होगा जिसमें वह नहीं था, नहीं है, अथवा नहीं होगा ! ऐसा भी हो सकता है कि वह रहने पर भी असम्यक् रूप से था ! इसी कारण उसे पुनः अभाव में भावरूप होकर, असम्यक् से सम्यक् भावरूप होकर, उसमें वर्त्तन करना पड़ा ? माया केवल मात्र इस प्रकृति की मुखरता का मुख बन्द करने का एक चमत्कारी कपट योजना थी। रस्सी—इन्द्रजाल, रज्जु में सर्प इत्यादि का दृष्टान्त दिखलाते हुये अनिर्वचनीय ख्याति का एक बड़ा फार्मूला अंकित करके वास्तव में 'अबूझ' को 'बूझ' 'समझाने की चेष्टा को कपट योजना के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?

तब भी क्या वह परम समता नहीं है ? श्रुति एवं अनुभव दोनों द्वारा इसका होना सिद्ध हो जाता है। वह परम समता है, अतएव सब कुछ है। उसके अभाव में सब का अभाव हो जाता है। 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां' किन्तु यह अन्वय व्यतिरेक आत्म प्रत्ययैक सिद्ध है। तुम्हारा यह "वन्हि व्याप्यधूमवानयं पर्वतः" इत्यादि एकबारगी फेंक देने वाला तथ्य नहीं है। अधिष्ठान तथा अभ्यास रूपी शब्दद्वय के द्वारा अवांङ्‌मनसगोचर की किसी गति को वाग्बुद्धि के 'स्टाल' में गोचर, प्रत्यक्ष कराने के लिए मानों लेबिल लगाया लगाया गया है।

इसके पश्चात् इसी लेबिल के 'मारफत' माध्यम से लेन-देन अच्छी तरह चलेगा। लेन-देन में कहीं खुद ही वस्तु का बयाना (Advance) न कर बैठें। केवल हुन्डी से ही कारबार चले। नगदी का मुखावलोकन ही न हो ? नगद माल अन्यत्र 'मौजूद' हैं। कोई भी ब्रह्मानन्दी से साक्षात् भूमानंदी न हो जाये ! किसी अद्वैत ब्रह्मसिद्धि से साक्षात् परोक्षवस्तु सिद्ध नहीं होती। जो Absolute Fact है, उसकी पुनः सिद्धि कैसी ? यदि उपलब्धि को ही सिद्धि कहें, तब भी वह विचार विवरण के सम्पर्क में नहीं आता। तब क्या विचार विवरण को दुर्भाग्य कहें ? नहीं, यह नहीं

कह सकते। क्योंकि विचारों को लेकर ही सब कुछ चलता है। उसे एक बुराई कह कर कहाँ भाग कर जाओगे? जब तक तुम अचल नहीं हो जाते, तब तक उसे विदा करके तुम कहाँ खड़े हो सकोगे?

केवल यही नहीं। जो कहता है उसके बिना चल जायेगा, वही पुनः तुम्हारे पास आकर कहेगा "अब मैं भागता हूँ"। ज्ञान हो, प्रेम हो, जो कुछ हो, परमात्मा की प्रान्तभूमि पर्यन्त प्रमाणविदग्ध सिद्धान्तविचार को दक्ष, विश्वस्त दिशानिर्देशक के समान साथ रखना ही होगा। अन्यथा पथ पर पग-पग पर विपद है। जप आदि के क्षेत्र में भी यही बात है।

उक्त पांच में से प्रथम दो (समीक्षा तथा प्रतीचा) और शेष के दो (तिरश्चा एवं पराचा) में से अनूचा की सिद्ध कैसे हो?

अच्छा, प्रवेश के रूप ने हमारी बुद्धि के दरबार में अपना विवरण दाखिल नहीं किया, फिर भी यह परिलक्षित होता है कि उस परम "तत्" वस्तु ने प्रत्यक् एवं सम्यक् को अंगीकार किया है। इसे अंगीकार करके ही प्रत्यगात्मा एवं अखिलात्मा अब सर्वभूतान्तरात्मा है। प्रथम में 'प्रति' तथा द्वितीय में 'सम' रूपी भेदक लिंग को जानना चाहिये। इन दोनों रूपों में परमतत्व के इन दोनों भेदक लिंगों (Differentia) के द्वारा अपहित भाव घटित होने पर भी "तिरोहित मिव" भाव घटित नहीं होता। इन-इन भावों में वह सत्स्वरूप, प्रकाशस्वरूप तथा आनन्दरूप से स्थित है। किन्तु तिरश्चा एवं पराचा रूप उपाधिद्वय अथवा भेदक लिंग की स्वीकृति में "तिरोहित" घटित हो जाता है। जो सम एवं ऋजु था वह जाने कैसे विषम एवं वक्र हो गया, असमवृत्ति तथा कोणिज वृत्ति रूप हो गया! परिणामस्वरूप भोक्ताभोग्य, कर्त्ताकार्य, अन्तर्बहिः, उच्चावच, परापर भेदसमूह प्रपंञ्चित होने लगे। किन्तु पहले के दो और अन्त के दो, इनकी सन्धि किसके द्वारा हुई? 'अनूचा' के द्वारा—अनु + गत्यर्थ अञ्च धातु + क्विप = अन्वच् = अनुप्रविष्ट। अतः अनूचा लिंग के द्वारा ही ब्रह्म का अनुप्रवेश होता है। किस प्रकार से? विभर्त्ता अव्ययात्मरूप से और नियन्ता ईश्वर रूप से। यहीं हैं 'भूतभव्यानां भर्त्ता' तथा ईशानः। इस प्रकार से ये सर्वत्र प्रविष्ट होकर भोक्तृभोग्यादि विचित्ररूप से और परापर उच्चावच रूप से सब को प्रपंचित एवं नियंत्रित करते हैं। समीचा, प्रतीचा, अनूचा, पराचा, तिरश्चा आदि लिंगपंचक में साक्षात् विन्दु तत्व भी है। उसी का आश्रय लेकर ब्रह्म भी सृष्टि में अनुप्रविष्ट होते हैं।

सृष्टि का मूलभूत मिथुन तत्व (Polarity Principle) उनका प्रतीक योनिलिंग

विश्व का मूलीभूत जो मिथुनत्व है (Polarity Principle) उसका आदिम प्रतीकरूप लिंग एवं योनि है। उनकी इस प्रकार से चिन्तना करो—

एकं लिङ्गं भुवनकृतये लिंगपंञ्चत्वमाप
योनिश्चैका भुवनभृतये योनिपंञ्चत्वमाप्ता ।
पंञ्चानां वा भुवनरुचये द्वादशत्वं बहुत्वं
योनिं स्वां तद् जिगमिषति किं वस्तुतोऽयोन्यलिङ्गम् ॥७२॥
बीजं धत्ते सकलकलनाकांङ्क्षया निष्कलं तद
जीवस्तच्चाप्यसुसवनसुद् व्यष्ठितो वा समष्ट्या ।
ॐकारार्धे विशदविचलं विन्दुतो वा विसर्गाद्
ध्यायेन्नित्यं दहरमहतो योनिलिङ्गाद्यतत्वम् ॥७३॥

जो तत्व स्वरूपतः अयोनि तथा अलिंग है; उसने स्वयं की इन योनि तथा लिंग रूप में कल्पना कैसे किया ? 'ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' महद् ब्रह्मरूप निजयोनि एवं उससे बीजप्रद पितारूप 'निजलिंग' (अहम्) रूपी आदि मिथुनभाव कैसे जाग्रत हुआ ? 'एकाकी नैवरेमे' अतएव मिथुनीभूत हुये—'स्त्रीच पुमांश्च'। किन्तु अकाम अथवा आप्तकाम का यह कार्य हमारी बुद्धि विवेचना की परिधि के बाहर है ! "योनि स्वां तद्जिगमिषति किं वस्तुतोऽयोन्यलिङ्गम्'—तभी श्लोक के शेष चरण में यह चिर उन्मुख अतृप्त जिज्ञासा ! यह शाश्वतिक रहस्य और यह शाश्वती जिज्ञासा शिवलिंग विग्रह से विग्रहवान हो रही है। अच्छा ! अच्छा ! किसी प्रकार से अयोनि अलिंग तत्व ने योनिलिंग रुप धारण किया, किन्तु क्या 'एक' तत्व ही रहने से कार्य नहीं होता ? ना, नहीं होता, यह देखता हूं ।

जो एक है, उसने दो, तीन, पांच इत्यादि संख्याओं को स्वीकार क्यों किया ?

'भुवनभृतये' इस अपरूप विचित्र भुवन को जन्म देने के लिये इन एक लिंग ने पंचत्व का वरण किया (पूर्वश्लोक में जिन ५ प्रकार का प्रदर्शन किया गया है, वही ॐ कार के पंचावयव हैं) और इन पांचों द्वारा उसी प्रथमा (एक) योनि ने क्या द्रौपदीत्व ग्रहण किया, अर्थात् पंचलिंग का भजन किया ? वे पुरुष रूप से 'नाना' हुये। प्रकृति रूप से एक ही रहे क्या ? नहीं, यह भी नहीं हुआ। 'भुवनभृतये' भुवन के भरण के लिये उस एक योनि ने स्वयं को पंचधा प्रकट किया (जैसे पूर्व के एक श्लोक में योनि को आत्मा, गुह्य आदि रूप से, पंचकलारूप से प्रणाम किया गया है)। तब क्या यह पंच संख्या ही शेष है ? नहीं, ऐसा नहीं है। जैसे लिंग द्वादश (जैसे १२, ज्योतिर्लिंग) है और अनेक करोड़ है, उसी प्रकार योनि भी एक पंचाशत मातृका इत्यादि रुप से स्वयं को बहुधा प्रपंञ्चित करती है। क्यों करती है ? 'भुवनरुचये' इस भुवन की रुचि के अनुरोध पर। 'रुचिनां वैचित्र्यात्' सृष्टि में रुचिगत विचित्रता है, इसीलिये ? नहीं, ऐसा नहीं

है। मूल में जो ब्रह्मरस है, जो रुचि है, उसका विचित्ररुप से आस्वादन करने के लिये। इस प्रकार विचित्रित के आस्वादनार्थ रस वस्तु ही रास वस्तु हो जाती है। अतएव जब एकनाद ब्रह्म स्वयं को योनिलिंग अर्थात् कला एवं नाद रुप से ईक्षण करने के लिये, उस कला के बिन्दु का निक्षेप करते हैं, नाद-बिन्दु कला तो इन परम की ही त्रिपुटी है। उसी से समस्त मातृकावर्ण तथा निखिल सृष्टि की सम्भावना होती है। क्यों होती है? 'भुवनरुचये' के लिये। शहनाई का मुख्य स्वर जो है, उसी से नाना राग और विभिन्न छन्दों का आलाप होता है। रस तथा रास के इस अपरुप आलाप के 'आ' कार को पहचान लो।

कलन की आकांक्षा कलाशक्ति। कला एवं बिन्दुशक्ति का संयोग कैसे आवश्यक है? प्रणव सम्पुटित योनिलिंगरूप।

वह परमतत्व क्या निष्कल अथवा नित्योदित पूर्ण परमकला है? एक ही असीम, आदि रहस्य के दो 'दिक्' से क्या प्रतीत होता है? इन दोनों में से वे चाहे जो क्यों न हों, उन्होंने क्या 'सकल' रूप से इस भुवन के कलन की आकांक्षा का आधान इस बिन्दुरुप बीज में किया है? कलन की आकांक्षा कौन सी वस्तु है? क्या वह योनितत्व तो नही है? इसे आकांक्षा के स्थान पर इच्छा कहा जा सकता है। दोनों में 'आ' कार है। तथापि 'आ' कार आकांक्षा में तीन-तीन बार है। इन तीन का अवश्य कोई न कोई अर्थ है। वह अर्थ रहे न! इच्छा शब्द के आगे अचिन्त्य विशेषण को भी स्थापित किया जा सकता है। जो कुछ भी हो, बिन्दु तो बीज है। वह इसी रूप में निखिल कलनाकांक्षा में प्रविष्ट रहता है। स्मरण रखना कि कोई भी आकांक्षा बिन्दु को बीजरूप से गर्भ में धारण न करने पर वीर्यवती अथवा सफल नहीं होती। बीज में पौधे की आकांक्षा निहित रहती है। जपकर्त्ता को सिद्धि की आकांक्षा है। रसिक साधक को रसास्वादन की आकांक्षा रहती है। सभी को बिन्दुरूप उस परम उन्मुखी Potency की (शक्ति की) कृपा तो चाहिये ही! वितत-विरल Energy का केन्द्रीय घनीभाव तो चाहिये ही। अच्छा! बिन्दुरूपा इस आदिबीज को आदिजीव के रुप में देखो! व्यष्टि जीव से प्रारम्भ करके समष्टि जीव (हिरण्यगर्भ) पर्यन्त देखो। श्रुति ने हिरण्यगर्भ को प्राण कहा है। व्यष्टि अथवा व्यक्ति में वे ही व्यष्टि प्राण के रुप में जीवत्व आकृति (Pattern) को 'कायम' रखते हैं। किन्तु व्यष्टि-समष्टि में 'असु' अथवा प्राण का सवन किंवा हवन तो निरन्तर चलता रहता है। 'एष जागर्त्ति'। किन्तु यहाँ यह 'प्राणहवनभृत्' क्या है? यह है पूर्वकथित परमराहस्यिक योनिलिंगतत्व। 'मैं जीव होऊंगा' इस आकांक्षा के साथ योनि में बिन्दुशक्ति (Nuclear Creative Potency) रुप बीजाधान किया जाता है। कौन करता है? जिनके स्वरुप में योनि अथवा लिंग नहीं है, वे करते हैं। क्या यह

आश्चर्य की बात नहीं है ? तत्पश्चात् जो ॐ कार वाक्प्रभव विश्व के मूल में है, उसके अर्ध (मध्य) में भी वे बीजाधान करते हैं। वहाँ अर्धमात्रा ही योनिरुपा है। अर्धमात्रारुप योनि में नादब्रह्म बिन्दुरुप बीजाधान करते हैं। अतः प्रणव भी यही परम योनि एवं लिंग से सम्पुटित है।

सभी अवस्थाओं में सर्वत्र शिवलिंग का ध्यान। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसकी रहस्य व्यंजना।

अतएव अणु एवं महान्, दोनों में योनिलिंग रूप इस आदिम तत्व का नित्य ध्यान करो। इसे करने पर अब अनित्य कामनाओं के सम्बन्ध का कोई कारण नहीं रह जायेगा। नित्य परम ज्योतिरस तत्व का प्रत्यक् एवं सम्यक् स्फुरण होता रहेगा। समस्त भूमिकाओं में, सभी अवस्थाओं में, सभी अधिकारों में इस शिवलिंग ध्यान को परमक्षेम देने वाले "परमशिव" को ही जानना। पुनश्च :—

शोणां स्वीया मरणिमधरां चोत्तरं स्वस्य शुक्लं
निर्मन्थात्यक्षरमपि चलद्रेतसे योनिलिङ्गम्।
ततो योनौ जनिरपगता याति लिङ्गं ह्यलिङ्गं
हौमित्येकाक्षरमनुतनु श्चोर्द्धगोऽनादिलिंगः ॥७४॥

वह परमतत्व अक्षर है। वे क्षररहित होने पर भी पता नहीं किस अभावनीय प्रयोजन से क्षर (चलत्) हो जाते हैं। इस उपाय को कौन कह सकता है ? देखता हूँ कि क्षर होने की कामना के कारण वे आदि में योनिलिंग रूप परम राहस्यिक मिथुनीभाव की उपाधि को ग्रहण कर लेते हैं। क्यों ? "रेतसे" मैं अक्षर ब्रह्म हूँ। मैं बिन्दुरूप होकर निखिल क्षररूप में प्रविष्ट होता हूँ और समस्त अणु महान, सब कुछ का बीजरूप 'मैं' हूँ (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) यह दिखलाने के प्रयास का भरण करूँगा। क्यों दिखलाऊँगा ? इस लिये दिखलाऊँगा कि जो क्षरित हो रहा है, च्युत हो रहा है, वह भी स्वभावतः अक्षर है एवं अच्युत है। वह मुझसे ही स्वभावतः युक्त है, ग्रथित है। अतः क्षरित होने पर भी वह 'च्युतमिव' है। यह जो 'इव' रूप है इसे ही पहचानना और पृथक् कर लेना ही तो योग; ज्ञान भक्ति आदि साधनाओं का साध्य है। इस 'इव' को पृथक् करके 'एव' करना तो सभी साधकों का 'साध्यशिरोमणि' है। अच्छा, 'योनिलिंग' व आकृति (Pattern) को अंगीकार करके बीजाधान करते हैं। अपनी प्रकृति में अपनी अध्यक्षता करते हैं ('मयाध्यक्षेण प्रकृतिः' ···)। क्या पता क्यों उन्होंने 'न वै रेमे'—अतः 'रमणीरमण' यह युगलरूप धारण किया। यह रूप धारण करने पर भी (दोनों के आश्रय एवं विषयरूप में) वे "रसो वै सभूमा" रूप से दोनों के आश्रय तथा अधिष्ठान हैं। अतः सभी रसास्वादन की परमता की भूमि जो है, वह 'न सो रमण ना हम रमणी' इस अभावनीय शाश्वत परम निबिड़भाव की भूमि है। समस्त परम निवि-

ष्ठता की भूमि ही है, यह परमाश्चर्य अद्वैत भूमि। जब तक तुम वास्तव में चीनी खा रहे हो, उस समय वास्तव में चीनी स्वयं को खिलवा ही नहीं रही है, प्रत्युत् वह तुम को भी खा रही है ! तुम्हारा जो 'तुमित्व' है, वह उसमें मिलता जा रहा है। अर्थात् उस समय तुम और चीनी एक है। सब कुछ में 'वही' है। एक फूल देखते हो, अथवा मन में एक वेदना का बोध हो रहा है, सर्वत्र ही 'वह' है। साक्षात् अनुभव, गाढ़ संवेदन और उसे लेकर भावना, चिन्ता क्या एक वस्तु नहीं है ?

आत्मयोग में अरणिद्वय की कैसे भावना करना करना होगा ? पुनश्च इस मूल रहस्य का मन्थन रूप में ध्यान करो। मन्थन में तीन आवश्यक कला अथवा Component 'त्रेधानिदधेपदम्'

इसे (योनिलिंग उपाधि को) उन्होंने मानो अपने परम घनीभावरूप विन्दु के निर्मन्थन के लिये अरणिद्वय के रूप में कल्पित किया है। एक है शोणितवर्ण। यह है अधरारणि—योनिकला। दूसरी शुक्ल अरणि है। यह उत्तरारणि है। अध्यात्म के अग्निविद्या के विद्वानों ने इन अरणिद्वय का नानारूप से सन्धान, चयन तथा दर्शन किया है। जैसे आत्मा, प्रणव, कला, नाद आदि। रसिक तथा भावुक गण भी नाना प्रकार से इस अरणिमन्थन तत्व की भावना और आस्वादन करें। इस भावना तथा आस्वादन का फल कहते हैं—इस साक्षात् उपलब्धि तथा आस्वादन के चरितार्थ होने पर तब योनि जन्म (जनि) का क्षेत्र (आधार) नहीं रह जाता। तब लिंग भी तत्सम्पर्क क्षेत्री (आधेय) नहीं रहता। अर्थात् कला एवं नाद में प्रविष्ट विन्दु की अभिज्ञता तात्विक रूप से होते ही नादविन्दुकला से अतीत, अयोनि, अलिंग उस परमतत्व में स्थिति प्राप्त हो जाती है। मंत्रयोग में 'ह्रीं' यह एकाक्षर मंत्रमयी तनु है। अथच इसे अतिक्रम करने पर (उर्ध्वंग) आदिम आधार रूप से जो अनादि निधन शम्भुलिंग स्थित है, उसका जपध्यान करना चाहिये। तभी उक्तफल क्रमशः समधिगत होगा। पुनश्च :—

> द्वन्द्वव्यक्त्यायुदधिमथने जायते योनिलिङ्गं
> तेन त्रेधा दिवि किममृतं भूर्भुवःस्वर्निधातुम्।
> अग्रे पञ्चावतरणकृतो विश्रति ह्यात्मयोनिं
> पञ्चान्ते ये निदधति ततश्चासकृद् वात्मलिंगम्॥
> प्राणापानावरणियुगलं चन्द्रसूर्याख्यनाड्या
> वग्निषोमावपि मनुजपे व्याहृतौ भावमन्थः।
> हंसः सोऽहं कुललयकृतौ दृग्दृशेर्वा समाधौ
> रासोल्लासे पदपरिचये गीर्षुतच्छम्भुलिङ्गम्॥७५-७६॥

निखिल सृष्टि में (अणु से विराट पर्यन्त) जो द्वन्द्व (Polarity) विद्यमान है, उसे विशेषतः एवं विचित्ररूपेण स्फुरित करने के लिये (व्यक्त्यै), अर्थात्

विष-अमृत, आलोक-अन्धकार, आकर्षण-विकर्षण, ह्रास-वृद्धि इत्यादि नाना द्वन्द्वों को प्रपञ्चित करने के लिए इच्छुक होकर उन अयोनि—अलिंग परमतत्व ने 'योनि-लिंग' रुपी मूल द्वन्द्व को स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने "गम्भीरान्त:" स्वरुप अव्याकृत अव्यक्त (undiflerentited, uniflest) का मन्थन किया है। यह शाश्वत व्यापार निरन्तर तथा सर्वत्र चलता रहता है। मातृका (Matrix) ने उपादान रूप से सब कुछ को गर्भ में धारण किया है। उसके मन्थन का जो हेतु (लिंग) है, वह है 'त्रेधा निदधेय पदम्' वह कलात्रय अथवा Component से व्यापारवान हो जाता है। वह है दण्ड अथवा अक्ष, अक्षपीठ अथवा आधार एवं रज्जु। ये तीनों रहस्य संकेत हैं और सर्वत्र अनुस्यूत हैं। Axis, Base, Coefficient की आवश्यकता सभी प्रकार के मन्थन में रहती है। इनमें से अन्तिम में दो विरोधी कार्यकारी शक्ति (+ —) स्वयं को प्रकाशित करती है। बीज अंकुर होगा, सुषुप्ति जाग्रत होगी, अलसित रस अब उल्लसित होगा, मूक आलोचना ज्ञान इस बार विज्ञान हो जायेगा। सर्वत्र इस "त्रेधा निदधे पदम्" का अध्ययन करो।

'त्रिपादस्यामृतं' का तात्पर्य

अच्छा! भूर्भुव:स्व: इन तीन ख्याति का 'आक्रमण' करने से 'पद' रूपी त्रिविध कला का विन्यास किया है, क्या वह, त्रिपादस्यमृतं दिवि' तत्व है, जिसकी कथा ऋगमंत्र में भूरिश: कीर्तित है? दिवि, अमृतं, अस्य, तथा त्रिपाद कहने से क्या स्पष्ट होता है, इसका चिन्तन करो! मन्थन में तो अमृत के साथ विष और विष के साथ अमृत निकलता है, किन्तु क्या कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ प्रतियोगी विहीन अमृत चिर विद्यमान है? यहाँ (भूर्भुव: स्व:—भूमि में) एक पद की तीन कलायें हैं। वहाँ त्रिपात् (यह सत्चित् आनन्द, सत्य ज्ञान अनन्त, ह्लादिनि, संधिनी-संवित आदि नाना दृष्टि से देखा जाता है) का तात्पर्य है पाद, मात्रा, कलाकाष्ठा। इस वर्ग चतुष्ठ्य के अन्तर्गत जो पाद है उसे जानना होगा।

यज्ञफलामृत जो अमृत है, उसे कैसे प्राप्त करना?

दिवि में जो अमृत है वह स्वयं को यज्ञ फलामृत रूप से व्यक्त करते हुए जिस उपाधि का आश्रय लेता है, वह उपाधि है पूर्वोक्त योनिलिंगम्। इस उपाधि से 'भूर्भुवस्व:' रुपी त्रयात्मक व्याहृति अन्तर्बहि: सर्वविध यज्ञों में आकृतिमान् हो जाती इन व्याहृतित्रय को इस मौलिक पुरुषयज्ञ की यथार्थ आकृति के रुप में हम पहचानते हैं।

यज्ञ की अमृतकला के निमित्त श्री भगवान का अवतार।

दशावतार तत्व

तदनन्तर प्रसिद्ध दश महाविद्या एवं श्री भगवान के दशावतार। दशमहाविद्या की विवेचना स्थानान्तर में होगी। यहाँ दशावतार का तत्व इस आकृति से

ध्यान करो। यद्यपि अविहित दृष्टिकोण से अवतार नैमित्तिक होता है किन्तु आतत दृष्टि के अनुसार यह नित्य एवं सार्वजनीन है। दशावतार में इस परमरहस्यपूर्ण 'योनिर्लिंगम्' तत्व को कौन देखेगा ? आदि पंचावतार भगवान 'आत्मयोनि' हैं। वे सृष्टि की मूल करणता का विशेष रूप से प्रदर्शन करते हैं और शेष पंचावतार उस सम्बन्ध के मूल कारक रुप का प्रदर्शन करते हैं—(आत्मलिंगम्)। प्रथम में उनकी आत्मप्रकृति (निजमाया अथवा स्वमाया) का पूर्ण उपयोग होता है। शेष में उस आत्मप्रकृति में अपनी अध्यक्षता का पूर्ण उपयोग करते हैं। इस आत्म अथवा स्व, माया अथवा प्रकृति को एकबारगी पृथक दृष्टिकोण से देखना उचित नहीं है। प्रथम पञ्चावतार में स्वप्रकृति का प्रधान भाव और अध्यक्षता का गौण भाव है। शेष पञ्चावतारों में स्वप्रकृति का गौणभाव और अध्यक्षता का प्रधान भाव है। इसे अच्छी तरह समझो। इस प्रकार से दशावतार का पौर्वापर्य नहीं है।

मन्त्रयोगादि सब अध्यात्म साधनों में योनिर्लिंग तत्व का ध्यान

अन्त में सर्वसाधन के तत्वाश्रय 'योनिर्लिंग' का चिन्तन करो। प्राणायाम में प्राण तथा अपान की और चन्द्रनाड़ी (इड़ा) एवं सूर्य नाडी (पिंगला) की योनि-लिंग प्रतीक अरणियुगल के रुप में भावना करो। यह चिन्तन करो कि अरणियुगल के मन्थन से उक्त साधनों में किस प्रकार की अग्नि सौषुम्न) की अभिव्यक्ति होती है ? मंत्रजप में क्या भावना करोगे ? मंत्राक्षर (जैसे ह्रीं में निहित अग्नि तथा सोम की पारस्परिक "संगतता" होनी चाहिये, अन्यथा आपत्ति आ जाती है। पुनश्च, मन्त्र का व्याहरण और मन्त्र का अर्थ एवं भाव (अर्थभावन) इन दोनों के मधुच्छन्द एवं मित्रच्छन्द का मंथन होना आवश्यक। इसके पश्चात् लययोग में कुल (कुलकुण्डलिनि अथवा ब्रह्म) के लय के लिए जिस 'हँसः सोऽहम' साधना को करते हो, उसमें भी आदि में सौष्ठव, मध्य में सौषम्य (सौषुम्न) तथा अन्त में सामरस्य होना आवश्यक है। यहाँ योनिर्लिंगम् तत्व का गम्भीरता से अनुसन्धान करो।

भक्तियोग तथा ज्ञानयोग में भी अनुरूप भाव से ध्यान करना होगा।

रसाश्रय से जो साधन किया जाता है, उसमें भी अलसित वस्तु को उल्लसित एवं विकसित करना कैसे सम्भव होगा ? अन्तर्लीन रस का मन्थन आवश्यक है। गोपीजन एवं गोपीजन बल्लभ के परम मिथुनीभाव को अनुग भाव का समाश्रय करना होगा। अन्त में यह चिन्तन करो कि 'तत्वमसि' आदि महावाक्य विचारण के समय उसमें 'तत्' एवं 'त्व' पद के सम्यक् परिचयार्थ क्या आवश्यक होता है ? यहाँ 'त्वं' अधराणि है और 'तत्' उत्तराणि है। 'असि' पद द्वारा दोनों का मंन्थन किया जाता है।

कर्णमल एवं मानसमल-लक्षण, प्रतिकार

अतएव योनिलिंगम् तत्व के विग्रह शिवलिंग का ध्यान 'सर्वतो व्याप्य अत्यतिष्ठद्दशांङगुलम् ''रूप से करो। इसी से समस्त अभीष्टों की सिद्धि होगी। भुक्ति, मुक्ति, शुद्धाभक्ति, सभी अभीष्ट की सिद्धि होगी। पाश्चात्य लोगों नें लिंग पूजा को 'Phallic worship' Eratic symbolism' इत्यादि कहकर जो मन्तव्य प्रस्तुत किया है, उसके द्वारा केवलमात्र कर्णमल ही नहीं प्रचुर अजस्त्र मानसमल भी पुंजीभूत हुआ है। इसी कारण से श्रोत तथा मन का रसायन परमकल्याण 'शिवायन' अथवा 'लिंगायन' बधिर कानों में तथा संमूढ़ मन में सहजता से प्रविष्ट नहीं हो रहा है। शिवनिर्माल्य से पवित्र त्रिशूल शलाका से सर्वप्रथम हृदय एवं कर्ण का शुद्धीकरण करो। शिवनिर्माल्य = ॐकार। ॐकार अथवा तद्वाचक नाम के समान परम शिवप्रद निर्माल्य (निर्मलीकरण) और क्या है, बोलो? त्रिशूल = त्रिपादगायत्री। ॐकार के द्वारा त्रिवृत्कृत् गायत्री जप को संयत चित्त होकर करो। वहां क्या पाश्चात्य विद्वानों की कृपा से प्राप्त Solar Myth इत्यादि का कभी प्रवेश हो सकता है? त्रिशूल शलाका द्वारा सर्वप्रयत्न से कांटे को निकालो। कहते हो कि गायत्री पर अधिकार नहीं है। सभी दीक्षित साधक की अपनी गायत्री होती है। और शिव-शिव, हर-हर, काशी विश्वनाथ गंगा, यह सब नाम जप भी तो निर्मलीकरण वाले त्रिशूल हैं। विष्णु के कर्णमल से मधु-कैटम का प्रादुर्भाव हुआ था। तुम्हारे कर्णमल से प्रादुर्भूत हैं अशुश्रूषा और अवजिज्ञासा। मानसमल से प्रादुर्भूत होती हैं असम्भावना तथा विपरीत भावना, जिसके कारण तुम अश्रद्धधान हो जाते हो। तभी तुम्हारे परमार्थ में Apathy और Antipathy है। अब निम्नोक्त कारिका के द्वारा शिवलिंग का यथोक्त मंत्रजपध्यान करो :—

सब प्रकार के निर्मलीकरण में उपायस्वरूप शिवलिंग का ध्यान और मंत्रजप द्वारा अर्चना

शान्ताद्वैतं शिवमिति जपन् याह्यलिङ्गं परं तद्
होमित्येकं मनुमनुजपं स्तारकञ्चैकलिङ्गम्।
शक्त्या सार्द्धं शिवसमरसं हौंसइत्यर्ण युग्मं
पञ्चार्णञ्च त्रिपुरहरणं त्र्यम्बकं मृत्युमृत्युम् ॥७७॥

'ॐ शिवं शान्तं अद्वैतम्' इस श्रुतिमंत्र से जपध्यान करके (जपन्) लिंगरहित परमतत्व (अलिङ्गं परं तत्) में प्रविष्ट हो (याहि) श्रुति ने स्वयं प्रदर्शित किया है कि इस जप का प्रणवजप के अमात्र अथवा मात्रातीत में पर्यवसान हो जाता है। इस पर्यवसान के लिये 'अर्धमात्रा' रूपी सेतु का आश्रय लेना आवश्यक है। (यद्यपि श्रुति ने इसे स्पष्टतः नहीं कहा है)। शान्ताद्वैतभूमि के ठीक आगे जो भूमि है, वह रहस्य भाषा के अनुसार एकलिंग भूमि है। वही तारक है। प्रणव ही तार अथवा तारक

है । नादविन्दु की काष्ठा की परिपूर्णकला है अर्धमात्रा में । "ह्रौं" का एकाक्षर मनु वैखरी से पश्यन्ति की शेष प्रान्तभूमि पर्यन्त जप करने से (अणुजपन्) तुम तारक की मात्रात्रय के पार उत्तीर्ण हो जाओगे । इन सब भूमियों के अलिंग पर्यवसान, एकलिंग पर्यवसान इत्यादि को सांख्य आदि शास्त्रों में उक्त अलिंग पर्यवसान के साथ मिलाना उचित नहीं है । विवेचन (Discrimination) कर लो । अलिंग-अयोनि प्रभृति शब्द के पद के अर्थ को शोधित करते चलो । तदनन्तर शिवशक्ति (योनि-लिंग) का सामरस्य होता है । इसमें प्रविष्ट होने के लिये शक्ति—शक्तिमान के तादात्म्यबोधक 'ह्रौंसः' रूपी दो वर्णों वाले महाबीज का जपध्यान करो । अलसित आनन्द के उल्लास, समुल्लास, विलास, परमविलास के लिये और ज्योति के साथ रस का अभिन्न आस्वादन करने के लिये इस जपध्यान को समर्थ जानना । और 'ॐ नमः शिवाय' इस पंचाक्षर मंत्र का जपध्यान करके त्रिपुर (जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति) से युक्त अपने पंचगेह (पंचकोष) का हरण करने का प्रयत्न करो । वह 'हरण' (Minus) आकृति में रहता है । सर्वप्रथम उस हरण का हरण पूर्ण (Plus) करो, तदनन्तर उस पूरण का भी हरण करके परम कैवल्य अथवा शान्त शिवाद्वैत में स्थित हो जाओ । अन्त में जो मृत्यु का भी मृत्यु है, साक्षात् निरुपाधि अमृत है, उसकी प्राप्ति के लिये क्या करोगे ? "ॐ त्र्यम्बकं यजामहे" इत्यादि श्रौत मृत्युंजय मन्त्र और "ॐ जूंसः" का जपध्यान करो ।

लक्ष्य करो कि परमलक्ष्य सर्वत्र एक है, तब भी पांच प्रस्थानभेद (Lines of Approach) कारिका में दिखलाये गये हैं । परमाद्वैत, एकाद्वैत, द्वयाद्वैत, त्रिवृदद्वैत (त्र्याद्वैत्-त्र्यम्बकं) तथा प्रपंचाद्वैत अथवा पंचाद्वैत ।

तृतीय अध्याय

त्रिगुणित प्रकरणम्

"अद्वैताद्वैत दशकम्"

यदि ज्ञाने द्वैतं तदपि किमवैति त्रिपुटितं
यदि ज्ञानेऽद्वैतं कथमहमिदं वा विमृशति ।
यदि स्वादेऽप्येवं रसरसभुजौ कीदृशरसौ
यदि द्वैताद्वैतं गहनतरतां याति गहनम् ॥७८॥

पृथग् ज्ञानं किञ्चित् स्फुरदिव दितं भानमखिलं
यथा विश्वे बोधेऽप्यभिजिदिति नक्षत्रचयनम् ।
ऋते दृश्यं द्रष्टेति पृथगुदयं किं विषयका
प्रमातुर्धीर्गीर्वा ह्यनवसरदं भानभुभयोः ॥७९॥

क्वचित् स्वादं श्रोत्रे ददति कणिकाः स्वादु मधुनो
(ददति च पृषन्तीष्ठमधुनः)
यत्तत् स्मारं स्मारं मनसि मधुचक्र रचयति ।
ऋचा धारा माध्वी क्षरति मधुमत्या क्वचिदपि
क्वचिल्लब्धानन्दी रसमिति घनीभावगमनम् ॥८०॥

स्वयं मन्ये स्वादी श्रयति मयि तत् स्वादविषयं
न चेन् मन्ये द्वैतं रसरसभुजोर्विगलति ।
विमृश्यैव द्वैतं तदनुभवमात्रं स्पृशति न
न वा द्वैताद्वैतं किमपि सहते स्वादनिविडता ॥८१॥

अनिर्वाच्यख्याति प्रकटयति भानं स्वविषय
मसामग्र्यव्याप्तिर्भवति सुधियां वोत्तमगिराम् ।
अनिर्वाच्यास्वादं स्फुटतमरसावेदनमपि
न वा सम्यग् युक्तं सुरसिक रसास्वाद भणितम् ॥८२॥

अवर्णेनायति प्रमिति विषयं किञ्चिदपि न
उवर्णे नोदेति क्रमपरिणतिर्व्यस्तविषया ।
मवर्णेन ज्ञाता मनति विषयं क्राम्यदितर
दधो याऽर्द्धा तस्या मुखरमखिलं मूक उपरि ॥८३॥

कवर्णाद् यो भूमा निरतिशय सुखाखण्डनिलय
स्ततो लाद् ह्लादिन्या रसविलसनं रासभभितः ।
इदीर्घाद्रासाजं स्फुटशतदलं चित्रवितती
तदिन्दोर्विन्दोः किं निपुटितदलं कोरकमिव (घनम्) ॥८४॥

अधिष्ठाने व्यक्त्यै सकलजगतां व्यञ्जनमुखे
परिस्पन्दः शान्ते करणकलनायाग्निमनुना ।

सिसृक्षेक्षेवर्णादपि शशिकलाया उपशमो (जनिलयो)
यदाद्याबीजं तन् निबिड़ रस राधाधर जुषः ॥८५॥
यदि ब्रह्मामूर्त्तं श्रुतिषु पिहितं रूक्मरजसा
भवेल्लक्ष्यं साक्षात् प्रणवधनुषा वेधरभसात् ॥
कुतो नादस्फोटं धनुषि श्रृणुया ज्यार्पणमृते
कलां भित्वा विन्दुं कथमपि विशेर्वा परतरम् ॥८६॥
उदाऽनारोप्योर्व्वी मम धनुषिते ज्याँ प्रथमतो
न चेद् विध्येर्नादं नदित गुण चापदणुतमम् ।
गुणीभूतो विन्दुर्न च सपदि विव्यत्सति कलां
कला तुर्य्या ज्या चेत् सकलकलान्तं कुत इह ॥८७॥

ज्ञान तथा भान का पार्थक्य

यदि कहो कि ज्ञान होने पर कोई ज्ञाता है और कुछ उसका ज्ञेय (Snbjet and object) है, इस रूप से द्वैत रहता है। केवल यह नहीं, जो जानता है और जो कुछ जानता है, उन दोनों में किसी एक प्रकार का सम्बन्ध भी आवश्यक है; अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी आवश्यक है। ज्ञाता एवं ज्ञेय के पारस्परिक सम्बन्ध को कौन जानता है? ज्ञेय विषय जैसे यह घट? वह तो बोलेगा नहीं। तब क्या कहा जाये कि वह स्वयं स्वयं को जानता है? किन्तु वह किस प्रकार से बोलेगा? अंकुरोद्गम के पहले बीज तो कारण रूप से विद्यमान था। इस सम्बन्ध में जो जानता है, वह तो बीज नहीं है। क्योंकि अंकुरोद्गम होने पर बीज तो बीज रह नहीं जाता? वह अंकुर भी नहीं है। क्योंकि वह अपने उद्गम के पहले नहीं था। और वह बीज का अंकुराकार परिणाम भी नहीं है!

क्योंकि यह परिणाम भी क्रमशः एक अवस्था के विलय हो जाने पर अन्य अवस्था के विकास के रूप में भासित होने लगता है। अतः यह परिलक्षित होता है कि इस चलचित्र में एक के बाद अन्य छवि के प्रकाशक के रूप में कोई अवश्य विद्यमान है। वह स्वयं पूर्वापर इत्यादि सम्बन्धों से युक्त अथवा अन्तर्भुक्त नहीं है। बीजाकुंरादि के समय है, 'जैसे मैने बीज का अंकुर पहले नहीं देखा था अब अंकुर देख रहा हूँ', आन्तर व्यापार भी वैसा ही है। 'मै' रूप ज्ञाता ज्ञेय को जानता है और उसके साथ अपने 'कारबार' को भी जानता है। यह अचल समाधान है। लक्ष्य करने पर देखोगे कि जब एक पौधा अथवा अन्य कुछ जानते हो, तब (अर्थात् ठीक उसी क्षण) "मै देखता हूँ" यह ज्ञान नहीं रहता। उस समय मुख्यतः वह ज्ञेय वस्तु ही ज्ञान है।

विचार करने पर और बोलने का अवसर आने पर (in judgement and discourse) 'मै ज्ञाता हूँ-यह ज्ञेय विषय है' यह भाव आता और कहा जाता है।

बिना विचारे और बिना कहे ज्ञान की तुलना में वह ज्ञान जो चिन्तन विचार से कहा गया- दोनों में अन्तर है। अतएव भावना (चिन्तना) ही सजीव तथ्य (Living Fact) है। बोलने कहने पर उसका अवच्छेद-प्रतिच्छेद (Limitation, cross section) करना पड़ता है, अन्यथा वह अव्यवहार्य है। उसे इस ग्रंथ में मान एवं आख्या कहा जाता है।

ग्रंथकार के Approaches To Truth ग्रंथ में सविशेष विश्लेषणादि के अनन्तर इसे Fact संज्ञा प्रदान की गई है। ज्ञाता-ज्ञेय एवं ज्ञान का भान चैतन्य के कुक्षि के अन्तर्गत (Fact Sections) है और भान भी चैतन्य त्रिपुटी के रूप में प्रकाशित हो जाता है। अतएव ज्ञाता स्वयं को, अपने विषय एवं सम्बन्धों को प्रकाशित नहीं करता। भान ही उसे प्रकाशित करता है। 'यदपि क्रिमवैती त्रिपुटितम्' इस प्रश्न का उत्तर यही है।

भान में प्रकाश तथा विमर्श

तब क्या कहें भान शुद्ध प्रकाश है अथवा प्रकाशमात्र है ? शुद्ध प्रकाश में अहं इदं रूप द्वैत (Polarity) कैसे उदित होता है, इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। अतएव प्रकाश के साथ विमर्श को न मानने पर तो सजीव तथ्य को ही अस्वीकार करने की स्थिति आ जाती है। "प्रकाश ही सत्य है। क्योंकि कालत्रय अव्यभिचारी हैं और विमर्श व्यभिचारी है। क्योंकि वह कभी रहता है, और कभी नहीं रहता।"—यह तर्क वर्तमान प्रसंग में अप्रासंगिक है। भान तो प्रकाश तथा विमर्श दोनों में है। भान = Total Actual Experience।

प्रकाश—विमर्श का गहन सम्पर्क

अतः यह परिलक्षित होता है कि 'ज्ञान में द्वैत है अथवा अद्वैत है' इन में से किसी एक ही पक्ष का आश्रय लेने पर निर्व्यूढ़ यथार्थ की उपलब्धि नहीं होती। तब क्या कहें-द्वैताद्वैत ? 'भान' अखण्ड रूप से एक है, किन्तु उसमें दो अथवा बहु नानारूप से उदित होते हैं यह Synthetic unity है क्या ? साधारण विवृत्ति के अनुसार बात चलती ही रहती है। वास्तव में इस प्रकार से कहने पर जो गहन (दुर्बोध्य) है, वह और अधिक गहन हो जाता है (गहनतरतां याति गहनम्)। शुद्ध प्रकाश एवं अहमिदमादि विमर्श का सम्बन्ध एकान्त गहन है। भान में दोनों ही रहते हैं, यह कहा गया, तथ्य कि विवृति को दिया गया, यह भी निःसंदिग्ध है, तथापि प्रकाश-विमर्श का सम्बन्ध विन्दुमात्र भी स्वच्छ एवं परिष्कृत नहीं हो सका। वरन् शुद्ध प्रकाश की धारणा भी की जा सकती है, विमर्श को भी समझा जा सकता है, किन्तु दोनों इस प्रकार से मिले सहग कैसे हुये, यह समस्या और भी गाढ़ होती जा रही है।

पुनश्च, एक, दो अथवा अनेक ? यह सब संख्यावाचक निरुक्ति अनिरुद्ध भान के लिये स्वरूपतः अनवकाश (Irrelevent) हैं, यह सर्वदा स्मरण रखना होगा।

किसे एक और दो कहा जा रहा है एवं कौन कह रहा है, यह स्मरण रक्खो। समग्र भान के किसी भी अंश अथवा आन्तरवृत्ति के द्वारा (Immanent Process) उसे समग्र तथा सत्य रूप से व्याप्त नहीं किया जा सकता (अर्थात् उस प्रकार के Process का कोई Trancendental application संभव नहीं है)। अतएव द्वैत, अद्वैत अथवा द्वैताद्वैत, किसी प्रकार की निरुक्ति करने जाने पर भाव चैतन्य का 'हालचाल' नहीं मिल सकता।

आस्वाद व्यापार भी इसी प्रकार का है। जहां आस्वादन है, वहां आस्वादक-आस्वाद का उभय पक्ष रहेगा ही। अर्थात् युग्म अथवा युगल आकृति के अभाव में आस्वादन संभव ही नहीं होता, ऐसा सोचने एवं कहने के लिये हम बाध्य हैं। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि वास्तविक आस्वादन एक ऐसी स्थिति है जो द्वैत, अद्वैत किंवा द्वैताद्वैतरूपी सांख्योक्त निर्वचन सहन नहीं कर सकता। यह भी एक तथ्य है कि वास्तविक आस्वादन और आस्वादन के सम्बन्ध में मनन-विश्लेषण एक ही अवस्था नहीं है। प्रथम के समय द्वितीय अनधिकार है, और द्वितीय के समय प्रथम अनधिकार है। निरुद्देश्य है। रस एवं रसभोक्ता रूपी द्वैत जिस रस अथवा आनन्द के आधार में उदित होकर एक-दूसरे का विषय एवं आश्रय के सम्पर्क में निरीक्षण करता है, वह आधार अपने आप में सम्बन्ध से अतीत (रसरसभुजौ कीदृश-रसौ) है। इस सम्बन्ध में द्वैत-अद्वैत आदि किसी भी पक्ष का आश्रय लेने से समाधान नहीं मिलता।

भान का अखिलत्व। उदाहरण

इस भान के अखिलत्व (अनिर्वाच्य अखण्डत्व) की विशेष चिन्तना करो। जैसे रात्रि में आकाश की ओर दृष्टि निःक्षेप द्वारा उज्वल अभिषित् नक्षत्र देखते हो। यहां यह नक्षत्र तुम्हारे विशेष अभिनिवेश-अथवा मनःसंयोग का विषय हो सकता है (Focal object of visual perception), किन्तु क्या यही तुम्हारा समग्र दृष्टिपट है? जैसा लक्ष्य वेध अर्जुन का था, वैसा हमारा, तुम्हारा नहीं होता! मन के कैमरा के सम्मुख एक बड़ा दृश्य उपस्थित होता है, परन्तु जहां का आकर्षण अधिक है, अथवा जिस ओर अधिक अभिनिवेष है, उसी ओर हमारा मनःसंयोग (अभिजिदितिनक्षत्र चयन) है। बाकी दृश्य रहने पर भी न रहने के समान हैं। तमाम नक्षत्रों में से उस उज्ज्वल अभिजित् नक्षत्र को ही देख रहा हूँ! अच्छा, क्या उस समय तुम्हारी समग्र अनुभूति का जगत् (Total universe of Experience) आकाश के इस परम विशाल चित्रपट में से केवल अभिजित् तारे को अलग करके विशेष रूप से उसे देख रहा है और उसके सम्बन्ध में भावना कर रहा है? नहीं, ऐसा नहीं! अनेक बाह्य (शब्दस्पर्शादि) और आन्तर (वेदना-कल्पना आदि) अनुभव भी उसके साथ विजड़ित हैं। ये सभी अभिनिवेश के केन्द्र से पृथक्

एक छायालोक में भासित होते हैं, अथच वे समग्र अनुभव से अलग नहीं हैं। इसलिये वह अखिल (अखण्ड) भान स्वयं को टुकड़ा करके (दितमिव), अलग-अलग, "इन-उन" वस्तुओं के रूप में प्रमिति विषय बनाकर उपस्थित कर देता है। भान चैतन्य में अब 'यह दृश्य-वह देखने वाला" इस प्रकार का पृथक् उदय होता है और बुद्धि तथा वाक् का कोई भी विषय नहीं रह जाता (Fact Reviews and Report संभव नहीं होता) । 'किं विषयका प्रमातुर्धीगीर्वा ?' भान कभी भी अखण्ड एवं समग्र रूप में रहते हुए, अर्थात् अपनी अखण्ड समग्रावस्था में बुद्धि एवं वाक् के उदय को अवसर ही नहीं देता ! 'ह्यनवसरदं भानमुभयोः' । अथच भान की कुक्षि से ही समस्त व्यापार घटित होते हैं।

आस्वाद किंवा भोग में आश्रय एवं विषय सम्बंध कैसा रहता है ? भाव में अवगाहन

यदि मन में यह कल्पना करूँ अथवा भावना करूँ कि मैं स्वयं आस्वादक (मन्ये स्वयं स्वामी—Enjoyer) हूँ, तब यह अवश्य सोचना होगा कि हमें तथा हमारे अनुभव का आश्रय करके यह स्वाद का विषय अथवा वस्तु विद्यमान है (श्रयति मयि तत् स्वादविषयम् यहाँ विशेष करके आधार विवक्षा है। अतः यह कर्म के स्थान पर 'मयि' रूप सप्तमी विभक्ति है) । यदि स्वयं को "स्वादी" स्वाद लेने वाला न मानो, अर्थात् यदि उक्त कल्पना के द्वारा अनुपादित रूप से केवल आस्वादन किया जाये, उस स्थिति में (वह निरुपाधि आस्वादन) रस तथा रसभोक्ता का द्वैत (Duality) विगलित होकर अनुदित होता है। अतएव आस्वादन में भी 'कल्पना सहित' और 'कल्पनारहित' रूपी द्विविध भाव स्थिर रहता है। इसमें द्वितीय (कल्पनारहित) मौलिक (Basic) है। प्रथम अर्थात् आश्रय—विषय सम्बन्धित कल्पना के द्वारा जो आस्वादन है, वह आस्वादन नहीं है। वह आस्वादन का Review है, आलोचन है। आस्वादन तथा आस्वादन के आलोचन को एक में मिलाकर देखना उचित नहीं है। आलोचना का भी एक निजस्व 'ऋत्' है। अर्थात् आलोचन की स्थिति में कोई एक निर्दिष्ट आकार-प्रकार होता है। इस प्रकार की आलोचनभंगी को द्वैत अथवा त्रिपुटी कहते हैं। ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है कि भंगी ही आस्वानन स्वरुप में स्थित रहेगी। अतः उक्त है 'विमृश्यैव द्वैतं तदनुभवविषयं स्पृशति न' । अतएव विमृश्यास्वादन और अविमृश्यास्वादन के भेद को सर्वथा स्मरण रखना होगा। अतः अविमृश्यकारिता मे कर्म 'पशु' हो जाता है, किन्तु आस्वादन में जो अविमृश्यभाव जिस मात्रा में जबतक रहता है, आस्वादन की गाढ़ता एवं सजीवता भी तबतक उसी प्रकार रहती है। आस्वादन और आलोचन (Enjoyment and review of enjovment) का परस्पर अनुपात विप्रतीप (Inverse Ratio) है, अतएव आलोचन अनावश्यक नहीं है। साक्षात् रुप से और समकाल में न होने पर भी परोक्षरुप से एवं पश्चात्काल

में, इसके द्वारा ही आस्वादन की शुद्धि एवं पुष्टि होती है। यद्यपि आस्वादन 'मुखर' नहीं है, वह मूक है—तथापि वह 'मूढ़' नहीं है। यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि ज्योति तबतक ज्योति नहीं है, जबतक वह रस नहीं है और रस भी तबतक रस नहीं है, जबतक वह ज्योति नहीं है। 'ज्योतिरस' इस परमाव्यक्त में दोनों को दो नहीं कहा जा सकता, एक भी नहीं कहा जा सकता। अर्थात् वहाँ कोई संख्यान् नहीं चलता, फिर भी हमारे अनुभव और अभिज्ञता (परिचय) में आलोक एवं पुलक की धारा आस ही पास बहते रहने पर भी मानों मिलना नहीं चाहतीं। अवगाहन और निमज्जन के समय में वे कथंचित स्वयं को एक दूसरे से बचाती रहती हैं। इनका चरम और परिपूर्ण मिलन घटित हो जाने पर एक का अनुरूप सहयोग दूसरे को मिलने लगता है। पुलक का आलोक में पालन-पोषण करना पड़ता है और पुनः आलोक भी पुलक के मधुर स्पर्श सिहरन के द्वारा सजीव एवं सरस होता रहता है। आलोक के ऋतःच्छन्द एवं पुलक के मधुःच्छन्द का मिलन ही परिपूर्ण सत्यच्छन्दः है।

अखण्ड, समग्र अनुभूति, (भान) की अनिर्वचनीय ख्याति

भान अथवा हमारी अखण्ड समग्र अनुभूति अपने अशेष विषय का प्रकाश अवश्यमेव कर रही है, किन्तु वह अनिर्वचनीय ख्याति है। अर्थात् उसके अपने स्वयं के सम्बन्ध में बुद्धि अथवा वाक्य का कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। उसका समग्रत्व अवगुंठित होने पर उसके अंश-विशेष को ही हम देख सकते हैं। वह अपने समग्रत्व को हमें नहीं देखने देता। देखना का अर्थ है बुद्धि तथा वाक् के द्वारा आलोचन। यही नहीं, भान के जिस अंश-विशेष को हम परिलक्षित होता समझते हैं, वह अंश भी हमारे समक्ष अपना पूर्ण आत्मप्रकाशन नहीं करता। एक छोटा सा घास का फूल अथवा ओस का एक कण स्वयं को हमें दिखलाता है, किन्तु किस अंश में? उसे अच्छी तरह से देखने का संकल्प कर लेने पर उस देखने का तो कोई अन्त ही नहीं मिलता। नहीं मिल सकता, क्योंकि यह छोटा सी पुष्पकलिका अथवा ओसकण उस समग्र विश्वरूप महाविस्मय का एक घनीभूत वामनरूप है। जो क्रांतदर्शी ऋषि हैं, उन्हें प्राचीन लोग कवि कहते हैं। इस कवि की दृष्टि में एक छुद्र पुष्प अथवा शिशिरविन्दु एक सीमाहीन प्रेक्षागृह है। इसका द्वार अति संकीर्ण अथवा नगण्य नहीं है। उसके भीतर इस विश्व का समस्त रहस्य निपूरित रहता है। अतएव समग्र अनुभूति जगत अथवा उसकी किसी भी एक वस्तु के सम्बन्ध में पूर्ण विवृत्ति दे सकना असंभव है। इस सम्बन्ध में महासुधि व्यक्ति की श्रेष्ठ वाणी कुण्ठित तथा अपारग (असामग्रय व्याप्तिर्भवति सुधियां) है। केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही ऐसा नहीं है; प्रत्युत आस्वादन के समय भी ऐसा ही होता है। आस्वादन का स्वरूप अनिर्वाच्य है। अतएव जहाँ हमारे परिस्फुटतम रस का आवेदन होता प्रतीत होता है, वहाँ भी वह उस रस की

समग्र तथा सजीव अनुभूति अथवा आस्वादन मनन एवं कथन की सीमा से परे रह जाता है। इसी कारण कोई महाशिल्पी भी अपने रस के आवेदन एवं निवेदन द्वारा उसे सम्पूर्णत: परिस्फुट नहीं कर सकता। जितना भी वह कह सकता, जितना भी वह कह सकेगा, उसके द्वारा आस्वादन की चमत्कारिता और अपूर्वता तो अबला के समान असमर्था ही रह जाती है (न वा सम्यग् युक्तं सुरसिकरसास्वादभणितम्)

भान का विश्लेषण आवश्यक क्यों है और कैसे सम्भव है ?

यद्यपि भान अथवा अखण्ड समग्र अनुभूति विश्लेषण योग्य नहीं है, तथापि बुद्धि तथा वाक्य के व्यवहारार्थ इनका विश्लेषण किया जाता है। विश्लेषण का अर्थ है—समग्र की उपेक्षा और अंश का ग्रहण (Acceptance of a given feature by ignorance of the whole)। इसमें एक के बाद एक अनेक घटनायें अवश्यमेव घटित होती हैं। जैसे रात्रिकालीन आकाश को देखकर हम यह कहते हैं "देखो! यह अभिजित् नक्षत्र है।" यहाँ समग्र अखण्ड भान के प्रति हमारा मनोयोग उस समय नहीं है। यदि मनोयोग होता, तब हम यह उपलब्धि करते कि अखण्ड भान हमारी धारणा अथवा 'कथनी' की 'लपेट' में आने से नाराज है? अत: हमारा व्यवहार चलता रहे, इस दृष्टिकोण के कारण वह अखण्ड भान उपेक्षित सा पड़ा है। जिससे विशेषरूप से मन:संयोग होता है, (जैसे सम्पूर्ण आकाश में से अभिजित् के साथ) उसे ही हम अपने ज्ञान का विषय बना लेते हैं। किन्तु ज्ञान इस एक वस्तु से ही चुप नहीं हो जाता। वह एक से अन्य में, इस प्रकार से चलता ही रहता है। जैसे हम अभिजित् देखने के पश्चात् ध्रुवतारा देखते हैं। अतएव अनुभव की क्रम-परिणति अथवा Series or stream रूप अवश्यमेव उपलब्ध होने लगता है। इस क्रम अथवा धारा को कौन जानेगा? क्रम अथवा धारा स्वयं को स्वयं जान सकने में असमर्थ है। उसे जानने के लिये किसी ऐसे की उपस्थिति आवश्यक है जो स्वयं धारा के साथ बहने न लगे, प्रत्युत् स्वतंत्र रह कर (साक्षीरूप से) धारा की पूर्वा—पर सभी अवस्थाओं को देख सके और उसके देश-काल, कार्यकारणादि सम्बन्ध में आवश्यक मत को खोज सके।

प्रणव के साथ परीक्षा। अनुभूति मात्र ही प्रणव का स्थान है

इस बार इस भूमिका पर प्रणव (ऊँकार) की अकारादि मात्राओं का चिंतन करो। हम देखते हैं कि ॐ कार स्वयं ब्रह्म का वाचक (वाक्‌रूप) है। अतएव जैसे ब्रह्म सृष्टि में अनुप्रविष्ट है, उसका वाक्‌रूप प्रणव भी वैसा ही है। यह पहले कहा जा चुका है कि एक बीज के अन्दर प्रणव की मात्रायें किस प्रकार से विद्यमान तथा सक्रिय हैं। यहाँ विचार करके देखो कि हमारे प्रत्येक अनुभव में अथवा ज्ञान में प्रणव किस प्रकार से अनुस्यूत रहता है? प्रणव की आद्य मात्रा अ कार 'अयं' अथवा 'इस' रूप से किसी भी विषय को हमारी समग्र अनुभूति अथवा भान के आधारपट

पर चिह्नित कर देता है। मानों अ कार यह कहता है—इस आकाश में यह जो अभिजित नक्षत्र है, क्या तुमने इसे देखा है? अतएव अ कार का कार्य हुआ अखण्ड के किसी एक विशेष खण्ड अथवा अंश के साथ हमारा मनःसंयोग कराना। अतएव इसके अभाव में हमारी अनुभूति अथवा ज्ञान में किसी विषय विशेष का उदय ही संभव नहीं होता। तत्पश्चात् उ कार। पहले अनुभव की क्रमपरिणति अथवा धारा के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। उसके मूल में प्रणव की यह मध्यमात्रा है। इसके अभाव में विश्वचित्र में गति अथवा क्रम की कोई अवस्था ही नहीं रहती। अ एवं उ स्वर के उच्चारण के द्वारा इन दोनों मौलिक व्यापारों को समझाने की चेष्टा करो। अ कार अंगुलि निर्देश करते हुये कुछ दिखला देता है। उ कार की वृत्ति है गतिरूपा। वह हमें यहाँ से वहाँ ले जाने के लिये नित्य उन्मुख है। तदनन्तर प्रणव की तृतीय मात्रा 'म' कार है। वह क्या करता है? पहले जिस क्रम अथवा धारा के एकमात्र स्वतंत्र साक्षी की स्थिति का उल्लेख किया गया है, यह म कार उस 'मैं' के ही स्थान पर अभिषिक्त है और उसके कर्म को करता है। क्या यहीं अन्त है? नहीं, ऐसा नहीं है। म कार के पश्चात् नादविन्दु अथवा अर्धमात्रा है। इसे शास्त्र की भाषा में 'अनुच्चार्या विशेषतः' कहते हैं। अर्धमात्रा हमारे उच्चारण की सीमा में नहीं आना चाहती, किन्तु वह तो है ही। जब तक योगनिद्रारूपिणी अर्धमात्रा को प्रसन्न नहीं कर लेते, तबतक प्रणवादि कोई भी जप पूर्ण तथा समर्थ नहीं होता। इसी अर्धमात्रा की कल्पना हम एकाधिक स्थलं पर 'सेतु' रूप से कर चुके हैं। सेतु कहने से इस पार और उस पार की बात आती है। यहाँ अर्धमात्रा रूपी जो सेतु है, उसके इस पार तो अनुभूति का जगत्, मुखर जगत् है किन्तु उस पार जो तत्व है वह पूर्णतः मूक है। 'दधो याऽर्द्धा तस्या मुखर मखिलं मूक उपरि'

क्लीं बीज द्वारा पूर्वानुरूप परीक्षा

हमारे समग्र अनुभव में प्रणव की मात्रा किस प्रकार से प्रविष्ट है और क्रियाशील है, उसे हमने पूर्व कारिका में देखा। क्लीं बीज का विश्लेषण करके देखो। इस बीज में जो आद्य अक्षर 'क' है, वह क्या सूचित करता है? श्रुति कहती है 'कं ब्रह्म'। क वर्ण के द्वारा निरतिशय सुख के अनन्तनिलय स्वरुप भूमा का तात्पर्य लक्षित होता है जिसे श्रुति ने 'रस' कहा है। अर्थात् अखण्ड अपरिमीम आनन्द की वह आधारभूमि (Background) जिस पर यह विश्व तथा विश्व के अन्तर्गत प्रत्येक रेणुकण भी उदित हो रहे हैं। विकसित होकर पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं। इस आनन्दरुपी महाकाश के सम्बन्ध में ही श्रुति ने कहा है 'एतस्माद्धेयव खल्विमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि। भूतसमूह के जन्म स्थिति तथा लय का आधाररुप यह भूमानन्द भी महाकाश के समान शान्त तथा स्पन्दहीन है। 'क' वर्ण के द्वारा यह आनन्दाकाश ही लक्षित होता है। किन्तु जब आनन्द इस प्रकार से स्पन्दहीन अथवा

निस्तरंग है, तब उसमें किसी प्रकार की लीला अथवा वैचित्र्य की सम्भावना कैसे होगी ? सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ आनन्द की मात्रा अपने अन्त:तम स्थल में पाकर उसके विचित्र विकास की परिणति का द्योतन करा रहा है। अर्थात् उसके विचित्रविकास की परिणति के मूल में रस एवं रसैषणा की स्थिति है। जीव इस रसैषणा आत्मसंवित् की प्राप्ति अवश्य करता है, किन्तु एक धूलिकण के अन्त:स्थल में भी यही एक आवेग विद्यमान रहता है। विश्व में कहीं भी एक भी स्पन्दन सम्भव नहीं हो सकता था; यदि उसकी पृष्ठभूमि में यह निगूढ़ आवेग न रहता। इस मौलिक सत्य को समझाने के लिये ही श्रुति ने कहा है "कः प्राणात्" आदि।

अर्थात् आनन्दरूप एक महाकाश की पटभूमिका है। तभी उसी के वक्षस्थल पर विश्व के जीवन की इतनी चंचलता तथा मुखरता है। यहाँ यह प्रश्न उत्थित होता है कि जो स्वरूपतः अमात्र तथा स्पन्द हीन है, उसमें इतनी अशेष मात्रा तथा वैचित्र्य का उदय कैसे होता है ? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। कार्यतः यह परिलक्षित होता है कि यह अशेष वैचित्र्य उदित हो रहा है। अतः क्या आनन्द को केवल एक निव्यूढ़ तत्व (Absolute Reality) के रूप में ही देखना होगा ? हमें उसकी उपलब्धि विचित्र लीला सामर्थ अथवा शक्तिरूप में करनी ही होगी। आनन्द अथवा रसवस्तु को इसी प्रकार मे शक्ति के रूप में पाना होगा, तभी तो लीला वैचित्र्य की उपलब्धि हो सकेगी। आनन्द की इस प्रकार की शक्ति के रूप को हम ह्लादिनी कहते हैं। क्लीं बीज में जो लकार है, उसकी के द्वारा ह्लादिनी की सूचना प्राप्त होती है। पहले हमने इसकी प्राप्ति कामबीज अथवा असंग के रुप में की है। यह देखा गया है कि जब तक वह आनन्द वस्तु ह्लादिनी शक्ति रुप धारण नहीं कर लेती, तब तक लीला नामक स्थिति की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। लीला से क्या प्रतीत होता है ! एकरस शुद्ध वस्तु कभी स्वयं का गोपन करती है, तो कभी स्वयं को प्रकाशित कर देती है ! रसवस्तु पहले स्वयं की "लुका चोरी" करती है, पुनः स्वयं को अशेष वैचित्र्य में रुपायित कर देती है। इससे न जाने कितने विचित्र स्वर तथा अपरुप छन्दों का प्रकाशन होता है ! पहले आनन्द के इस लीला भाव को ऐं एवं श्रीं बीजरुप में भी देखा गया है। इस प्रकार की 'लुकाछिपी' की क्रीड़ा के कारण उस स्वलसित आनन्द का रुप कहीं पर अलसित तो कहीं विलसित और कहीं उल्लसित सा परिलक्षित होने लगता है। इनमें जब रस स्वयं को विलसित करता है, तब रस के इस विलासरुप को रास कहते हैं (रसविलसनं रासमभितः)।

'क्लीं' बीज का अवयव ई क्या सूचिता करता है ?

अब है क्लीं बीज का ईकार। यह किसकी सूचना देता है ? रसविलसन के फलस्वरुप जो रास विकसित होता है, हम उसकी तुलना एक शतदल कमल से कर

सकते हैं। जब कमल प्रस्फुटित होता है, तब वह अपनी समस्त पंखुड़ियों को एक ही साथ विकसित नहीं कर देता। रसविलसन के फलस्वरुप जो रासकमल उदित हुआ, वह जिस अनिर्वचनीय रस की प्रेरणा से अपनी मुदित पंखुड़ियों को एक के बाद एक प्रस्फुटित कर देता है, वह मूल प्रेरणा क्लीं बीज में ईकार द्वारा लक्षित होती है। (ईदीर्घाद्रासाजं स्फुटशतदलं चित्रवितती) तदनन्तर अन्त में जो चन्द्रबिन्दु है, वह क्या कहता है? जब रसवस्तु स्वयं का विलसित रास के रुप में आस्वादन करने के लिये एक परम निविड़भूमि में जा पहुँचती है, तब उसकी निखिल चन्चल मुखरता शान्त हो जाती है और परम आश्चर्य रुप एक मनमोहन नृत्यरत निखिल सुरच्छन्द के रुप में विश्रान्ति घटित हो जाती है। यही है रसास्वादन की निरतिशय भूमि। इसके आगे और कुछ भी कहना नहीं है। (तदिन्दोर्विन्दोः किं निपुटितदलं कोरकमिव) (धनम्)।

इस बीज का प्रकारान्तरेण ध्यान। रसवस्तु तथा रासवस्तु का अन्य दृष्टि से दर्शन। क्रीं बीज।

इस बार क्रीं बीज का प्रकारान्तर से ध्यान करो। पूर्वोक्त कारिका में सत् चित् रसस्वरूप जो रसवस्तु की आत्मा है, उसे हम रास रूप से विलसित होते देख चुके हैं। वहाँ बीज का जो 'ल' कार है, वह ह्लादिनी रूपा लीला शक्ति है। इसे वैष्णवगण श्री भगवान की स्वरूपशक्ति का सार कहते हैं। वह अक्षर तनु है। इस बार 'ल' के स्थान पर 'र' को स्थित करके यह देखना है कि इससे किसकी सूचना प्राप्त होती है? इस विश्व को महाशक्ति के विलास रूप में देखता हूँ। अपने केन्द्र की ओर दृष्टिपात करने से यह विदित होता है कि यह महाशक्ति कदापि जड़ अन्धशक्ति नहीं है। इस शक्ति के स्वरूप का परिचय बाहर कहीं भी नहीं मिल सकता। इसे अपनी सत्ता के केन्द्र स्थल में प्राप्त करना पड़ता है। इस केन्द्रस्थल की ओर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि सत्ता की एक शान्त निःस्तरंग भूमि है अथवा आधार है। इसी के ऊपर शक्ति की समस्त क्रीड़ा चलती रहती है। यह क्रीड़ा विचित्र रूप से चलती है। इस शान्त एवं क्षोभ और विकार रहित आधार को अधिष्ठान कहते हैं। इस अधिष्ठान की अपनी स्वयं की कोई भी भाषा नहीं है। अतः इसका निरूपण किसी भी अक्षर अथवा वर्ण के द्वारा नहीं किया जा सकता, किन्तु जब इस अधिष्ठान में (महामौन प्रतिष्ठान में) अभिव्यक्ति का आवेग किसी अतर्कित रूप से समुदित होता है, तब इसके सूचनार्थ किस वर्ण को सर्वप्रथम निर्वाचित किया जायेगा? अर्थात् कौन सा वर्ण सर्वप्रथम इस भाषाहीन को भाषा देने के लिये अग्रसर होगा? वह वर्ण समस्त वर्ण अथवा व्यञ्जनों के मुख में अथवा आदि में रहने वाला 'क' वर्ण है। (अधिष्ठाने व्यक्तैं सकल जगतां व्यञ्जनमुखे)। क वर्ण ने निस्पन्द निस्तरंग अधिष्ठान में आदिम परिस्पन्द अथवा तरंगोत्थान को सूचित

किया। जो कि मात्र अधिष्ठान था, उसने स्वयं को शक्ति तथा शक्तिमान रूप में, मिथुन रूप में देखा। जिस मूल अनिर्वचनीय तत्व में इस जगत् के मातृत्व की कोई कल्पना ही नहीं थी, उस मूल तत्व ने स्वयं को जगन्माता आद्याशक्ति के रूप में प्रकाशित किया। 'क' वर्ण के द्वारा यह परम विस्मय ध्वनित होता है। इसबार जगत् की जो आदिमाता हैं, उन्हे इस जगत् की सृष्टि स्थिति तथा लय के निमित्त कारण एवं उपकरणों की सृष्टि करना ही होगा। अर्थात् जो जगत् की आदि कारण हैं, वे स्वयं अपनी अभिव्यक्ति करण रूप में करती हैं। जो माता हैं, वे हो जाती हैं मात्रा (मातृशब्द के प्रथमा एकवचन माता और तृतीया के एकवचन में मात्रा का इस प्रसंग में विचार करो)। 'मात्रा' से क्या ज्ञात होता है? जिसके द्वारा सब कुछ का मान अथवा माप निरूपित होता है, वह है मात्रा—Measure Principle. अतः जगत् की सत्ता तथा शक्ति के लिये जो Martrix है, वह अपने को Measure रूप में Envolve करता है। यही मौलिक व्यापार जिस वर्ण के द्वारा सूचित होता है, वह है र। (करणकलनायाग्निमनुना)।

माता एवं मात्रा

माता तो 'र' का आश्रय लेकर मात्रा हो गयीं! फिर भी इस विश्व की अभिव्यक्ति के व्यापार का और भी कुछ प्रयोजन है। वह अपर वस्तु क्या है? क्या वह केवल सृष्टि की इच्छा अथवा सिसृक्षा है? मात्र यही नहीं है, प्रत्युत श्रुति में ब्रह्म के जिस ईक्षण का वर्णन है, वह ईक्षण भी आवश्यक है। जैसे मैं कर्त्तारूप से एक कर्म करूँगा। उसके लिये उपयोगी उपादान तथा करण (Instrument) मैं एकत्रित करता हूँ। किन्तु क्या उससे ही कर्म सम्पन्न हो जायेगा? ईक्षण शब्द में जिस ई की सत्ता है, वही उस आवश्यक वस्तु की सूचना प्रदान करता है। इसी ई कार का आश्रय लेकर जगत की माता ने माहेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती के चतुर्व्यूह रूप का प्रकाशन किया है। एक मूल ईक्षण का ही यह चारो भाव है। तदनन्तर है चन्द्रविन्दु। इससे क्या सूचना मिलती है? इस चन्द्र-विन्दु के द्वारा विचित्र रूप से अभिव्यक्त इस विश्व का विस्तार तथा संकोच लक्षित होता है। एक ओर विश्व की अपने परिपूर्ण विकास के लिये अग्रगति है और दूसरी ओर है इसका संकोच तथा घनीभाव की ओर प्रवणता! बीज केवल यही कहता है कि—"मुझे अंकुर आदि क्रम से विकसित होकर पौधा बन जाने दो।" पादप यह कहता है कि "मेरी मुकुलमंजरी प्रस्फुटित होने दो, जिससे मैं पुष्पित तथा फलयुक्त होकर पुनः नवसृष्टि के बीजरूप में परिणत हो सकूँ"। इस चन्द्रविन्दु के अवयव में हम विकास एवं संकोच के इस अपूर्व अभिनय को देखते हैं। अतः यह क्रीं किसका बीजमंत्र है? जो जगत का मूल अधिष्ठान होने पर अपनी अभिव्यक्ति जगज्जननी रूप में कर रहे हैं, जो जगत् की माता होकर भी स्वयं को निखिल मात्रारूपेण

प्रपंचित कर रहीं हैं और उसी मात्रा की सहायता से विश्व के विचित्रतम विभिन्न रूपों का ईक्षण करती रहतीं हैं और जो अणु तथा विराटरूपी अब कुछ को अपने परिपूर्ण विकास तथा संकोच के रूप में लीलायित करती हैं, उन आद्याशक्ति का बीज है 'क्रीं। अतएव जो आद्याशक्ति का बीज है, वह निविड़ रसघन स्वरूप श्री कृष्ण के बीज से कथमपि भिन्न नहीं है, अपितु वह अभिन्न है। (यदाद्या बीजं तन् निविड़ रस राधाधर जुषः)।

'क' रूपी व्यंजन प्रमुख की विविध व्यंजना। रासदृष्टि तथा भासदृष्टि

निबिड़ रसमाधुरी की परिसीमास्थली में जो श्री राधा का अधरपुट है, जिसका भजन रसिकचन्द्र चूड़ामणि करते रहते हैं, उसका जो बीज है, उसकी वर्त्तमान कारिका में उद्धृत् आद्याबीज के साथ अभिन्न रूप से भावना करो। अभेद के तात्पर्य का भी विचार करो। निरतिशयाखण्ड सुखवस्तु 'क' अक्षर से वाच्य है। साथ ही शुद्ध, शान्त अधिष्ठान की स्वव्यञ्जनमुखीनता (आविरूप) का शक्ति-शक्तिमान रूप से परिचय भी 'क' अक्षर के द्वारा सूचित होता है। इसके द्वारा मूल में क्या सूचित हुआ ! यह अधिष्ठान केवल सत् और चित् स्वरूप ही नहीं है, वह आनन्द स्वरूप भी है। आनन्द ही उसका हृत्, अथवा आत्मा है। अतः यह आविरूपता, व्यञ्जनमुखीनता भी आनन्द का ही स्वभाव है। आनन्द का स्वतन्त्र स्वतः-स्फूर्त्त भाव है। अर्थात् अधिष्ठान अथवा मूल में रस का अभाव रहने पर व्यंजन-रूपता संभव ही नहीं हो सकती। 'आनन्दाद्धेयव खल्विमानि'। तत्पश्चात् ध्यान द्वारा 'ल' (ह्लादिनी-माधुर्य) ओर 'र' कार (भास्वती-ऐश्वर्य) के मध्य के अभेद की पहचान लो (अर्थात् मधुर मधु जो वस्तु है, वही प्राणों का प्राण भी है)। यहाँ पर रस ने ही "रास' के रूप में अपना विलसन किया है। दूसरी ओर उसने स्वराट् के रूप में 'स्व महिम्नि' अपनी महिमा का द्योतन कराया है। पुनश्च, अब दीर्घ ई का लीला एवं ईक्षा रूपी दृष्टिकोण से समीकरण करो। साथ ही चन्द्रविन्दु को रस की अपनी परिपूर्णता में स्वीय निबिड़ निमीलन के रूप में और आद्याशक्ति को अपनी अशेष वैषम्य-समता में आत्मविश्रान्ति (जनिलय एवं उपशम) रूपी भाव से देखो। समग्र विश्व के मूल में जो रस है, यह शक्ति उसका इस प्रकार से समीकरण अवश्य करती रहेगी। साथ ही विश्व के अन्तर्गत् प्रत्येक वस्तु को, विशेषतः अपनी सत्ता को साध्य करके इस क्लीं तथा क्रीं बीज का समीकरण साधन करना होगा। इसी समीकरण के द्वारा ही बहिर्विज्ञान का समन्वय हो सकेगा। इन बीजद्वय का समीकरण कर लेने पर महासमन्वयी छन्दः प्राप्त होगा और वह परमसमन्वयी में स्वयं को प्रतिष्ठित कर सकेगा।

अन्यान्य बीजों की प्रयोजनीयता

अच्छा ! रसदृष्टि और विज्ञानदृष्टि को इन बीजद्वय के माध्यम से मिलाया,

किन्तु प्रणव की वर्तमानता में अन्य बीजों का क्या प्रयोजन ? वह इस कारिका में आलोचित किया गया है 'यदि ब्रह्मामूर्त्तं' इत्यादि । जो शुद्ध सच्चिदानन्द रुप ब्रह्म विश्वानुभूति अथवा भान का अधिष्ठान है, वह तो श्रुतिसमूह के द्वारा परमाव्यक्तरूप से (अनिरुद्ध-अलक्षण आदि रुप से) श्रुत अवश्य हुआ है, अथच उस आत्म-प्रत्ययैकसार तत्व को सर्वथा आवरित (पिहितं) रखने पर भी उसका अरुण सूर्य की कनक किरणों के समान (रुक्मरजसा) उन्मुक्त विकिरण करना प्रयोज्य माना गया है । (सत्यं शिवं सुन्दरं इत्यादि सूचकों के द्वारा) । जो परम ज्योतिरस किसी भी वर्ण के द्वारा परित्यक्त (अकथ्य) नहीं है, उसे मानो हिरण्यगर्भ अथवा रुक्मवर्ण करके मधुर भास्वर रुप में प्रदर्शित किया गया है । अवश्यमेव यह हमारी कल्पना तूलिका का रसशिल्पन नहीं है । अधिष्ठान परम अव्यक्त है । वही स्वयमेव रुक्मवर्ण (भास्वर-सुन्दर) हो गया है । क्रीं तथा क्लीं रूपी बीजद्वय के विश्लेषण द्वारा हमने उसे ही उपलब्ध किया है । 'रुक्मरजसा' पद की रहस्य व्यंजना भी है । वह स्थानान्तर में आलोचित होगी । यहाँ यदि तुम्हारा लक्ष्य वह ब्रह्मवस्तु है, जो अमूर्त्त होने पर भी रुक्मवर्ण है, तब क्या करोगे ? श्रुति का वही प्रसिद्ध लक्ष्यबेध तुम्हें साधित करना होगा । "प्रणवोधनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥" अन्य धनुषों को पीछे रखकर भी तुमको प्रणव को ही अपना समर्थ धनुष बनाना होगा । अन्य बीजों तथा नामों में सुप्तवत् स्थित प्रणव को ही साक्षात् रुप से जाग्रत करना होगा । सदा स्मरण रक्खो कि प्रणव समस्त वाक् में, यहाँ तक कि वेदवाक् में, शयान (सुप्त) होकर स्थित है । इसलिये प्रणव है कुश, प्रणवपुटित अथवा प्रणव घटित वाक्=कौश । ब्रह्माणी इसी "कौशाम्भः" अर्थात् प्रणवपुटित अथवा प्रणवगर्भित मन्त्र (अम्भः) का क्षरण करती हैं, जिसके द्वारा असुरों के तेज की हानि और सुरों की तेजवृद्धि होती है ।

प्रणवधनु के द्वारा लक्ष्यबेध सामर्थ्य । अग्र्या बुद्धि एवं एकाग्रा रति

पूर्वोक्तरुपेण ब्रह्मवस्तु का लक्ष्य करने पर प्रणवधनु अपनी (अग्र्या-बुद्धि) की शरयोजना तो करेगा ही, किन्तु वेधसामर्थ्य और सम्वेग आवश्यक है । यह पूर्ण प्रगाढ़ता और श्रद्धा के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता । अर्थात् तुम्हारे हृदय तथा अन्तर का पूर्ण सहयोग भी चाहिये । इसके लिये अपने ब्रह्मलक्ष्य का आनन्द एवं रस रुप से, सुन्दर एवं मधुर रुप से परिचय पाना ही होगा । वह तो सत्य एवं ज्योति भी है । यह सहयोग होने पर ही 'वेधरभस' होना और उस 'रभस' में 'अप्रमाद' होना सम्भव हो जाता है । फलतः तुम्हारी बुद्धि अग्र्या हो जाती है । अन्यथा यह सम्भव ही नहीं है ।

अच्छा ! क्या धनु में ज्यार्पण किये बिना ही शरसन्धान करना चाहते हो ? वह तो सम्भव ही नहीं है । प्रणव धनु में ज्या लगाकर सर्वप्रथम उसकी टंकार

(नादस्फोट) को सुनना होगा। (कुतोनादस्फोटं धनुषि श्रृणुया ज्यार्पणमृते)। प्रणव धनु की सहायता से ब्रह्मलक्ष्य भेदन करने वाले की यही प्रथम भूमिका है, अर्थात् नादानुसंधान ! नादब्रह्म का अनुसंधान ! तत्पश्चात् क्रमशः बिन्दु एवं कला (कलनात्मिका विमर्श शक्ति) का भेदन करना (भित्वा)। इसके पश्चात् उस तत्व में प्रविष्ट होना चाहिये। अतः तुम प्रणवधनु के ज्यारोपण कर्म में कुशलता प्राप्त करो।

धनु की ज्या। प्रथमतः उ कार

इस धनु की ज्या किसे बनाओगे ? इस प्रश्न का उत्तर अन्तिम कारिका में परिलक्षित होगा। क्रमशः-क्रमशः ज्या चढ़ाने का तत्व सुनो। प्रथम ज्या है उकार। प्रणव की मध्यम मात्रा। अ तथा म धनुष के दोनों सिरे (कोटि अथवा प्रान्त) हैं। उ मात्रा के द्वारा प्रान्तमात्राद्वय (दोनों सिरों) को संहृत्-सम्बद्ध करो। 'उदा' उ वर्ण के द्वारा अ म धनुष में प्रथमतः ज्या चढ़ाओ। यह है उर्वी ज्या। इस ज्या प्रकर्षण (ज्या खींचने) से तुम किस लक्ष्य का बेधन करोगे ? प्रथम लक्ष्य है नाद। कंठश्रुति अथवा भुंजाभ्यन्तरस्थ ईषिका की चर्चा सुना होगा। यह ईषिका चरम आत्मा अथवा ब्रह्म अवश्य है, किन्तु उसका नाद रुप में अविष्कार करना होगा। झिल्लीध्वनि, तन्त्रीध्वनि, वेणुध्वनि का अविष्कार गुरुगम्य क्रम से करना ही होगा। झिल्लीध्वनि के आवरण के मध्य में झरीध्वनि (झरना का शब्द) उसमें तन्त्रीध्वनि (अविश्रान्त वीणातन्त्री की झन्कार-प्रथमतः तरंगायित तत्पश्चात् निस्तरंग), उसमें पुनः वेणुध्वनि—कभी अन्तरा, संचारी, आभोग के साथ, कभी-कभी केवलमात्र आधारभूत (अस्थायी) ध्रुवस्वर की वितान ! इस प्रकार से नादानुसन्धान करना होगा। नाद के पूर्व-पूर्व रुप को ज्या बनाकर उत्तर-उत्तर रुपों को लक्ष्य बनाना होगा।

तदनन्तर ज्या-नाद। नाद और बिन्दु सन्धान का क्रम

अब नाद का सम्यक् सन्धान हो जाने पर उस नाद को ही ज्या बनाना होगा। अब नाद के सूक्ष्मतम घनीभाव रुप बिन्दु को लक्ष्य बनाना होगा। उसका बेध करना होगा। (नदित गुणचापादणुतमम्)। बिन्दु एक प्रकार से अणुत्व तथा पूर्णत्व का काष्ठारुप है। अतः वह पूर्णतः दुर्बोध्य भी है। नाद मिला, परन्तु बिन्दु तो मिला ही नही। अनेक को इसी अवस्था में ही रह जाना पड़ता है, किन्तु बिन्दु को भी जीतना आवश्यक है। इसलिये बुद्धि को अग्रचा होना होगा। केवल प्रणव के 'अ म' की आश्रयिणी जो बुद्धि है, वह व्यग्रा है। वह जब उकार का आश्रय लेती है, तब वही उग्रा (गृहीतोग्र महाचक्रे, नृसिंहरुपेणोग्रेण' इत्यादि में अंकित उग्र शब्द को लक्ष्य करो)। वह जब नाद-बिन्दु-कला रुप अर्धमात्रा का आश्रय लेती है तब अग्र्या हो जाती है। ज्योति का तो बिन्दुरुप कभी-कभी दर्शन

में आ जाता है, किन्तु नाद का बिन्दु रुप से श्रवण ? इसके लिये बुद्धि को एक Perfect Focussing mirror होना चाहिये, अग्र्या होना चाहिये। बुद्धि की Scattering, Canalising और focussing क्रिया का विचार करो। एक वटबीज कणिका में वट का महान अस्तित्व विद्यमान रहता है। एक रेत: बिन्दु में एक महामानव अन्तर्निहित रहता है ! एक ऐटम महाशक्ति का भण्डार है। कैसी बुद्धि इस घनीभाव का अवगाहन करने में समर्थ है ? इस घनीभाव में क्रियाकारक सामर्थ्य की शक्ति पुंजीभूत रहती है। 'एकोऽहम्' में इस घनीभाव की आदिम तथा मौलिक सूचना निहित है। अत: बिन्दुसन्धान के क्रम को आयत्त करते हुये जाना होगा। पूर्व-पूर्व का रुप अधिगत हो जाने पर पर-पर रुप लब्धव्य हो जाता है। बहिर्विज्ञान में यही हो रहा है। वहाँ बिन्दुशक्ति के किसी एक रुप को गुण अथवा ज्या मानकर, उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर रुप के बेध का प्रयास चलता रहता है। इस सम्बन्ध में अल्फा किरण, न्यूटन पार्टिकल प्रभृति के दृष्टान्त का चिन्तन करो। रेडियो आईसोटोप जातीय पदार्थों का Nuclear Fission तो घटित हुआ है। परिणामत: बिन्दुशक्ति को एक महाबली दैत्य के रुप में जाना जा सका है। किन्तु यह सब उसके बहि:प्रकोष्ठ का बाह्यरुप मात्र है। अन्त:प्रकोष्ठ अर्थात् प्राण एवं चैतन्य की स्तरपरम्परा का वेध कैसे होगा ? इसके लिये ऐन्द्रीशक्ति प्रयोज्य है। (महावज्रे सहस्त्रनयनोज्वले। वृत्तप्राणहरे—)। ऐन्द्री केवलमात्र इन्द्रपत्नी ही नहीं हैं। (ऐं+द+र+ई) इस आकृति र पर ध्यान दो। ऐं वाग्भव, द दन्तवृत्ति अर्थात संछेदक, र तैजसवृत्ति, ई दीर्घतालव्यवृत्ति। इसका अर्थ है जो वाग्भव किसी सुदृढ़ अवष्टम्भक (वृत्त) को विदीर्ण करके अन्तर्निरुद्ध तेज के उर्धवतन 'तल' आदि को भी समर्थ-व्यापारवान कर दे। किरीटीनि—अर्ध-मात्रास्थित 'ऐ' वागभव, महावज्रा = दकार + रकार, सहस्त्रनयनोज्वला = ईकार (झरी अथवा प्रस्त्रवणाकृति, तेज सहस्त्रधाराओं में उत्सारित होता है)। किम्बहुना इन समस्त मूर्त्तियों की व्यंजना एक प्रकार से समाप्त नहीं है। इस प्रसंग में द्रीं बीज की निपुटित रुप से परीक्षा करो। यह पूर्वोक्त विश्लेषण रीति के अनुसार वज्रा-युध अथवा वज्रशक्ति का सूचक है। अद्रि पर्वत् (दृढ़ अवष्टम्भक रुप)। इसे विदीर्ण करती है वज्रशक्ति द्रीं। शीषदेश में किरीटी रुप जो चन्द्रबिन्दु अर्ध-मात्रा है, इसे ही विशेषरुप से समर्थ करना होगा। परमलक्ष्यवेध की द्वितीय और तृतीय ज्या की योजना इस अर्धमात्रा से करना होगा। अर्धमात्रा ही विशेषरुप से धनु है। यथा—अत: उपलब्ध होती है श्री बीज (लक्ष्मी)।

लक्ष्यबेध का समापन कहाँ होगा ? कला अथवा विमर्शशक्ति द्वैताद्वैत विवर्जित परम

क्या यही लक्ष्यवेध का समापन है ? द्वैताद्वैत विवर्जित परमतत्व में द्वैताद्वैत आदि समस्त प्रसग समुदित होते हैं, उनका भी बेध करना आवश्यक है। यह न करने

पर 'मकलकलनान्तं कृत इत:" निष्कल सकल आदि निखिल कलन के अन्त में परम तूष्णींभाव में कैसे उपनीत होंगे ? अत: कला तुम्हारी तृतीय ज्या है। इस शेष ज्यार्पण के बिना मात्रातीत तत्व में स्थिति सम्भव ही नहीं है। इस लक्ष्यवेध कर्म में विन्दु को ही मर्मस्थान (Key Position) जानना। तुम्हारा मुख्य चिन्तन होना चाहिये कि विन्दु कैसे जित् हो। तभी चन्द्रविन्दु अथवा अर्धमात्रा में (ँ) धनु नीचे है और बिन्दु उपर है। धनु में प्रथमत: ज्या है तदनन्तर नाद का ज्यारोपण और कर्षण करना होगा। नाद के (यदि धनु कोदण्ड है तब) भीतर ही गर्भित बिन्दु रहता है। वहाँ ध्वनि धारावत (Continuous) प्रवहमान है। उसके मध्य में विन्दु (as quanta) की अनुभूति होने लगती है (नादात् विन्दु:)। धारा और विन्दु का अन्योन्यभावित्व सृष्टि के सर्वस्तरों में अनुस्यूत रहता है। जैसे आलोक रश्मि का यह सूक्ष्मभाव आकस्मिक अथवा अहेतुक नहीं है। इस युग्म अनुभूति के पश्चात् विन्दु को ही विशेषरूप से लक्ष्य करना होगा। काली के हाथ का मुंड यही निर्देश दे रहा है। खड्ग का तात्पर्य है इस विन्दुरूपा शक्ति का भी छेदन करो। वर=पूर्ण-कला। अभय=कलातीत। अत: उपलब्धि होती है कि वैन्दवी शक्ति को किसी भी उपाय के द्वारा उद्‌बुद्ध करो। फलस्वरूप कलाशक्ति का पूर्ण उन्मेष होगा। (वर मिलेगा)। तदनन्तर अथवा उसकी सहायता से (कलाशक्ति की सहायता से) द्वैता-द्वैत विवर्जित परम मात्रातीत से अच्युतसिद्धि (अभय) प्राप्त होगी। पुनश्च कर-स्थित विन्दु रूप मुण्ड=कं। खड्ग प्रयोग=री, दोनों मिलाकर क्रीं। यह कालिका बीज है। 'कं' रूप मुण्ड ही 'री' खड्ग द्वारा छिन्न होकर, वरानुग्रह प्राप्त करते हुये सर्वसिद्धि तथा कैवल्य का प्रापक हुआ है। प्रणव में मुण्ड=मकार। खड्ग द्वारा (उ कार के द्वारा) म को उद्‌बुद्ध करो। अर्धमात्रा को उत्तोलित करो (वरमुद्रा को उत्तोलित करो) और यह अर्धमात्रा सेतु (उभयमुद्रा) परमाव्यक्त में जाने का निमित्त हो जाये। अत: कामबीज कं=सर्वाकर्षक परम रसवस्तु से सम्बन्धित स्वा-भाविक काम का उल्लसित रूप है। 'ली' रूपी मुरली द्वारा यह अलसित काम उल्ल-सित विलसित होता है। फल है 'क्लीं' बीज। इस भाव की परिसीमा कहाँ पर और किस भूमि में है ? अर्थात् किस भूमि में प्रविष्ट होकर रसवस्तु ही रासवस्तु होगी ?

इस वस्तु के द्वैताद्वैत विवर्जित 'रसो वै भूमा' से विकसित रासशतदल कैसे मुदित होगा ? यह मुदितता फिर से अलसितता को प्राप्त हो ही नहीं सकती। यह रसिक गण ही जान सकते हैं। प्राकृत तथा जड़ीय संभोग आदि में यही अप्राकृत चिन्मय रस और रास वस्तु गुंठित कुंठित तथा लुंठित होते देखी जाती है। श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्द तनु में क्लीं बीजाक्षर का सन्दर्शन करो। इसी प्रकार की धारा का दर्शन कालीरूप में किया गया है।

जप के क्षित्यादि पञ्चतत्व में अधिरोहण
लक्ष्यबेध पर्व तथा अधिरोहण

पुनश्च ! जप को क्षिति, जल, पावक, वायु, आकाश रूपी पंचतत्व में उत्तरोत्तर उत्तोलित करना आवश्यक है। इसी के लिए प्रणवादि बीज की धनुरूप में कल्पना करके उसमें उपयुक्त गुणारोपण (ज्यारोपण) कर्म साधित किया जाता है। प्रणव जप के समय स्तब्ध (static) 'ओम' के स्थान पर 'अउम' का जप करने से स्तब्ध (inert) भाव कट जाता है और सावलील (सलिल) भाव की प्राप्ति होती है। उ कार की उर्ध्वगत वृत्ति (Vertical Movement) के साथ मन्थनकृति (Churning Pattern) संयुक्त हो जाने के पश्चात् (अर्थात् उ—उग्र होने पर) तैजसभाव अधिगत हो जाता है। तदनन्तर वायु एवं (आकाश) वियत् के निमित्त तथा उससे उत्तीर्ण पदवी में उत्तरोत्तर अर्धमात्रा का समाश्रय लेना होगा। यही पञ्चप्राणतत्व के विषय में भी है। प्रथमतः प्रणव के उकार का उदान (Lever functian) रूप में व्यवहार करते हुये अकार (अपान) एवं मकार (प्राण) रूपी बाह्य एवं आन्तर वृत्ति की समता (harmonic equation अथवा balance) का सम्पादन करने का यत्न करो। इसके अनन्तर अर्धमात्रा की सहायता के द्वारा इस छन्दोग समता को विपुल एवं सूक्ष्म काष्ठ तक ले जाने का साधन करो (नाद एवं विन्दु साधन)। इसके द्वारा मुख्य प्राण के भावद्वय अर्थात् व्यान एवं समान भी शुद्ध तथा समर्थ रूप से अधिगत हो जाते हैं। जपसूत्र में मुख्य प्राण के द्वारा इस प्रकार पञ्चत्व प्राप्ति के उपाय को दीक्षा का लक्षण माना गया है। प्राण प्रसंग में इसकी विशद व्याख्या होगी।

प्रसंगक्रम में श्री चण्डी के नारायणी स्तव का विश्लेषण

प्रसंगतः लक्ष्य करो कि श्रीचण्डी के शिवदूती प्रणाम में "घोररूपे तथा महारावे" रूपी रहस्य शब्द का व्यवहार किया गया है। शिव स्वयं अघोर हैं किन्तु उनकी दूती घोररूपा है। इस अघोर धारा के रहस्य का सभी दृष्टिकोणों से विचार कर देखो। जप के क्षेत्र में 'क' (व्यंजन का आदिवर्ण) को वैखरी अथवा व्यक्त जप के लिये ग्रहण करने पर 'घ' (क वर्ग का चतुर्थ वर्ण) क्या निर्देश करता है ? वाचिक उपांशु तथा मानस जप के अनन्तर जिस तनुमानस नामक तुरीय भाव की आवश्यकता पड़ती है, उसकी सूचता 'घ' वर्ण के द्वारा मिलती है। इस "ग्राम" में उत्तीर्ण होने पर ही ध्वनि वस्तुतः समर्थरूप में घोषवत् तथा महाप्राणवत् होती है। पहले भी उ को लेकर प्रणव जपता था, किन्तु जब पृथु मानस भूमि के अनन्तर तनुमानस की स्थिति मिली, उसी के द्वारा तैजसमात्रा ('र' कार) का विशेष रूप से अर्जन कर सका। (उग्र एवं घोर रूपी प्राणिक वृत्तिद्वय की परीक्षा करो)। प्रथम में चक्रावृत्ति और द्वितीय में शंखावृत्ति स्पष्ट है। नृसिंह तापनीय में नृसिंह मंत्र के उग्रं तथा वीरं पदद्वय का प्रणिधान करो।

महाराव से क्या स्पष्ट होता है ?

घोररूपा होकर महारावा होती है 'महाराव' कहने से राव अथवा रव का अतिगामी ग्राम (Super or ultra) विशेषतः लक्षित होता है। हम देखते हैं कि ध्वनि–वर्ण आदि का स्पन्दन साधारण प्रतीत होने वाले ग्राम को छोड़कर विशेषरूप से (असामान्य) सामर्थ्य प्राप्त करता है, तब उसकी शक्ति अद्भुत तथा अतर्किक है। अतएव घोररूप और महाराव हुये विना 'हतदैत्ययहाबल' की स्थिति नहीं आती। (दैत्य = Shearing Force)। जो संहत है, समूह रूप से विद्यमान है तथा श्रेयः साधन में सक्रिय है, उसे disrupt (विशीर्ण) करने को दैत्यशक्ति सतत उद्यत रहती है। असुर, दैत्य तथा दानव इसके विभिन्न रूप हैं। सभी स्पन्दनगत् वैरूप्य हैं। महाराव के अभाव में इस वैरूप्य का यथार्थ समाधान नहीं होता। महाराव का तात्पर्य चीत्कार नहीं है। ह्रींकार, हुंकार, घण्टशंखनाद प्रभृति रहस्यध्वनि बीजों के द्वारा महाराव ही लक्षित होता है। "हुंकारेणैव भस्मसात्", "घण्टास्वनेन न पाहि" इत्यादि का चिन्तन करो। जबतक 'तनुमानस' पर अधिरूढ़ नहीं हो जाते, तबतक दैत्यबल विनाशी महाराव की संभावना ही नहीं रहती। यह भी स्मरणीय है कि तनुमानसा भूमि में अनुत्तीर्ण रहने पर मध्यमा सेतु को उत्तीर्ण कर सकना संभव ही नहीं है। श्रद्धापूर्वक उपयुक्त छन्दः की सहायता से प्रणवादि जप करते रहने पर उसकी साक्षात् कार्यकारिता के द्वारा जापक की काया, प्राण तथा मन का स्थूल एवं पार्थिव भाव (rigid, course grained, inelastic condition) परिवर्तित होने लगता है और वह सूक्ष्म-सूक्ष्मतर छन्दोगवृत्ति के लिये उपयोगी हो जाता है। क्रमशः वाद्ययंत्र के गंभीरतम और उच्चतम परदे के रणन एवं अनुरणन की संभावना वर्धित होने लगती है। इन सब deeper key का संधान पहले तो मिला नहीं। इस प्रकार Progressive attuning के परिणाम से तनुमानस जाग्रत हो जाता है। संवित प्राप्ति होती है (कुश ही कोश हो जाता है)। यही है सत्वगुण का आपूरण। बहिर्विज्ञान की गवेषणाओं में अनेक स्थल पर पूरण एवं आपूरण कर्म की विशेष कुशलता दृष्टिगोचर होती है। अतएव जप आदि का लक्ष्य यह है कि जापक अपनी प्रकृति में किस प्रकार से "आपूर्यमाणता" का विकास करे 'स्वनेनापूर्य या जगत्'। पूरण के साथ हरण भी आवश्यक है। वैरूप्य-वैगुण्य का हरण। हरण-पूरण में परस्परापेक्षित्व है। तनुमानसा होने पर ही सत्वापत्ति होती, अन्यथा नहीं होती। भीमनाद, भैरवनाद, तूर्यनाद, तमुलनाद प्रभृति शब्द भी अतिगस्पन्दन की अवस्थाविशेष के उद्देश्य से विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त होते हैं।

पूरणी और हरणी शक्ति। नारायणी स्तव में नवशक्ति का दृष्टान्त

हरण-पूरण के सुसमंजस्य अनुपात को सर्वत्र रक्षित रहना चाहिये, जैसे शरीर के क्षय तथा पोषण का अनुपात। अनुपात में सामञ्जस्य रक्षित होने पर सब कुछ

संगृहीत हो जाता है। इस संग्रहशक्ति के पहले कहीं-कहीं विश्वानुस्यूत कौर्मशक्ति का भी उल्लेख किया गया है। यह धारा (continnity) के अनुसार पंचगंगा के समान अन्यतमा है। श्रीचण्डी के पूर्वालोचित नारायणीस्तव में जिन नवशक्ति (ब्रह्माणी से चामुण्डापर्यन्त) की वन्दना की गयी है, उनमें प्रथम चार (वैष्णवी पर्यन्त) पूरण तथा सोमप्रधान (पूरणी) हैं। शेषोक्त चार (नारसिंही से चामुण्डा) हरण तथा अग्निप्रधाना हैं (हरणी)। मध्य में सन्धि तथा सेतुरूप से वाराही की स्थिति है। इन वाराही शक्ति का समाश्रय लेकर जपादि साधन तथा समस्त क्रिया व्यवहार में समंजस अनुपात (छन्दोगत्व) की रक्षा करना होगा। अत: ये वज्रवाराही हैं। जैसे व्याहृतित्रय और प्रणवत्रय से सहकृत जो गायत्री जप है, उसमें सप्त सोम-मात्रा और सप्त अग्निमात्रा रहती है। इन सात-सात के सामञ्जस्य की रक्षा करके गायत्री जप करना आवश्यक है। आधार अथवा यंत्र में तम: लक्षण की सविशेष स्थिति में अग्निमात्रा सप्तक का जोर देकर जप करना चाहिये। रज: लक्षण उरु अथवा विशाल होने पर सोममात्रा सप्तक का विशेष जोर देकर जप करे। आदि और अन्त के अतिरिक्त मध्य में एक प्रणव की तीन सोममात्रा का व्यवहार करें अन्यथा प्रथम प्रणव एकमात्रा में उच्चार्य है और उसी अनुपात में शेष प्रणव द्विगुण मात्रा से। सत्वाद्रेक होने पर सामञ्जस्य अथवा छन्दोगत्व होता है। सत्वोद्रेक गायत्री आदि जप सौष्ठव का कारण भी है और कार्य एवं फल भी है। यंत्र में सत्व प्रवणता रहने पर जप में उक्त सौष्ठव स्वच्छन्द हो जाता है। यत्नपूर्वक जप से ध्यानादिगत सौष्ठव का संचार कर देने पर यत्र भी उर्जित सत्व हो जाता है। भाव एवं भंगी एक दूसरे के अन्योन्य पोषक हो जाते हैं। पूरण की विशेष-विशेष आकृति (अनुपूरण, प्रतिपूरण, आपूरण, परिपूरण तथा सम्पूरण) के सम्बन्ध में आगे आलो-चना की जायेगी। प्रणव के पंच अवयव अ, उ, म, नाद, विन्दु भी यथाक्रम से उदा-हृत हैं।

परमा विश्रान्ति का स्थान। परमाश्चर्य 'शून्य'।

जिस अद्वैताद्वैत विश्रान्ति के प्रसंग में यह समस्त साधनारहस्य आलोचित हो रहा है, वह विश्रान्ति कैसे प्राप्त होगी? जहाँ हरणी तथा पूरणी मिलकर शेष एवं शान्त हो जाती हैं, कोई अपूर्ण वेग संस्कार (Basic Momeutum) नहीं रह जाता, वही परम विश्रान्ति है। दोनों की समता में जो होता है उसे 'शून्य' कहा जा सकता है, परन्तु वह परमाश्चर्यरूपी शून्य है। यह विशेषत: सूत्रित एवं विवेचित हो रहा है। अन्त में यह लक्ष्य करो कि 'साधकानां हितार्थाय' श्री चण्डी में नवधा नारायणी स्तुति (ब्रह्माणी से चामुण्डापर्यन्त) है। यह मात्र "ब्रह्मणो रूप कल्पना" नहीं है, प्रत्युत् इससे बीजमंत्र तथा उसके रहस्य का भी संकेत दिया गया है। इसी इंगित की दिशा की ओर अनुधावन करने का यत्न यहाँ किया जा रहा है। चामुण्डा

रूप की भावना करो। 'दंष्ट्राकरालवदने'। इसमें क और र को लेकर क्र होता है। 'शिरोमाला विभूषणे' इसमें शिरः (तालू) से उच्चरित ई क़ार है। 'माला विभूषणे' इससे मकार एवं चन्द्रविन्दु का द्योतन होता है। अब यही क्रीं बीज है। 'द्रंष्टा' में ष, रेफ तथा आ, कराल से क एवं शिरोमाला से ओम को लेकर क अक्षर को वदन अथवा मुख ('आदि') बनाकर सज्जित करने पर क्ष्रौं बीज गठित होता है। यह सब मनमानी कल्पना नहीं है। त्रिपुरतापिन्यादि उपनिषदों के गायत्री के 'धीम ह्री' तथा 'जातवेदसे' में, ऋक के 'त्र्यम्बकं' मंत्र में से अक्षरों का चयन करने पर किस प्रकार से त्रिपुरा बीज व्याहृत हुआ है—इसका प्रणिधान करो। यदि इसे कल्पना मानते हो, तब यह संवादिनी, विसंवादिनी नहीं है।

बीजोद्वार की शिष्टसम्मत रीति

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिये कि बीज एवं रहस्य का उद्धार करने की यह रीति शिष्टसम्मत है। वेद के संहिताभाग में मत्र एवं मंत्रार्थों का इसी रीति से ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् 'परोवरीयान्' क्रम से उन्हें मग्न करके प्रदर्शित करते हैं। इन्होंने अग्निमन्थन की अरणि से लेकर अश्वमेध के अश्व पर्यन्त किसी को भी नहीं छोडा है। वे पदों की अक्षरमात्रा आदि को लेकर रहस्य का दोहन करने में पारंगत थे। व्यावहारिक व्याकरण की सीमा का उल्लंघन करने की भी उनकी अहेतुक कुण्ठा नहीं थी। आगम (तंत्र) की तो कोई बात ही नहीं है। स्वयं अनुभवी न होने तक अगाध रहस्यसिन्धु के कूल ही पर बैठकर, केवल 'उपलखण्ड' द्वारा ही सन्तोष करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में समुद्र के तल में अवगाहन करके मणिमुक्ता का उद्धार कौन करेगा? (दष्ट्रोद्धृत वसुन्धरे)। वह वाराही शक्ति कहाँ है?

नृसिंह नाम के दृष्टांत की परीक्षा

एक छोटे से दृष्टान्त के साथ इस प्रसंग का उपसंहार करता हूँ। जैसे सिंह शब्द। शब्दार्थ विश्लेषण की प्रचलित रीति के अनुसार हम साधारणतः जो मौलिक है, उसे ही ग्रहण करते हैं। शब्द के मूल में प्राणतत्व है, अतएव प्राण प्रयत्न का विश्लेषण करना वांछनीय है। 'प्राणप्रयत्न' कहने से क्या समझते हो? इसे स्थूलतः आस्य (कण्ठादि का) प्रयत्न कहा जा सकता है, किन्तु प्रणिधान द्वारा यह विदित होता है कि उन-उन प्रयत्नों के मूल में एक प्रकार की 'शक्तिआकृति (Power Picture or Pattern) है। यद्यपि यह स्थूलतः एवं मुख्यतः 'दैहिक' ही है, तथापि शक्ति की वृत्ति विशेष को परिच्छिन्न रूप (Restricted रूप से) उपलब्ध करने पर भी शक्ति का मूल एवं तात्विक रूप अखण्ड तथा असीम ही है। इसका स्तर तथा श्रेणीविभाग भी हमारे बोध और व्यवहार की सुविधा एवं सौकर्य के लिए ही है। ब्रह्मवस्तु के शक्तिरूप (as power) की आख्या यदि प्राण (प्राण ब्रह्म है) है, तब

कण्ठ प्रयत्न से उच्चारित 'ह' वर्ण प्राण की महत्ता का सूचक (प्राणेश) होगा। अर्थात् यह अपरिसीम, अतल शक्ति सिन्धु (unlimited Power Continum) का साक्षात् निर्देशक है। उसे निर्देश करता है। समस्त शक्तियों की अभिव्यक्ति इसी आधार में होती है और इसी आधार में उनका लय भी हो जाता है, तथापि इसके साथ का सक्रिय संयोग (Effective Contact) अधिकांश स्थलों में बाधित हो जाता है। अतएव सचराचर शक्ति व्यापार को स्वलम्मान (अल्पप्राण) कहना पड़ता है। मानों सिन्धु का समस्त 'कारबार' बुदबुदों के माध्यम से चलता है। विज्ञान तथा प्रज्ञान में वीचितरंग आदि का भी सन्धान करना पड़ता है। स्वयंसिद्धा सिन्धुसत्ता तो 'हरिहरादिभिरप्यपारा' है।

ह कार, स कार की व्यञ्जना

अपरिमेय शक्तिभंडार (Magazine of unlimited Power) का निर्देश 'ह' रूपी महाप्राणवर्ण करता है। यही है शक्ति का सार्वभौम समस्त रूप। और स् (दन्तवृत्ति द्वारा परिच्छिन्न हसन्त) इंगित करता है शक्ति के परिच्छिन्न व्यस्तरूप को। जैसे समुद्र का जल और नदी आदि का जल। यह है power Field और द्वितीय है उसके सम्पर्क का Radiation, emanation, Charge। मानस, प्राणिक आदि सर्वक्षेत्र में यही समस्त और व्यस्त रूपी भेद को उदाहृत करता है। जैसे वाक् के उच्चारण में। इ कार अर्थात् तालव्य वृत्ति। अर्थात् जिस मूल आधार में शक्ति राशि स्थित है, वहां से उसके कुछ अंश का किसी निर्दिष्ट तल में उत्तोलन। जैसे सूर्य के ताप द्वारा समुद्रस्थ जल का गगन में (वाष्परूप में) उत्तोलन। घनीभाव (Focussing, Condensing Etc.)। शक्तिप्रेक्षण (जैसे वारिवर्षण, सरित् प्रवाह) होने के लिये अनुस्वार की मध्यस्थता प्रयोज्य रहती है। मानस, प्राणिक आदि सभी क्षेत्रों में इसी दृष्टान्त का चिन्तन करो। समस्त शक्ति की व्यस्तरूपता के लिये (अर्थात् शक्ति द्वारा अपने को Specific Discharge के रूप व्यक्त करने के लिये) मध्यस्थता में 'इ' कार रूप आकृति की (Functional Pattern) आवश्यकता रहती है। श्रुति की पंचाग्नि विद्या में इस ई कार के रूप का चिन्तन करो। इ तालव्यवर्ण है। अर्थात् यहां केवल यही नहीं। इसे तालु के द्वारा उच्चारित करते है। लक्षणा तथा वृत्ति अन्यत्र भी व्याप्त एवं अन्वित है। इसे स्पष्टतः समझना होगा।

'हिंस्' से 'सिंहः' की तुलना

अच्छा, अब हिंस् एवं सिंहः का परीक्षण पूर्वोक्त रीति से करो। प्रथम में यह उपलब्धि होती है कि समस्त शक्तिराशि से एक प्रक्षेप (discharge) है। यह हरण, वियोग, क्षय तथा संहार की आकृति है। क्रमागत चलने पर यह श्रम, अवसाद तथा मृत्यु ले आता है। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भुः"। हमारी परांग-

वृत्ति के कारण यही "आत्महिंसा" अविरत चलती रहती है। तभी न 'व्यतृणत्—हिंसितवान्' स्थिति है। अमृत का अन्वेषण करने के लिये उद्यत होने पर इस Constant running down स्थिति का रोध करना होगा। हिंनस् को उलट कर सिंह करना होगा। जो प्रक्षिप्त (discharged, Substracted) है, उसे पुनः शक्ति के मूल आधार में लौटा लेना होगा। वियोग का योग, हरण का पूरण, क्षय का पोषण (पुष्टिवर्धनम्) साधना ही होगा।

सिंह का मौलिक ध्यान। महाशक्ति का वाहन

जो क्षिप्त है, (जैसे प्राण-चित्त आदि) उसे ('स' कार को) पहले उत्तोलित करो। तत्पश्चात् धनीभूत-केन्द्रीभूत करो। अन्त में उसे महाशक्तिराशि में निःक्षिप्त करो। इस प्रक्रिया से वर्षा का जल पुनः अनन्त जलराशि (सिन्धु) में प्रत्यावृत्त हो गया, एक बूँद भी नष्ट नहीं हो सका। हिंनस् Constant run down का रूप है। सिंह Complete Come back (मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्) का रूप है। अतः नृसिंह मंत्र में 'मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्' कहा गया है। तभी सिंह महाशक्ति का वाहन है। इसका ध्यान अपूर्व कहा गया हैं। असुरगण—व्यस्त, व्यग्र शक्तिप्रधान हैं, अतः उनकी आकृति हिंस् है। इनके संहारार्थ सिंह वाहन की आवश्यकता है। वह समस्त शक्ति है, उग्रशक्ति है (उग्रं वीरं महाविष्णुं)।

इ तथा इं का उच्चारण करने में उत्तोलन होता है और उत्तोलन से धनीकरण एवं प्रवणीकरण होता है। इन आकृतिद्वय के भेद का परीक्षण करो। अजपा में जिस 'हंसः' का प्रयोग किया जाता है, उसमें इं के स्थान पर अं है। प्रणव में ओम है। इन आकृतियों के सम्बन्ध में विशेषरूप से प्रणिधान करना चाहिये। साधारणतः 'अ' कार=तलवृत्तिता, 'इ' कार=लम्बवृत्तिता, 'उ' कार=वेधवृत्तिता है। 'हंस' रूपी अजपा का चिन्तन करो। यहां ह कार तथा स कार के बीच तलगत भेद (Planar) है ह्रस्व (unpronounced)। हिंस तथा सिंह में तलगत पार्थक्य (Biplaner emphasis) अधिक है। मानो कोई Charge अपने आकार (Generating Source) से उत्क्षिप्त होकर high potential हो रहा है। पश्चात्काल में वह पुनः प्रक्षिप्त एवं निक्षिप्त हो रहा है। मानो एक खड्ग मिट्टी में पड़ा हुआ है। उसे उठाया। इसके अनन्तर बलपूर्वक उसे किसी पर मारा। यह है हिंस् की आकृति। क्षिप्त-विक्षिप्त तथा मूढ़रूप त्रिविध चित्तवृत्तियों को एकाग्र और निरुद्ध किया। यह है सिंहः आकृति। अजपा के हंसः जप के समय हंसः और समकालिक व्यवधान (Coplanar Interval) को नियंत्रित तथा छन्दोग (rhytmic) करना चाहिये। इसकी तुलना 'हौंस' जप से करो।

(नृ + सिंह) आकृति परीक्षा

नृसिंह नाम की परीक्षा करो। दन्त्य तवर्ग का पंचम (अनुनासिक) वर्ण न, मूर्धन्य ऋ कार के योग से क्या सूचित होता है ? नृ का सम्यक् उच्चारण करते हुये प्राणप्रयत्न की आकृति को लक्ष्य करो। निखिल विश्वानुस्यूत शक्ति ही प्राण है। अतः हमारे प्राणप्रयत्न की आकृति में केवलमात्र व्यष्टि व्यंजना (Isolatel-individual Significance) ही नहीं है। उसमें वैराज्य व्यञ्जना (Total Cosmic Significance) भी है। इसकी विवेचना अगले उपक्रम में की जायेगी। प्राणरूपी अदित (अखण्ड) सामग्री, दित (छिन्न) होती जाती है। यही दिति (छिन्नीकरण) कर्म कहीं पर अल्पप्राण तथा मध्यप्राण है, कहीं वह महाप्राण है। ध में वह विशेषकर महाप्राण है। पंचम वर्ण न कार में क्या हुआ ? इस 'न' में दिति कर्म ने स्वात्म संवरण किया। यह उपसंहार तथा संवरण का स्थान है। Moving and working energy यहां पहुंचकर मानों यह कहती है कि—अब नहीं, अब मैं विश्रान्त Rest Energy हूं। एक प्रकार से यह निषेध अथवा Negation का स्थान हैं। 'न' तथा 'No' ('नो'), दोनों अव्यय मुख्यतः यही संकेत देते हैं। अन्य व्यंञ्जन भी हैं। एक दृष्टिकोण से जो Rest energy है, वही अन्य दृष्टिकोण से Arrested (प्रतिनिवृत्त-संवृत) Energy है। यह सम्वृत् प्राणधारा विश्रान्तावस्था में भी विभिन्न स्तर विन्यासों के रूप में विद्यमान रहती है। (कुण्डलीकृत् सर्प के समान विद्यमान रहती है)। जैसे प्रणव सत् स्थिति में इसी प्रकार से 'न' आकृति को स्वीकार करके प्रसुप्त रह जाता है, तब उस समय उसका रूप होता है सार्द्ध त्रिवलयाकार (अर्धमात्रा के साथ त्रिवलय = त्रिमात्रा)। प्रणव में गायत्री, व्याहृति-त्रय भी त्रिपाद के साथ सम्पुटित रूप से स्थित हैं।

परमाभिमुखी प्रवणता के पथ में सभी बाधाओं का निरसन करने वाली आकृति 'नृसिंहः'

अब 'न' में ऋ का योजन करो। ऋ केवलमात्र गति ही नहीं है। यह है मूर्धन्य भूमि प्रापिका तैजसी वृत्ति Intensive Energy reaching or tending to reach the apex or highest Level। यह Energy मुख्यतः स्वगत है Intrinsic है, आगन्तुक (Impressed force) नहीं है। क्योंकि यह 'न' आकृति के आभ्यन्तर में सक्रिय होती है। तृ, थृ, दृ, धृ इस सभी के साथ नृ के फारमूला से तुलना करके परीक्षण करो। नृ शब्द का साधारण अर्थ है मनुष्य। नृ शब्द के प्रथमा एकवचन में 'ना' और एवत्, अस्मत् शब्द के वैकल्पिक रूप में 'नः' का प्रयोग भी प्रसंगक्रम में आलोच्य है। न में ऋकार का गुण होता है नृ = नर। जो कुछ भी हो नृ आकृति की मौलिक व्यञ्जना क्या है ? प्राण स्वयं को 'दित्' करके दित् वृत्ति को

संम्वृत करता है, तथापि यह संम्वृत प्राणसंवेण (Vital urge or Elan) कभी भी शिथिल (dormant) होकर नहीं रहना। उसके अभ्यन्तर में (Interinsic) एक क्रम से उर्ध्वगामी होने वाला सम्वेग (urge) अभिव्यक्त होता रहता है। समस्त सृष्ट पदार्थों में यह संवेग (as urge of Evolution) अवश्य विद्यमान है, किन्तु नृ आकृति में वह विशेषतः प्रान्त सीमा तक जाने के लिये उत्सुक रहता है। मानव इस आकृति से सम्पन्न है, क्योंकि वह सृष्टि में स्रष्टा की चरम चरितार्थता है। यह संवेग प्रकट प्रवणता रूप से विद्यमान रहता है। यद्यपि मानव में आत्मसंवित, शुभाशुभविचरणा, पुरुषार्थैषणा इत्यादि उन्मिषित है, तथापि परम एवं पूर्ण परिणति तो साधना सापेक्ष ही है। नृ+सिंहः आकृति में इस परम एवं पूर्ण प्रवणता के पथ पर आने वाली समस्त बाधाओं तथा रुकावटों को विदीर्ण करने का चरम सामर्थ रहता है। इस आकृति का यही है 'वज्राधिकनखस्पर्श'। नृसिंह नाम में वेदमंत्र (ऋक्) कैसे मिलित हुआ है, इसकी भावना करो। गायत्री तथा मधुमति ऋकद्वय से क्या दोहन होता है? 'न' आदिम वर्ण है (धियो नः तथा मधुमति के नः का विचार करो)। हंसवती तथा ऋक्सूक्त (ऋतंबृहत् और ऋतञ्च सत्यञ्च) से ऋकार, 'जातवेदसे सुनवाम सोम' तथा 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि ऋकद्वय से सकार, गायत्री के धीमहि एवं त्र्यम्बकं यजामहे से इ कार तथा अनुस्वार, हंसवती तथा सृष्टिसूक्त से ह कार तथा विसर्ग (अथो स्वः) लिया गया है=नृसिंहः। अतः सात ऋक गौ के रूप में अपना दोहन करा रहे हैं। नृसिंहः मंत्र के अवयव का चिन्तन करने पर इसमें सप्त व्याहृतिरूपा सप्तख्याति मिल जाती है। अभी इसके विश्लेषण का प्रयत्न यहाँ नहीं किया जा रहा है।

महारहस्य के सन्धान का दिग्दर्शन कहाँ मिलेगा ?

अब तक जो कुछ भी देखा गया है, वह तो महारहस्य वारिधि के उपकूल पर पड़े हुये कतिपय उपल खण्ड मात्र ही हैं। नृसिंह, गोपाल, त्रिपुरा तापिनी आदि उपनिषद् समुद्र में अवगाहन करने पर अमूल्य निधि का आहरण किया जाता है। मंत्र आदि की आध्यात्मिक आदि त्रिधा दृष्टि से आलोचना करने की रीति पूर्वकाल से ही चली आ रही है। जैसे 'शिवं' शब्द का रस अथवा पारदरूप से दर्शन। 'वेद और विज्ञान' पुस्तक में अनेक वैदिक मुख्यतः प्राणिक (vital) विश्लेषण के ऊपर वल दिया गया है। मूलतः सप्तव्याहृति, अथवा सप्तख्याति के अनुसार ही विश्लेषण अनुसन्धातव्य है। उनमें व्याहृतित्रय की आकृति घन (ध्रुव) रूपा है और व्याहृति सप्तक की आकृति विस्तार (तान) रूपा है। नृसिंह नाम मे नृ=स्व, हः=भूः, सिं=भुव इत्यादि है, और तान में विसर्ग समेत ह कार=भूः, ईकार=स्वः, अनुस्वार=भुवः, सकार और न कार=महः जनः तपम् की त्रिपुटी है। ऋ कार सत्यम् है।

निम्नोक्त कारिका का स्मरण करके समापन करो :—

गंभीरान्त राशि में प्रवेशभय रहने पर क्या स्वातीमुक्ता मिलती है ?

नित्योद्वेलान निधिनिलयतः सन्निधीनुद्दिधीर्षु
मन्दोच्छ्वासे सति किमुपलं विन्दसे शम्बुकं वा ।
गम्भीरान्तः प्रविशसि न चेद् ध्वान्तनक्रादिभीतः
स्वातीमुक्ता किममलरुचि स्तेऽपि पाणौ गृहीता ॥८८॥

निरन्तर उद्वेलित जो रत्नाकर (समुद्र) है. उससे वास्तविक मुक्ता (सन्निधीन) का उत्तोलन करने के लिये तुम्हें उत्सुक देखता हूँ, किन्तु सिन्धु इस बार मंदीभूत है अतः क्या सिन्धु की बालू को ही व्यस्त-समस्त होकर तुम्हारे हाथों में रख दूँ या कतिपय पत्थर के टुकड़े और घोंघा वगैरह ? सिन्धु के कुक्षितल में गाढ़ अन्धकार (ध्वान्त) है और वहाँ कुमीर, मकर आदि रहते हैं। यदि इस डर के कारण उस गम्भीरान्तराशि में प्रवेश नहीं करते हो, तब बोलो कि स्वाति नक्षत्र के वर्षा बिन्दु से जिस मुक्ता का उद्भव होता है, उस अनिन्दित अमलकान्ति मुक्तारानी का पाणिग्रहण (हाथों में लेना) तुम कैसे कर सकोगे ?

दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक

दार्ष्टान्तिक—निधिनिलय = महारहस्य वारिधि। सन्निधि = यथार्थ और अखण्डतत्व। नित्योद्वेल = व्यावहारिक बुद्धि को निरन्तर प्लावित करना। मंदोच्छ्वास = बुद्धि से आक्षिप्त जो रहस्य अपेक्षाकृत न्यूनतः गहन विवेचित हो। उपल = स्थूल वाह्य अर्थ। शम्बूक = कल्पित वक्रार्थ। गम्भीरान्त = अत्यन्त गहरा, रहस्यानुभूति। ध्वान्त = अपिहित भावार्थ, दुर्ज्ञेयत्व। नक्रादि—रूपक, भ्रमित अर्थ, जो सब आख्यादिकायें साधारण बोध को विभ्रान्त करती हैं। स्वातीमुक्ता = अभ्रान्त श्रोत्रागमतत्वगर्भितावाक्।

क्या कल्पितार्थ तो नहीं है ?

क्या यह सब शास्त्र की अथवा हमारी कल्पना है ? अर्थात् नृसिंह, गोपाल, प्रभृति तत्वतः "नास्ति" हैं। शास्त्र अथवा हमने इन-इन रूपों की कल्पना संजो कर रखा है ? क्या इन सब कल्पनाओं को हम अपने कतिपय कार्यों में प्रयुक्त (Pragmatic fiction) करते हैं ? आज का नव विज्ञान एक इतना बड़ा विदग्ध विशारद महाजन है, वह विज्ञान भी कल्पना के बिना एक पैर आगे नहीं बढ़ सकता अतएव यह आशंका हटाने पर भी नहीं हटती कि सब व्यवहारों के मूल में कल्पना अवस्थित रहती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कल्पना को विसंवादिनी न होकर संवादिनी होना चाहिये। जैसे श्रीचण्डी में उक्त "विष्णुकर्णमलोद्भूतौ" के स्थानपर

"विष्णुकर्णमूलोद्भूतौ" की कल्पना पूर्णत: विसंवादिनी है। पहले यास्क आदि ने, वैदिक और तांत्रिक निघन्टुकारों ने यथासम्भव संवादिनी कल्पना का ही आश्रय लिया है। वर्तमान में कथंचित् प्रकारान्तर होने पर भी हम यथास्थान यही करते हैं। अब यह कारिका ध्यातव्य है—

निखिल का कल्पना मूलत्व

विश्वं क्लृप्तं हृतमिति यतो ब्रह्मणाकल्पि पूर्वं
भेदाः क्लृप्ता अपि निजमनो जृम्भिते व्यष्टिविश्वे।
मंत्रं क्लृप्तं वरदशिवदं ब्रह्मणा स्वस्यरूपं
पाशाः क्लृप्ता स्त्ववरमनसा कल्पना कल्पवल्ली ॥८९॥

वेद के सृष्टिसूक्त 'ऋतं' द्वारा सृष्टि का आदिम भाव निश्चित रूप से परिलक्षित होता है (हिऋतं इति) उस आदिम भावाश्रय द्वारा "धाता यथापूर्वमकल्पयत्' धाता ने यथापूर्व अपनी विश्वसृष्टि कल्पना को किया था (यतो ब्रह्मणा अकल्पि पूर्वं)। अत: विचित्र विश्व ऋतंच सत्यञ्च आधार पर कल्पित हुआ है। पुन:श्च, ब्रह्म कल्पित ऋतंच पर भावाश्रित विश्व में (अर्थात् समग्र समष्टि विश्व के (Basic Cosmic Pattern में) प्रत्येक अपने मानस संस्कार के द्वारा अपने व्यष्टि विश्व (Individual universe) की कल्पना करते हैं। यह व्यष्टि विश्वसमूह पारस्परिक रूप से भिन्न हैं और प्रत्येक में भी अवान्तर भेदों की स्थिति है। इस व्यष्टि कल्पना का विश्व समूह, तत्व एवं तथ्य के दृष्टिकोणानुसार प्रायश: 'ऋतंश्च सत्यञ्च' के अनुरूप नहीं है। ब्रह्मकल्पना ऋतकल्पना है और जीवकल्पना अनृत कल्पना कही जाती है।

अनृतादि कल्पना भेद। अकुशल तथा कुशल कल्पना

अनृत कल्पना प्रायश: अवर, पराक्, प्रवण, मन की कल्पना है। इसके द्वारा स्वयं को बाँधने वाले नाना पाशों की सृष्टि होती है (पाशाः क्लृप्ता अवरमनसाः)। किसी-किसी जीव में इस अनादि अनृत कल्पना के पाश से छूटने की वासना का उदय होता है। अब उसका चित्त प्रत्यक् प्रवण होने लगता है। इस प्रकार के प्रत्यक् प्रवण जीव के लिए ब्रह्म ने किस उपाय का विधान किया है? जीव के लिये वरद-परम शिवद नामरूप-गुण-लीला आदि और साधनोपाय के अन्तर्गत मन्त्रतन्त्रादि की ब्रह्म ने स्वयं कल्पना किया है। ब्रह्म की रूपादि एवं मंत्रादि जीव कल्पना अनृत कल्पना नहीं है। यह साक्षात् ब्रह्मवस्तु की "आत्मामधिकृत्य" (अध्यात्म अथवा स्वभाव) कल्पना है। अत: वह सत्य कल्पना है। जीव के द्वारा रूप मंत्र आदि साधना का लक्ष्य है कि किसी प्रकार से मायिक अनृत कल्पना को ऋताभिमुखी करते हुये, उसे ब्रह्म की सत्य-कल्पना के समाश्रित कर सके। श्री गुरु शक्ति इस श्रेय समाश्रय का अपरिहार्य उपाय है। 'ऋतंञ्च सत्यञ्च' की प्रतिष्ठा के साथ-साथ निर्विकल्प भाव अधिगत हो जाता

है। अतः कल्पना को केवलमात्र विसंवादिनी कुहकिनी नहीं मानों। कल्पना कल्प-वल्लरी का जैसे आश्रय लोगे, वह उसी प्रकार से तुम्हारे अभीष्टों का पूरण करेगी। कल्पना से यह प्रश्न करना—क्या तुम अनृत, असत्य, तमस के पार अप्राकृत नित्य-धाम में मुझे ले जाओगी ?

गायत्री जप में ऋत्यादि कल्पना उदाहृत

इसके पश्चात् गायत्री जपध्यान में इसके प्रयोग का चिन्तन करो—

त्रैधं क्लृप्तं प्रथमत ऋतं ब्रह्मणा भूर्भुवः स्वः
सत्यं क्लृप्तं सवितुरिति सत् तत्पुरश्चौ वरेण्यम् ।
भर्गं क्लृप्तं दिविविलसतो धीमहीति प्रधाम्ना (प्रसादात्)
ह्यभ्यारोहो धिय इति च नो येन क्लृप्तः प्रचोद्याः ।।९०।।

ब्रह्मा ने प्रथमतः ऋतं की त्रिभाव (त्रैधं) में कल्पना किया। उसकी आकृति है भूर्भुवः स्वः। तत्पश्चात् 'तत्सवितुर्वरेण्यं' द्वारा अपने (तत्व और सत्व) स्वरूप की कल्पना किया। इसमें 'सवितुः' रूपी वाक् से सत् रूपी सार का दोहन करो। 'तत्' से पूर्व (अग्रे—पुरः) और उससे भी पूर्व ॐ को ग्रहण करो। अब हुआ 'ॐ तत्सत्' (ब्रह्मणस्त्रिविधः निर्देशः स्मृतः)। तदनन्तर भर्गः (अनादि अविद्या संस्कार बीज को भर्जन करने वाला ब्रह्मण्य तेजः) क्लृप्त होते हैं। किस प्रकार से ? 'धीमहि' इस (जप) व्याहरण एवं अनुध्यान के द्वारा। किसका तेज और कैसा तेज ? 'दिवि-विलसतः' देवताओं का तेज। भर्गं कैसा है ? ब्रह्मा के प्राधान्य से कल्पित। अर्थात् गायत्री शिरस में जिस 'आपोज्योतिरसोऽमृत' का कीर्त्तन हुआ है, उसे ही 'धीमहि' जानना होगा। उससे क्या होगा ? अभ्यारोह, अथवा अनृत के स्थान पर ऋतादि अभिसम्पदा की ओर गमन होगा। "धियोयोनः प्रचोदयात्" इस चरम पाद द्वारा अभ्यारोह का निश्चय होता है (हि) और अभिसम्पत्ति की सूचना मिलती है।

प्रणवजप में आधारभूता मात्रा का ध्यान

प्रणव जापक इस बार ध्यान करो—

ओंकारस्य प्रथमतपसो ब्रह्मणोऽदित्यभीद्धा
दावीरूपादृतमुदयकृद् व्याकरोतीह्यवर्णः ।
सम्पद्येत स्वरसम्भित श्चान्तिमस्पर्शवर्णा
निष्पद्येतोत्थितस्मपि परं ज्योतिरद्धविकाशात् ।। ९१ ।।

ॐ कार जप के समय कभी यह भावना आ जाती है कि तुम एक मामूली कर्म कर रहे हो। उस समय तुम तो स्वयम्भू के समान स्वयं स्रष्टा हो। तुमने प्राण तथा वाक् प्रयत्न के द्वारा जिस अवर्ण (अदिति) का प्रथम उच्चारण किया, वह अवर्ण ही निखिल सृष्टि के आदि में ब्रह्म का अभीद्धतपः (सृष्टिसूक्तोक्त) है।

तुम्हारे प्राणवांङ्गमय तप का आदिम रूप अमात्रा ही है, इसे स्मरण रखना। 'असदेवेदमग्र आसीत्' तुम्हारा स्वरूप 'असत् (तमः एवं मृत्युरूप से) है। इसे साक्षात् ज्योति और रस रूप के साथ मिलाना ही होगा। तुम प्रणव की सहायता लेकर उस वरीयसी सृष्टि में प्रवृत्त हो जाओ। इसके लिये विशेषतः माध्यमिक मात्रा उ कार का आश्रय लो। यह उवर्ण ही अनादि तमोभूता रात्रि का निरसन करते हुए आविरूपता (सत्स्वरूपाभिमुखीनता) को लायेगा और पर-प्रत्यन्मुख उदय का हेतु होकर (उदयकृत्) परम प्रकाश के लिये आवश्यक ऋतच्छन्दः हमारी अनुभूति में (इह) उसका व्याकरण करेगा (व्याकरोति)। (पुनः सृष्टि सूक्त का प्रणिधान करो)। जैसे उकार की क्रिया ऋतच्छन्दः में चल रही है। इस बार अन्तिम स्पर्शवर्ण 'म' कार भी आया। इसने क्या किया? स्वरूप में जो रसवस्तु रहती है, हमें उसके समीप ले गया। (अभितः)। फलस्वरूप हम अपने स्वरूपगत आनन्द से अभिसम्पन्न हुये। समर्थ ऋतुछन्द में अ, उ, म जप में सुषुप्ति के साथ तुलनीय यह स्वरस स्वरूप अभिसम्पन्न भाव अवश्यमेव घटित होता है। यह वस्तुतः योगनिद्रा है। यह योगनिद्रारूपी अर्धमात्रा में हमें उपनीत कर देती है। नाद श्रवण से लेकर बिन्दु विलय पर्यन्त, पुनश्च बिन्दु से नाद पर्यन्त इसकी भूमिका विस्तारित (ऋध्यमाना) होती रहती है। मकार के उर्ध्व में जिस अर्ध-मात्रा की स्थिति है, उसे (उक्त योगनिद्रा को) प्रसन्न कर लेने पर केवल आवृत (not only veiled Ananda) निद्रा से ही नहीं, प्रत्युत् सुखघन निद्रा से उत्थित परंज्योति अथवा ज्योतिरस भी निष्पन्न हो जाता है। अर्धमात्रा का जो अवकाश (नाद-बिन्दु-कला) है, उससे उत्थित होकर परज्योति की निष्पत्ति में स्थित होना चाहिये। श्रुति ने इसी उत्थान का वर्णन किया है। इस परमास्थिति में तुम्हारे सृष्टि तथा लय का पूर्ण अवसान हो जाता है।

बाधाविघ्नसंकुल निशित क्षुरधार के समान साधन मार्ग में तुम्हारे दो संम्वल है। वे हैं गुरुरूप में 'उनकी कृपा तथा उनके द्वारा प्रदत्त महानाम। इस प्रसंग में इन कारिकाओं का पाठ करो :—

तमः कन्दरेषु कः सदा तमोनून् (कश्चिरं)
मरौ बालुकासु वारिवृट् प्रकामम्।
सरोऽधीश्वरः कोऽपि घोरेषु दावे
द्रुते त्वां महोर्म्मिमत्सु पोतनाथः ॥९२॥
गिरौ गह्वरे न रौति यामघोषो
यदा सानुकम्पकारि सिंहनादः।
धमोङ्कार शङ्ख मिष्ठदेवदत्त
ह्यु दात्तं यतो न यातुधान शब्दाः ॥९३॥ (विधूय यातुधान शब्दान्)

तमसाच्छन्न कंदरा में सदा (उदयास्तहीन रूप से) तम हरने वाला (तमोनुत्) कौन भास्कररूपेण विराजमान है ? मरुभूमि की तप्त बालुकाराशि में अजस्त्र कामवर्षी मेघ का शुभोदय होगा, इसे कौन जानता है ? क्या यह स्मरण नहीं करोगे कि घोर दावानल से भीत होने पर अभय देते हुये अमृत सरोवर के अधीश्वर तुम्हें पथ प्रदर्शित करेंगे ? अतः यह कहता हूँ कि यह जो महोर्मिमान दुस्तर वारिधि है, इससे सुखपूर्वक पार कराने के लिये उनके अतिरिक्त (ऋते त्वां) और कौन पोत नाथ (जहाज का स्वामी) समर्थ है। उनके अतिरिक्त मेरा है कौन ? भयसमूह को तामस, राजस, तनुविशाल भी कहा जा सकता है। अन्धकार के भय के कारण गह्वर त्यागते हुये मैदान में आया, परन्तु यहाँ भी तो रेगिस्तान की ही तप्त बालुकाराशि है। अन्ध आचार त्यागकर शुद्ध विचार में आने पर क्या मिला ? आचार में प्रकाश और विचार में रस की आवश्यकता जो है।

तदनन्तर दाह के भय से जलाशय में कूदो, परन्तु यदि जलाशय तुमको अपने महोर्मिपाश में कवलित कर लेता है, तब क्या उपाय है ? मानो जलाशय अर्थात् कोई गाढ़भाव। उसमें उच्छ्वासादि है। यदि तुम केवल विह्वलता के नशे में डूब जाते हो, उस स्थिति में "भावातीतं" त्रिगुण रहितं" परमोज्ज्वल रसवस्तु से मिलन कैसे घटित होगा ? तुम्हारा भाव तो महाभावाश्रित नहीं होगा ! इसका उपाय वे ही करेंगे।

वे हैं। उनका नाम भी है। कौन बड़ा और कौन छोटा, यह नहीं जानता। विचार करो जब वनराज गिरिपर्वत को प्रकम्पित करते हुये सिंहनाद करता है, तब क्या शृगाल अपने गह्वर से 'हुआ-हुआ' कर सकेगा ? स्वयं श्री गुरु (इष्टदेव) अहैतुक करुणा के वशीभूत होकर जिस ओंकारादि महाशंखनाद को सुना देते हैं, उसका वादन करो (धम)। इस प्रकार उदात्त स्वर में वादन करो (अर्थात् अभीक्ष्ण तपसा), जिससे राक्षस निशाचर का अमंगल स्वर तनिक भी संभव न हो सके।

[पूर्व कारिका की तरह इस कारिका के भावरहस्य का अवगाहन करो। एक विशेष संवादिनी अर्थ कल्पना है गिरी = यह देह। गह्वर = नासा गह्वर, मुख गह्वर आदि। वामघोष = वृथा श्वास वाक्य का प्रयोग, प्राकृत् संस्कार के द्वारा बाध्य, अतः 'याम। गिरिसानु = सौषुम्न मार्ग। कम्पकारी सिंहनाद = कुण्डलिनी जागृति सम्बन्धिनी महामंत्रात्मिका शक्ति। उदात्त = उ कारादि वाराही शक्ति की सहायता से उर्ध्वोख्याति से समुत्तोलित। यातुधान = वक्र, विषम, वैरूप्य-वैगुण्यजनक शब्द (छन्दः) समूह अर्थात् अरिच्छन्दः]

वाचादि को कैसे अग्र्या करना होगा ?

अग्र्या गिरः सति जपे स्वसपत्नवर्जं
चाग्र्यं मनः सति रसे वरवैरवर्जनम् ।
प्राणास्तथा सति जवेऽसुरवेगवर्ज्जं
बुद्धिस्तथा सति पथीतर लक्ष्यवर्ज्जम् ॥९४॥

(सति नयेऽपरपोषवर्ज्जम्)

तुम्हारे जप-स्तोत्रादि वाक्यसमूह (गिरः) का अग्रजा (उत्तम) होने पर क्या फल होगा ? तुम उत्तमा भूमि की प्राप्ति ऐसे ही वाक्यों के द्वारा प्राप्त कर सकोगे जो स्व छन्दों तथा भावों का विरोधी (अरि, सपत्न) नहीं है । अन्यथा यह अग्रजा, उत्तमा भूमि की प्राप्ति असंभव है (स्वसपत्नवर्ज्जं) । मन कैसे अग्र्या होगा ? ऐसे रस द्वारा होगा जो वरणीय तथा श्रेष्ठ से वैमुख्य (वैर) नहीं है । रस = श्रद्धा— अभिनिवेश, रति । प्राण अग्र्य होता है ऐसे वेग के द्वारा जो सुरद्वेषी नहीं है । (सुर-द्वेषी = असुर, Brute, Lower Vital) । श्रुतिसिद्धा अग्र्या बुद्धि का तभी उदय होगा, जब बुद्धि की नीति अथवा समाश्रित पथ ऐसा होगा जिसके द्वारा परम प्राप्ति के उपाय का पोषण हो सके, जिसमें परम लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी लक्ष्य का पोषण ही न हो । (अपरपोषवर्ज्जं अथवा इतरलक्ष्यवर्जं) । अतएव ऐसे पथ और नीति का सर्वतोभावेन आश्रय लेना चाहिये जिसमें परमलक्ष्य के अतिरिक्त अन्य लक्ष्य है ही नहीं । जैसे शब्द के दृष्टिकोण द्वारा 'अ उ म' है पर तथा 'अ व म' है अपर । इस दूसरे उदाहरण में अ तथा म दोनों ओर स्थित हैं । मध्य में 'व' संकुचित है । प्रथम मे अ तथा म का पार्श्वगत दबाव अपनीयमान है, क्योंकि मध्य में स्थित 'उ' प्रसारित रूप वाला और ऋध्यमानताधर्मी है ।

सुभद्रदशकम्

भजनसुभद्रझरीपरिसेवनशीतलविमल मनांसि ।
न जहति जलधिसुतापति-पङ्कजपेलवपादरजांसि ॥
गिरीशनिवास-सुषमासितसुन्दरमानससरसि पयांसि ।
अपि दधतु रमाधवचरण-लुण्ठित-परिमलभाञ्जि यशांसि ॥

दुस्तर वारिधिवक्षसि तरितुं
दुर्गम गहनवने सुखमटितुम् ।
प्रविष्ठभुजङ्गगृहेऽपि शयितुं

(भुजंगसमाकुलगृहेऽपि शयितुं)

तरणी सरणी दया दीपनी ॥
निर्वात - वातायन-हीनकक्षे
गुरुर्घूर्णिवाताहत — वेदिवृक्षे ।
प्रमत्त - वाताब्धितरङ्गताण्डवे
प्राणानिलो विषकूपे च दावे ॥

खद्योततनुच्छटैव चटुलं
वाताहतलघुवारिदचपलम् ।
न हरति चेत ऋते तच्छरणं
ध्रुवस्य छायापथस्य गर्वम् ॥

मरूभूमि को हृदि तृषाविदीर्णे
न पिवेदुपवन निर्झरवारि ।
चेतसि सति विषदहनविशीर्णे
भजेन्नवाऽ मृतमामयहारि ॥

नभसि यदि चपललघुमेघात्
पतति पृषदेक मतिलोलम् ।
तदपि खलु तृषित खग मृग्य-
मपि जलधिवारि किमगाधम् ॥

यदि मृदि सरसायाँ यत्नत: सेवितापि
नवरुचितुलसीयं मञ्जरीषु म्रियेत ।
कुरु ननु परितापं सन्ति बीजानि तत्र
वत मृदि विरसायां मञ्जरी मञ्जु शोभा ॥

सपदि विरमतूर्मिश्रेणिभङ्गोऽर्णवस्य
प्रहतजलधिवेला स्वापमेतु प्रशान्ता ।
गदतु चिरमपेक्ष्याशंङ्कमानो वगाहे
स्वपितु सपदि चेतो मा गदीः सन्ततोर्म्मि ॥

ध्याने नयनं प्रेमणि शरणं
कर्मणि निष्ठा विरतौ शमनम् ।
भजने भाव: शमथो मनने
पूर्णमपूर्णं सर्वं जपने ॥९५—१०३॥

निष्ठापूर्वक भजन रूपी सुमंगलनिर्झर की सेवा करने से मन शीतल तथा विमल हो जाता है। वह मन जलधिसुतापति (कमलापति श्री हरि) के चरणों की रजः को छोड कर अन्यत्र कहीं भी नहीं जा पाता। (अतएव भजन सुमद्रझरी की सर्वतोभावेन सेवा करो।) गिरीश निवास कैलाश की शुभ्रोज्वला सुषमा से प्रतिच्छवित हो कर मानसरोवर का वारिवक्ष भी शुभ्र सुन्दर हो जाता है, परन्तु वह सितसुन्दर वारिवक्ष भी रमापति के चरणसरोज द्वारा लुण्ठित परिमल का भजन करने का जो यश है, उस यश के द्वारा मण्डित हो। अर्थात् तुम्हारा मानससर ज्ञानालोक तथा प्रेम के परिमल द्वारा मण्डित होकर धन्य तथा पूर्ण हो। 'दया' ही दुस्तर सागर के पार उतारने वाली नौका, दुर्गम गहन वन में सुखपूर्वक चलने लायक सरनी (गली, वन वीथि) है। दया ही भुजंग समाकुल (सर्पो से भरे) घर में भी शयन करने में सहायक अनिर्वाण दीप (दीपनी) है।

यद्यपि गृह में रहता हूँ, तथापि यदि वह गृह वायुहीन और वातायन हीन है तब ? अच्छा तब गृह के बाहर, साधन वेदी पर वृक्ष के नीचे समासीन होकर साधनरत हूँ, किन्तु यदि वह वृक्ष भी घनघोर आंधी के कारण जोरों से हिल रहा हो; तब ? इस पार कार्य के लिए अनुकूलत, सुराहा की स्थिति नहीं है, तब क्या पारावार के पार जाऊँ ? यह सोचकर सागर में कूदना चाहा कि प्रमत्त प्रभञ्जन जनित उत्तोलित ताण्डव कर रही तरंगों में पड़ जाऊँगा, तब ? और यदि भाग्यदोष से विषवाष्पकूप में अथवा दावाग्नि की ज्वाला के कराल धूम्रजाल में फंस जाऊँ तब ? इन सभी संकटों में वे तुम्हारे परम प्राण के रूप में स्थित हैं। इन संकट पंचक में भी पड़कर उन्हें भूलना नहीं ?

यद्यपि कभी—कभी कदाचित् एकाध आलोक किरण का स्फुरण अवश्य होता है, तथापि वह आलोक जुगनू (खद्योत) की तनुच्छटा के समान चटुल है ! और जब अवसन्न मन चलना आरम्भ करता है, तब वह कैसा होता है ? वह होता है वायु ताड़ित आकाश के लघु मेघ के समान। यह तो नितान्त चटुल चपल मन का रूप है।

अतएव उनकी शरण लिये बिना, आकाश में जो ध्रुवतारा है, इस छायापथ की जो आंचलिक द्युति और प्रशान्त महिमा है, उनका गर्व हरण कैसे हो सकेगा ? उनकी शरण लेने पर यह अघटन भी घटित होने लगता है।

कौन व्यक्ति निदारुण तृष्णाग्रस्त हो जाने की स्थिति में निकटवर्त्ती मरुद्यान का संधान (किसी के मुख से पाकर) मिलने पर वहाँ नहीं जाना चाहेगा और वहां की निर्झर जलराशि का प्राण भरके पान नहीं करेगा ? यदि चित्त विशेष दहन से निरन्तर विशीर्ण हो रहा है, तब ऐसा कौन है जो समस्त आयासों का हरण करने वाले अमृत का सेवन करने के लिये समुत्सुक नहीं होगा ?

यदि आकाश के एक खण्ड लघुमेघ से एक विन्दु भी जल बरस जाये. तब तो वही तृषित चालक के लिये परम काम्य है। प्रार्थित है। जलधि में अगाध जलराशि एकत्रित है, परन्तु उस ओर कभी भी पिपासु चातक नहीं दौड़ता ! आकाश का एक विन्दु जल है एक मुहर्त्तव्यापी श्री गुरु का करुणा कटाक्ष ! जलधि अर्थात् सर्वतो-व्यापी ब्रह्मसत्ता अथवा अनन्त ज्ञान विज्ञान ! इस वारिधि और वारिद का सम्बन्ध पूर्वकथित एक कारिका में अंकित किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में विविध दृष्टि-कोणों से विचार करो !

यदि तुम्हारी सरस मृत्तिका में सयत्न सेवित नवीनकान्ति तुलसी की कोई-कोई मंजरी शुष्क हो जाती हैं, उसके लिये परिताप न करो। मंजरी सूखी अवश्य है, परन्तु उसके बीज तो तुम्हारी ही सरस भूमि में छिटके पड़े हैं। वे सब शीघ्र ही तुलसी कानन बनायेंगे। यदि तुम्हारी मृत्तिका सूख कर विरस हो जाती है, तब हाय ! तुम्हारे तुलसी मंच की मंजरियों की शोभा मात्र दो दिन का ही है !

उद्वेलित सिन्धु के तट पर एक व्यक्ति यह अपेक्षा कर रहा है कि इस बार तट पर सिन्धु की तरंगें शीघ्र ही निवृत्त होगी ! तरंगाघात से निरन्तर प्रहृत्य वेला-भूमि इस बार अवश्य प्रशान्त होगी, उस समय मैं स्वच्छन्दता से शान्त समुद्र में कूद कर मणिमुक्ताओं का आहरण करूँगा ! कोई उद्वेलितसागर में अवगाहन करने से भयभीत होकर चिर अपेक्षा करते हुए यह भले ही कहता रहे, परन्तु तुम यह बात कभी न कहना कि स्वप्न जागरण में निरन्तर तरंगायित (सन्ततोर्मि) मन इस बार शान्त हो जाये, तब मैं इस मन में सुखपूर्वक अवगाहन करूँगा ! (मा गवीः)

ध्यान द्वारा दृष्टि का उन्मेष होता है। प्रेम से शरणागति का, कर्म से निष्ठा का, विरति अथवा कामना निवृत्ति के द्वारा भजन भाव का उन्मेष होता है और मनन-विचार के द्वारा तत्वान्वेषिणी बुद्धि स्फुरित हो जाती है। परन्तु वह कैसे पूर्ण हो, जो कि समस्त साधनों के द्वारा भी पूर्ण नहीं होता ! अतः समस्त अपूर्णता के परिपूरक जपः को कभी भी नहीं छोड़ना। जप संख्या पूर्ण करना केवल वाह्यकर्म नहीं है। यह है समस्त अपूर्ण को पूर्ण करने का प्रयास, क्रम एवं उपाय। जप्य महानाम की कृपा ही अघटन को घटित कराने वाली पूरणी शक्ति है।

चतुर्थ अध्याय

अभीद्धम् तथा तपः सूत्र में

'आभिमुख्ये चाभाद्धत्वम्'

नैर्लक्ष्यं चापि वैलक्ष्यं चोपलक्ष्यं ततः परम् ।
विहाय चापलक्ष्यञ्च संलक्ष्ये धीरवृत्तिता ॥

न्यासेन मुञ्चनैर्लक्ष्यं चापेतं प्राणकर्मणा ।
भूतशुद्धया च वैलक्ष्यं चोपलक्ष्यं गुरुं श्रयात् ॥

आद्यामात्रा हि नैर्लक्ष्यं वैलक्ष्यं मध्यमा जयेत् ।
तृतीया चार्द्धमात्राहि द्वेऽपरे जयतस्ततः ।
इति प्रणवमाश्रित्य संलक्ष्यस्थितिमिच्छते ॥

चतुर्णां प्रतिषेधार्थ मभ्यासञ्च विचारणाम् ।
बुद्धियोगञ्च भावञ्च ह्याश्रयत यथाक्रमम् ॥

मणिसरोज विलाससमुत्सुको
ऽसि वृणोषि विषादमितस्ततः ।
विषवितानशुचो न सुधाकरो
ऽवति भुजङ्गभियोऽपि सरोरुहम् ॥

जहत् कर्मोपात्तं फलमुपरि किञ्चान्तरतृषो
जहत् तृष्णामूर्व्वी महमिति तनुग्रन्थिमजहं ।
न जह्यास्ते ज्योतिरस मिथुनयोगे जपहुतं
यतो धर्म्माः कर्माण्यखिलमियुरिष्ठैकशरणम् ॥

तेजस स्तथात्वे तपस्त्वम्

तपसा चीयते ब्रह्म ब्रह्म खल्विदमञ्जसा ।
ब्रह्मणोऽनु प्रवेशाद्धि सर्वतोऽस्ति तपोध्रुवम् ॥

ख्यातयोर्भूर्भुवः पूर्वाः सप्त सर्वेषु निष्ठिताः ।
तद् व्याप्य वृत्तिमत्वेऽपि न सर्वं व्यवत वृत्तिमत् ॥

अग्निस्तेजः पुनश्चार्च्चिर्वर्च्चश्चोर्जो यथान्वयम् ।
ओजश्च भर्ग इत्येवं भूरादौ तपसो गतिः ।
एकस्मिन्नेक मुख्यत्वेऽ परेषां गुणता स्थिता ॥

प्रति मखेषु जुहोषि हुताशनं
प्रति जपेषु जुहोषि परां गिरम् ।
प्रति भवेषु जुहोषि भवोद्भव
मिति करोषि तदेव परं तपः ।।

गीतादिषु तपस्त्रैधं श्रौतं ज्ञानमयादिकम् ।
महाव्याहृतिभिः सर्वं संगृह्यते हि मूलतः ।।

प्रणवादिषु बीजेषु भूर्भुवसुवरोमिति
त्रयी हि शिरसा क्लृप्ता तस्माज्जपः परं तपः ।।

जपन् मंत्रं वाढ़ं मनसि यदि तुच्छं निजकृतं
श्रयन् न्यासं ध्यानं हवनमपि चेन्नैषि शरणम् ।
स्तवन् स्त्रोत्रं हृद्यं हृदि विगुणतां चेदुपगतः
स्मर ज्ञानप्रेमाग्नि यजनपरं द्व्यक्षरजपम्

मंत्रं भूरिति सन्धेयं भुवश्च दैक्ष चोदना ।
स्वरितिष्ठ समापत्तिर्येनात्मा सम्प्रसीदति ।
तेजस्त्रैधं तपस्त्रैधं यो वेद वेद सोऽखिलम् ।।

उपर अंकित सूत्रद्वय एवं कारिकाओं का अनुवाद अभिमुखीन होने से अभीद्ध होता है (Leaping And Aspiring Flame)

नैर्लक्ष्य, वैलक्ष्य, उपलक्ष्य तथा अपलक्ष्य का परिहार करते हुए संलक्ष्य में धीरवृत्तिता आवश्यक एवं प्रयोजनीय है। (इस प्रकार होने पर ज्ञात होगा कि तुम्हारे उद्देश्य के लिए जो छन्द उपकारक है, अभिमुखीन है, वह अभीद्ध हो गया है।) जपादि साधना में अंगन्यास आदि के द्वारा नैर्लक्ष्य का परिहार होता है। भूत-शुद्धि के द्वारा वैलक्ष्य का, प्राणायाम के द्वारा अपलक्ष्य का (अपेतं) और ध्यानयोग तथा गुरु की शरण लेने से उपलक्ष्य का परिहार हो जाता है।

प्रणव की आदिमात्रा (अकार) का व्याहरण करने से नैर्लक्ष्य दूरीभूत होता है, अर्थात् लक्ष्याभिमुखीनता का अनुक्रम प्राप्त हो जाता है। मध्यमात्रा 'उ' द्वारा वैलक्ष्य (विरुद्ध एवं व्यर्थलक्ष्य) का निरसन हो जाने के कारण अभिमुखीनता ऋजुगामिनी तथा सतेज हो जाती है। तृतीया 'म' मात्रा के द्वारा अपलक्ष्य (अप-कृष्ठ हीन लक्ष्य) पराभूत हो जाता है और अर्धमात्रा उपलक्ष्य को विजित कर लेती है। (जयतस्तनः)। अतएव प्रणवादिबीज और महानाम का आश्रय लेकर संलक्ष्य में स्थिति प्राप्त करने की इच्छा करो (इच्छत)। सहकारी उपाय रूप से इन चारों

का (नैर्लक्ष्य आदि का) प्रतिबन्ध करने के लिए यथाक्रम से अर्थात् नैर्लक्ष्य के लिये अभ्यास योग का, वैलक्ष्य के लिये विचारणा का, अपलक्ष्य के लिये बुद्धियोग का (बुद्धौ शरणमन्विच्छ) और उललक्ष्य के लिये भाव (भक्तियोग-मामेकं शरणं व्रज) का यथासाध्य समाश्रय लेना चाहिये।

तुम तो (सहस्त्रार की कणिका इत्यादि ध्यान वस्तु में) मणिसरोज (मणि-पद्म) में विलास (चिचरण) के लिये समुत्सुक हो, अर्थात् वही तो तुम्हारा संलक्ष्य है, तथापि यदि यही है तब इधर-उधर क्यों भटक रहे हो ? (अटसि इतःस्ततः)। लक्ष्यहीन के समान क्यों घूम रहे हो ? यही नहीं, तुम केवल उसी का वरण क्यों कर रहे हो, जिससे आत्मा का सम्प्रसाद न होकर निश्चितरूपेण विषाद ही होगा ? (वृणोषि विषादं)। यही तो वैलक्षण्य है। तदनन्तर देखो, तुम यह सोच रहे हो कि सुधांशु की स्निग्धकिरणों से तुम्हारा अंग सन्ताप कम होगा। शीतलता प्राप्त होगी, तथापि तुम (पूर्व संस्कार कल्पित) विषवितान (विषविकिरणकारी) विष चन्द्रातप छोड़कर आजतक बाहर नहीं आ सके।

अतः स्वयं सुधाकर भी तुम्हारी रक्षा इस विषचन्द्रातप रूपी दुःख (शुचः) से कैसे करेंगे (न अवति) यही है अपलक्ष्य। अन्त में देखो, कोई पुरुष सरोवर में प्रस्फुटित एक कमल को दिखलाकर कहते हैं कि इस कमल के मृणालमूल में इस प्रकार की ऐसी एक निधि है, जिसे प्राप्त करके सर्वभूत समूह से अभी स्थिति (भयहीन) : हो जाती है। तुमने यह सुनकर पद्म लेने के लिये सरोवर में उतरना प्रारम्भ किया। वहाँ एक कृष्णसर्प था, उसने तुम्हे भय दिखलाया। यदि तुमने पद्ममृणाल मूल में स्थित मणि को धारण न करके केवलमात्र पद्म को ही धारण किया, उस स्थिति में क्या यह उद्यत कृष्णसर्प तुमको छोड़ देगा ? यह एक समीपवर्ती दृष्टांत है जिससे उपलक्ष्य का स्वरूपज्ञान हो जाता है। (न अवति भुजंगमियोऽपि सरोरुहम्)।

अब पुनः विचार करके देखो। इष्ट के एकान्ताभिमुखस्वरूप जो संलक्ष्य है, उसमें न जाने कितने साधनों द्वारा स्थिति को प्राप्त करना होगा। कर्म के द्वारा प्राप्त जो फल है (कर्मफल) तुमने तो उसका (उपरि, बाह्यतः) त्याग तो किया है (जहत्) तथापि वह तुम्हारे अन्तःपुर में (अन्तरतम में) रह ही गया है। यद्यपि तुम उरूरूपा (उर्व्वी) तृष्णा का त्याग करने में सफल हो सके हो, तथापि सूक्ष्म (तनु) रूप, बीजभूत "मैं" रूपी मूलग्रन्थि को छोड़ने में समर्थ नहीं हुये हो (अजहृत)।

अच्छा, चलो, यह तनुग्रंथि तो आसानी से जाने वाली नहीं है। (इस ग्रंथि को लेकर अधिक परेशान न हो)। इसे न छोड़ सकने पर भी श्रीगुरु ने तुमको ज्योतिः तथा रस के मिथुनयोग (मिश्रण) का सन्धान दिया है। उसके द्वारा निष्ठा-पूर्वक जपयज्ञ को चलाते रहो (न जह्याः)। इसी एक उपाय का अवलम्बन लेकर

तुम्हारे धर्म कर्म आदि का अखिलरूप भी (क्रियाकारक फल सम्भार के साथ) इष्टशरणागति में समापन प्राप्त करे (इयुः)। अतएव इस प्रकार का संलक्ष्यसाधन और क्या है ? (इसे छोड़ रहा हूँ, किन्तु उसे छोड़ नहीं पा रहा हूँ, यह सोचकर नैर्लक्ष्य आदि से विमूढ़ मत बनो)

यदि तेजः अभीद्ध हो जाता है, तब वह तप है।
(Power as directed to and realizing an End)

'तपसाचीयते ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्' तप के द्वारा मानों ब्रह्मवस्तु उच्छ्वसित हुई, उसने स्वयं का व्याहरण तथा चयन किया। यह समस्त ब्रह्म ही है। अन्य कुछ भी नहीं है। ब्रह्म ने जो कुछ सृष्टि किया है, उसमें ही वे अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। इन सब का मर्म जानने के लिये न जाने कितनी चेष्टा की गई है और भी की जायेगी। फिर भी इन सूत्रत्रय के द्वारा यह निर्गमन होता है कि सृष्टि के समस्त अवयवों में ब्रह्म ही तपःरूप से रहते हैं।

अर्थात् तपः विश्वानुस्यूत सत्य है, Immanent Cosmic principle है। एक प्रकार से तपःरूपेण ब्रह्म सर्वग है। अन्य प्रकार से भूर्भुवः आदि सप्त ख्याति के रूप में भी वे सर्वत्र निष्ठित हैं। निगूढ़रूपेण तथा निश्चितरूपेण स्थित हैं। (यहां तक कि एक बीज अथवा धूलिकण में भी ये सातों निगूढ़ नियामक रूप से विद्यमान रहते हैं।) इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इसी सप्तक के द्वारा व्याप्य होकर (अन्तर्बहि विश्व में) सब कुछ वृत्तिमत् होता रहता है। (तद्व्याप्य वृत्तिमत्तेपि)। फिर भी समस्त व्यवहार जगत में सब कुछ में इस सप्तक को व्यक्त, प्रकट अवस्था में स्थित नहीं देखा जा सकता। (न सर्वं व्यक्तवृत्तिमत्) जैसे सूर्यरश्मि में सप्तवर्ण (रंग) स्थित रहते हैं, उसी प्रकार तपः एवं व्याहृति, दोनों ही सर्वत्रग हैं। अतः भूरादि प्रत्येक ब्याहृति में तपः का एक न एक रूप विद्यमान रहता है। जैसे भूः में अग्नि, भुवः में तेजः, स्व में अर्चिच, महः में वर्च्चः, जन में उर्ज्जः, तपः में ओजः और सत्य में भर्गः।

एक विशेष सूत्र का आश्रय लेकर ही यह विशेष-विशेष निर्देश होता रहता है। वह सूत्र विवेचना में परिस्फुट होगा। अभी यहां यही लक्ष्य करना है कि अग्नि प्रभृति परस्परतः व्यावर्त्तक नहीं हैं। एक-एक ख्याति में एक-मुख्य है, लेकिन गौण भाव से प्रत्येक ही अलग एवं अन्यत्र रहता है।

अब देखो, द्रव्ययज्ञादि विविध यज्ञों में भौमाग्नि से आरंभ करके अपरापर उर्ध्वभूमिक हुताशन में (गायत्री में साक्षात् भर्ग ही तुम्हारे हुताशन हैं) हवन करते हैं (जुहोषि)। क्या यह जानते हो कि जप काल में किस अग्नि के उद्देश्य से हवन किया जाता है ? वह अग्नि है "तनुनपात"। उस अग्नि का शाश्वती तनु है

साक्षात् परावाक् (प्रति परां गिरम्)। यह बोलो जन्म-जन्म में और लोक-लोक में किसके उद्देश्य से जीवन का हवन करते हुये जाते हैं ? वेद की यह चिरन्तनी जिज्ञासा है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। वह कौन सा देवता है? वह देवता है 'भवोद्भव'। 'यत इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि जिससे समस्त भूतसमूह की उत्पत्ति होती है।

समस्त सृष्टि स्थितिनिलय के मूल में वह परम रहस्यमय आवेग विद्यमान है, उसे 'आनन्द भी कहा जा सकता है। श्रुतिप्रसिद्ध पंचाग्नि का मूल भी वहीं है। अच्छा ! यह सब करके कौन सा वास्तविक कर्म करते हो, बोलो ? परं तपः ब्रह्म के तपः से उत्पन्न अणु-महान् रूप सब कुछ को (इसी आदिम ब्रह्म के ही तपः द्वारा प्रसृत विभिन्न रूप मानते हुये) लेकर परोक्ष परम में पुनर्मिलन के लिये किया जा रहा जो अपना तपः है, वह ऋजु कुटिल नाना छन्दों के रूप में चलता रहता है। उसमें कब ऋतछन्दः-मधुच्छन्दः मिल जायेगा, इसका सन्धान कौन देगा ? उसका संधान प्राप्त करने के लिये तपस् के साथ मेधस् को मिलाना होगा। अर्थात् तपस् के व्याहृतिसप्तक की चरमभूमि में जो सत्यं है, वहां तक परिस्फुट करना होगा। उसे "भर्गो देवस्य धीमहि" के रूप में अभिव्यक्त करना होगा।

गीता में जिस कायिक-वाचिक आदि तप का उल्लेख किया गया है, श्रुति में "तस्य ज्ञानमयं तपः" इत्यादि जिन स्थितियों का उल्लेख किया गया है, वे सभी "भूर्भुवस्वः" महाव्याहृतित्रय के द्वारा समासतः संगृहीत हो जाती हैं। अर्थात् तपस् की मूल आकृति है 'भूर्भुवस्वः'।

गायत्री शिरः में उक्त है 'भूर्भुवः सुवरोम्'। अतः ओंकार तथा अन्य बीज-मंत्रों में उक्त त्रयी (व्याहृतित्रय तथा ऋक् यजुः, साम) कल्पित हो जाती है। अतएव प्रणवादि जप ही परंतपः हैं।

पुनश्च, मंत्र को 'भू' रूप से जानो। श्रीगुरु मंत्र में जिस शक्ति का संचार करते हैं, वह दीक्षादान के समय में भुवः है। इष्ट में जो अनन्त ज्योतिरस विद्यमान है, उसका धारारूप में, अविच्छेद रूप में दोहन (इष्ट समापत्ति) ही 'स्व' है। अतः यदि दृढ़भाव से मंत्रजप करने पर भी यह उपलब्धि (मनसि) हो कि हमरे कर्म (निजकृतं) से कोई भी कार्य नहीं हो रहा है (तुच्छं), यदि न्यास, ध्यान होमादि का आश्रय (श्रयन्) करने पर भी यह प्रतीत होता हो कि मुझे शरण नहीं मिली (न एषिशरणम्), यदि हृदयानुकूल (हृद्यं) स्त्रोत्र गायन करने पर भी (स्तुवन्) यह ज्ञात हो कि मेरे हृदय की विगुणता तो नहीं जा रही है (विगुणतां चेदुपगतः), उस स्थिति में हे भावविधुर जपसाधक ! यह स्मरण करो कि मानो 'जप' रूपी अक्षरद्वय तुम्हे पुकारते हुये कह रहे हैं "तुम समस्त कर्म (जपादि में) में यजन रूप से भावना करने का अभ्यास करो (यजन परं)"।

अच्छा ! यह तो ठीक है, परन्तु किस अग्नि से ? ज्ञानाग्नि तथा प्रेमाग्नि से ! जैसे ॐ आत्मने नमः, इस प्रकार से आत्मा की स्थूलाभिमानी व्यष्टि-समष्टि रूप से विश्वविराट भावना, ॐ अन्तरात्मने नमः—कहकर सूक्ष्माभिमानी व्यष्टि-समष्टि चैतन्य की तैजस हिरण्यगर्भभावना। ॐ परमात्मनेनमः—कहकर कारणाभिमानी व्यष्टि समष्टि चैतन्य की प्राज्ञ ईश्वर भावना। प्रेमयोग में भी अनुरूप भावना करो—जीवात्मा की सन्धिनी, संवित्, ह्लादिनी शक्तित्रय की यथाक्रम से पूर्णैकसच्चिदानन्दस्वरूप में आहुति दो।

अन्त में इस कारिका की अर्थभावना करते हुये इसमें मनोनिवेश करो—

बीज-मुच्छूनतां याति विश्वञ्चापि तथागति।
ऋध्यति प्रणवे मात्रा तपस तद्धि चीयये ॥

बीजान्वेषण करने पर यह देखता हूँ, वह अंकुरोद्गम के पहले फूल उठता है। क्षुद्र से क्षुद्र बीजाणु, बीजकोष में भी यही देखता हूँ (स्वेलिंग बिफोर सेल डिवीजन) जड़ाणुओं में भी यही प्रक्रिया होती है। यह फूलना अर्थात् उच्छूनता कभी कम होती है, कभी अधिक हो जाती है। इसी प्रकार यह विराट विश्व भी है। उच्छूनत्व से युक्त है। Expanding है। प्रणवादि में अर्धमात्रा रूप से मात्रा की ऋद्धि होती है। नाद और विन्दु दोनों में ही परम सीमाभिमुखता है। ऐसा क्यों है? जिस कारण से (हि) मूलस्थ (तत्) ब्रह्मवस्तु (उपादानों का उपादान, निमित्तों का निमित्त) है, वह है 'तपसा चीयते'।

व्याहृति सप्तक सूत्राणि

अयमिति प्रत्ययप्रतियोगित्वं भूरिति ॥
असाविति प्रत्ययप्रतियोगित्वं स्वरिति ॥
उभय प्रत्ययाप्रतियोगित्वं भुवरिति ॥
उभय प्रत्ययप्रतियोगित्वं महरिति ॥
असीति प्रत्ययप्रतियोगित्वं जन इति ॥
अस्मीति प्रत्ययप्रतियोगित्वं तप इति ॥
अस्तीति प्रत्ययप्रतियोगित्वं सत्यमिति ॥

अथ कारिकावली
(सामान्यतः दिग्दर्शनी)

विधूय क्षिप्रं धूलिकणमवरं ब्रह्म दहरं
पदा पिष्टां वल्लीं शवलकुसुमां वोपनिषदम्।
सकृत् त्यक्तं प्रत्रात् पृषदपि बृहच्छान्दस मृतं
न मन्ये गुल्मे गुंजित मरुतं साम सुमहत् ॥

महा व्योम्नि व्यक्तं नयन पथगं चित्रमखिलं
तदध्यास्ते सर्वं रहसि कणिकायां निपुटितम् ।
इहास्ते यत्तस्य क्वचिदपि विसृष्टौ न विरहोऽ
त एकाण विद्धि श्रुति-निवह वाचो विविदिषुः ।।
ब्रह्मार्णं तं परिगणय यो ब्रह्मरूपैक वर्णो ।
ब्रह्माण्डे यत तदपि तदतीतं निधत्ते महिम्नि ।
एकार्णन्त्तं प्रथयति वहिश्छिन्दसा वह्वृचां वाक्
साम्नोदगीतः स्वरइति यजुर्यजयेद् भूर्भुवःस्वः ।।

कारिकाओं का भाषा में अनुवाद

भूरादि व्याहृति अथवा प्रणवादि बीजों के अवयव समूह कई अक्षरों को लेकर गठित होते हैं। क्या उनमें इतने तत्वों, शक्तियों तथा आकृति व्यंजना का आविष्कार करना कल्पना की 'कसरत' तो नहीं है ? अच्छा, एक बात यह भी है कि आज तक किसी ने भी वटवृक्ष की एक कणिका को अथवा मातृजठरस्थ एक जीवाणु को 'नगण्य' नहीं माना है। और आज का विज्ञान एक धूलिकण, जलविन्दु अथवा उससे भी लाखोगुणित छोटे पदार्थ (अणु में) में महाविस्मयकारी ब्रह्माण्ड का दर्शन भी करा रहा है। वह यह दर्शन थ्योरी से ही नहीं करा रहा है, अपितु उसे प्रयोगात्मक रूप से भी प्रदर्शित कर रहा है।

इसी कारण प्रथम कारिका मे उक्त है कि पदसंलग्न (पैर में लगे) एक धूलिकणा को तुरन्त झाड़कर गिरा देता हूँ (क्षिप्रं विधूय), परन्तु यह एक बार भी नहीं सोचता हूँ कि (नमन्ये) यह नगण्य धूलिकण भी दहर ब्रह्म ही है। (सूक्ष्मरूप ब्रह्म है)। राह चलते-चलते नवोद्गत् तृण घास प्रभृति हरीतिमा के बीच में छिपी नाना रंगों वाले वाले छोटे-छोटे फूलों से अलंकृता किसी भी लतिका को (वल्ली शवल कुसुमां) पैरों से निक्षिप्त करते हुये आगे बढ़ जाता हूँ (पदां पिष्टां), परन्तु यह मेरे मन में एक बार भी नहीं आता (न मन्ये) कि यह पिष्ट लतिका भी एक महत् मौन उपनिषद् है। (वोपनिषदम्)। और जो यह पत्रच्युत (पत्रात्) एक विन्दु जल (पृषत्) मेरे अंगों पर अभी गिरा है (सकृत्), उसके सम्बन्ध में क्या मैं यह सोचता हूँ कि (न मन्ये) यह क्षरित विन्दु हंसवती ऋक् में उद्दिष्ट (छान्दस)'ऋतं बृहत्, से एक कणिका मात्र भी कम नहीं है। पुनश्च, यह जो गुल्म का मच्छर गुन-गुन करता उड़ रहा है (गुञ्जित मशरुतं) वह भी सुमहान सामगान है, इसका भी कभी विचार ही नहीं किया !

क्षुद्र की ओर देख लिया, अब विराट का देखो। महाव्योम तो हमारे सम्मुख प्रसारित (व्यक्तं नयनपथगं) अखिल की ही छवि है (चित्रमखिलं)। यह महा-

विपुल छवि सम्पूर्ण रूप से (तदध्यास्ते सर्वं) सूक्ष्म, गुप्त चित्र की तरह एक कणिका में भी निपुटित, निहित (रहसि निपुटितं) रहती है। और यहाँ जो कुछ है (इहास्ते यत्) उसका इस विचित्र सृष्टि में (विसृष्टौ) कहीं भी (क्वचिदपि) विरह (अभाव) नहीं है। इसी कारण (अतः) यदि वेदादि एवं आगमादि की निखिल वाणी (श्रुति निवहवाचः) को जानने के लिये उत्सुक हो (विविदिषु), तब क्या करोगे ? तब एक अक्षर अथवा वर्ण को ही तत्वतः जान लो (एकार्णं विद्धि)।

इसलिये प्रणव के अकारादि को, व्याहृति के वकारादि एक-एक वर्ण को 'ब्रह्माण' समझो। प्रत्येक वर्ण ब्रह्मरूप है। अतः उसमें समस्त शक्ति तथा उसकी व्यंजना निहित रहती है। ब्रह्माण स्वमहिमा (महिम्नि) द्वारा केवल मात्र व्यक्त एवं अव्यक्त रूपी ब्रह्माण्ड का निधान (निधत्ते) ही नहीं है, वह ब्रह्माण्डातीत (Transcendent) जो कुछ है (तदतीतं), उसका भी निधान है। इसलिये मंत्रों में ब्रह्माण्ड पाटनी शक्ति रहती है। हम देखते हैं कि विशेषतः अनुच्चार्य अर्धमात्रा का आश्रय लेकर यह सम्भव होता है। "अर्ण" का जो ऋतं है, यथार्थ गति-स्थिति-परिणतिरूप है, उसी को बहुमंत्रमयी छंदग्रथिता ऋक् ने (बहृवृचांवाक्) बाहर भी (स्थूल वैखरी रूप से) विस्तारित किया है। (प्रथयति बहिः)। साम वर्ण का जो स्वाभाविक स्वर है, उसका उद्‌गान किया है। उसी ऋत् तथा स्वरसमन्वित 'अर्ण' के द्वारा यजुः ने "भूर्भुवः स्वः' रूप से याग किया है। (यजुर्याजयेद् भूर्भुवः स्वरिति)।

ध्रुवस्वराद् यथा रागा स्तायन्ते भैरवादयः।
सिताद् वा वर्ण वैचित्र्यं संख्यानमेकतो यथा।
एकस्मादेव मुख्याच्च प्राणाः पञ्च दशापि वा।
चैकस्मान् महतस्तद्वद् ब्रह्मार्णाद् वाङ्मयं जगत् ॥
रसायने यथा संख्याकृत्यादिभिर्निरूप्यते।
मौलिक स्पन्दरूपाणा सङ्घातस्य विशिष्टता ॥
ब्रह्मार्णानां तथा संख्या कृत्याकांङ्क्षाः प्रसज्यता।
व्यावृत्ति — व्याहृती षड्भि रेताभिरिदमर्थता ॥

जैसे किसी ध्रुवस्वर का आधार बनाकर भैरवादि रागों का रुपायण होता है, उसी प्रकार अ, उ, प्रभृति एक-एक वर्ण को आधार बनाकर शक्ति, आकृति तथा भाव (अर्थ की) की अशेष विचित्र अभिव्यक्ति सम्भावित हो जाती हैं। (यहां एक ध्रुवस्वर अथवा अकारादि एक वर्ण आधार अवश्य हो जाता है, किन्तु "आकर" क्या बना ? यही विवेचित किया जा रहा है। जिस प्रकार से एक ही शुभ्रवर्ण नील लोहित आदि अशेष वर्णालि का कारण बन जाता है, उसी प्रकार अ उ प्रभृति वर्ण से भी होता है। (अच्छा, आधार तथा आकर तो हो गये, अब आपूरक ?)

जिस प्रकार से 'एक' रूपी संख्या स्वयं का आपूरण-हरण करते हुए अनन्त संख्याओं का प्रकाशन करती है, वैसा ही कृत्य अकारादि एक-एक वर्ण भी करते हैं। अतएव एक महान् ब्रह्मार्ण से ही आधार-आकर-आपूरक युक्त यह अशेष वैचित्रपूर्ण वांगमय (अर्थप्रत्यय के साथ) जगत प्रपंचित होता है। (अच्छा, आधार-आकार और आपूरक के साथ-साथ व्याहरण (विविच्च आहरणं) रूपी सृष्टि का वास्तविक कर्म भी तो होना चाहिये)।

जिस प्रकार से एक ही मुख्य प्राण स्वयं को पंचप्राण अथवा दशधा प्राण के रूप में अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार अकरादि वर्ण भी मुख्य प्राणधर्मी हैं। (अच्छा, एक ही वर्ण बहु हो जाता है, कैसे होता है ? और किस प्रकार से वे बहु भी, अर्थात् वह मूलवर्ण प्रभृति भी संयुक्ताकृति, यौगिक हो जाते हैं ?)। जिस प्रकार से रसायन विज्ञान में परिलक्षित होता है—मूलतः कतिपय स्पन्द आकृति (Vibratory pattern) से संख्या, आकृति (Number and From) इत्यादि विचित्रता के कारण अशेष पदार्थ वैचित्र्य (संघात) सम्भव हो जाता है। जैव विज्ञान में भी यही प्रक्रिया देखता हूँ। कौन सा वर्ण किस प्रकार की शक्ति की अभिव्यक्ति करेगा, यह इन लिंगषष्टक पर आधारित है—संख्या, आकृति, आकांक्षा, प्रसज्यता, व्यावृत्ति (प्रतिषेध) तथा व्याहृति। इन छह में अन्तिम 'व्याहृति' ही मुख्य है। इसी में शेष पाँचों लिंग का अन्तर्भाव हो जाता है। इन छ द्वारा यह निरूपित होता है—इस स्थल पर इस वर्ण का यह अर्थ अथवा भाव है (इदमर्थता)। इन छ का परिचय पहले भी मिला है, आगे भी विवेचित होगा।

विशेषतो विश्लेषणी

शक्त्याकृतिक्रियाभिर्हि पूर्णाभिर्विन्दुरूपतः।
ब्रह्माणुप्राविशत् प्राणां स्ततोऽर्णा असुभृद्वराः॥
हंसोहंस इति शश्वदवेशो यो जपोऽसुभिः।
एष जागर्ति तेनार्णः स्वापे विश्वस्य वै पुमान्॥
असून् विभर्ति चार्णोऽय मन्वग्न्योरप्यनन्यता।
प्राणाग्निहोत्र निष्पत्तो र्वाचोऽग्नि दैवतं ह्यतः॥
प्रणवश्च रसो वाचमग्नि-दैवत उच्यते॥
अप्रमेयानिरुक्तस्यादिमेयं मानदा यतः।
व्यञ्जनादि स्वरादिभ्यामतोहि मातृका मता॥
मेति चिच्छक्ति राद्या या कार्याकारकता च का।
तृकाराद् दन्तमूर्धन्याद् द्वयोर्व्याप्रियमानता।
का भूः मा स्वरिति द्वन्द्वे भुर्भुवरिति योजना॥

ब्रह्म अपने प्राणरूप में भी अनुप्रवेश करता है। हम देखते हैं कि अनुप्रवेश में विन्दु पर अधिकार करना ही होता है। ब्रह्म भी क्रिया-शक्ति तथा आकृति से पूर्ण (जिसमें कोई न्यूनता अथवा परिच्छेद न हो) विन्दु रूपी होकर प्राण में अनुप्रवेश करता है। प्राणों में ब्रह्म का अनुप्रवेश ही "अर्ण" है। अतः अर्ण ही प्राण समूह का मुख्य स्वामी है। अन्न-रस आदि गौण स्वामी हैं। अर्ण ही प्राण का मुख्य अन्न है।

प्राण में हंस-हंस का निरन्तर (शश्व) जप चला करता है। (समस्त मातृका वर्ण सम्पुटित) इस जप के द्वारा यह 'अर्ण' रूप पुरुष (पुमान्) जाग उठते हैं (जागर्ति)। (अजपा जप वास्तव में मातृका माला जप है)। यही है हंस सम्पुटित जप। इस माला का मेरु है विमर्श। इस मेरु का लंघन करते हुये साधारण अजपा (श्वास क्रिया) चल रहा है। इसी कारण (मेरु लंघन के कारण) हरण का आधिक्य है, Runniug Down है। बिना मेरु लंघन किये "हँसः सोऽहम्' होता है। इस प्रसंग में इस कारिका का स्मरण करो :—

हंसोहंस इति श्वासेजपां जप्त्वा मुमूर्षसि।
रुमेरु ञ्चाप्यनुल्लंङ्घ्य जिजीविषेः शतं समाः॥

तुम्हारी श्वास क्रिया हंसः का अजपा रूपी जप अवशभाव से करते हुए मरने की इच्छा कर रही है। (इसमें मेरु लंघन हो रहा है)। अतः विसर्ग रूपी (रू) मेरु का लंघन किये बिना (गुरुदत्त उपाय से) जो अजपा जप होता है, उसके द्वारा शत वर्ष (समाः) बच सकने की (अर्थात् इच्छामृत्यु की) इच्छा करो।

यह कहा जा चुका है कि वाक् के देवता अग्नि ही क्यों हैं? अर्णरूपी पुमान् 'असून्' रूपी प्राणसमूह का भरण करते हैं। हरण-पूरण के अनुपात की रक्षा करते हैं) साथही वे 'असु' का अन्नरूपेण वरण करते हुए वर्ण भी हो जाते हैं। 'असु' तथा अग्नि की अनन्यता (मूल अभेद) भी श्रुति के उपदेशों तथा विचार के द्वारा सिद्ध है। प्राणाग्निहोत्र (ॐ प्राणाय स्वाहा) भी इस अभेदभावना के अभाव में सिद्ध नहीं हो सकता। अतः मूल का सन्धान करने पर विदित होता है कि वाक् का देवता अग्नि है। अब एक अन्य कारिका का विचार करो :—

ब्राहणोऽस्य मुखमासी दग्नि दिवौकसां मुखम्।
मुखं समाश्रितो वर्णो ह्यतोऽग्निर्दैवत गिराम्॥

वेदोक्त पुरुषसूक्त के अनुसार ब्राह्मण उसका मुख है। वेदों में अग्नि को देवताओं का पुरोहित (ब्राह्मण) तथा मुख बहुधा कहा गया है। वर्णमयी वाक् भी विशेषतः मुख का ही आश्रय लेती है। अतः (मुखतत्व को गंभीर तथा अभेद दृष्टि से देखने पर) अग्नि ही वाक् का (गिरां) देवता है। पूर्वोक्त कारिका में तथा इस कारिका में यथाक्रम से 'असु' (प्राण तथा 'मुख' शब्दद्वय को गंभीरता से ग्रहण

करते हुये वाक् तथा अग्नि का सम्बन्ध योजन किया गया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि 'मुख' का नामान्तर है 'आस्य'। अतएव 'असु' और 'आस्य' यथाक्रमेण योजक लिंग हैं। पुनश्च :—

सूर्याग्निसोमलिङ्गाभि र्मन्त्यते मातृका परा।
ऋगर्भिहि त्रिपुरा वाचा मग्निर्देव स्त्रिरूपकः।'

परमा मातृरूपिणी त्रिपुरा भी सूर्य (सविता), अग्नि तथा सोम (सोमार्द्ध-धारि-त्र्यम्बक) इन तीनों के निरूपक तीन ऋक्मंत्रों द्वारा मंत्रिता हैं। अतएव इन तीन रूपों में अभिव्यक्त अग्नि ही वाक् समूह का देवता है। पुनश्च :—

चेतोऽधारारणिं कृत्वा प्राणां श्चोत्तरारणिम्।
वाचोहि मन्थनं तस्माद् देवस्तुल्यभवोऽनलः॥

उत्तर एवं अधर रूपी अरणिद्वय के मन्थन द्वारा अनल की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से चेतः एवं प्राण रूपी (अधर एवं उत्तर रूपी) दो अरणियों के द्वारा वाक् की उत्पत्ति होती है। वाक् तथा अग्नि में इसी प्रकार की तुल्यभवता है। अतः अग्नि को वाक् का देवता कहते हैं। अरणिद्वय एक साधारण आकृति (Generic Pattern) हैं। इनका मन्थन एक साधारण क्रिया (Generic Function) है। इसका साधारण फल है अग्नि का आविर्भाव। (Generic Resultant)। चेतः तथा प्राण और उनके मन्थन से उपलब्ध वाक् इन तीनों का विशेष-विशेष रूप होता है। सामान्याधिकार के लिये विशेष के सम्बन्ध में 'देवता' भावना करना प्राचीन शिष्टकल्पना के अनुरूप है। जैसे आदित्य दर्शनेन्द्रियों के देवता हैं। पुनश्च :—

अग्निर्यथा विश्वचक्रस्य नाभि
ररांश्च नेमिञ्च धत्ते विसृज्य।
तथा प्रपंञ्चं हि वाचां परावाक्,
सूते विधत्ते च बीजात्मकशक्त्या॥

श्रुति ने अग्नि को विश्वचक्र की नाभि में आसीन किया है। वह नाभि में आसीन रहकर विश्व के अरसमूह का विस्तार करता है। और वह अर तथा नेमि इन दोनों को धारण करता है। जो परमा वाक् है (जैसे ॐ कार) क्या वह इस वाक्प्रभव विश्व को (उसी प्रकार) नाभिविद्या रूपा अपनी बीजशक्ति द्वारा प्रपंचित नहीं करती ? वह अवश्य ऐसा करती है। अग्नि के समान वाक् में भी विश्व की नाभिरूपता है। यहां विशेष यह है कि 'रूप' का विधान अथवा सृष्टि करने पर वह अग्नि है। वही 'नाम' की विधानकारिणी तथा विसृष्टिकारिणी होने पर 'वाक्' है।

ॐ कार तथा अग्निर्देवता के सम्बन्ध में इस कारिका की भावना करो :—

अकारपूर्वो म उकार मध्यो
नादश्च विन्दुश्च कला च चार्द्धम् ।
एताः शिखाः सप्त तथा च धाम्नां
छन्दांसि सप्तेति विदुस्तमग्निम् ॥

आगे अकार है, मध्य में उकार है, अन्त मकार है। यही है प्रणव की त्रि-मात्रा। त्रिमात्रा + नाद + विन्दु + कला + कलातीत (चोर्द्धं) = प्रणव के सप्तावयव ही अग्नि की सप्तशिखायें हैं (सप्तधा विच्छुरित ज्योतिः) अग्नि भी भूरादि सप्तधाम (ख्याति) रूप से अभिव्यक्त है। प्रणव के सप्त अवयव इस सप्तधाम में अन्वित हैं।

जैसे:—अकार = भू, उकार = भुव, मकार = स्व, नाद = महः, विन्दु = जनः, कला-कलनशक्ति = तपः, कलातीत = सत्य

इसी प्रकार अग्नि का सप्त छन्द रूप जो प्रकाश है, उसके साथ भी इन सप्ता-वयव का अन्वय है। अतः ऋषिगण ने इस अग्नि को प्रणव के देवता रूप में जाना था (विदुः)।

प्रणवमूला वाक् के देवता अग्नि क्यों हैं ? इस का किंचित् रहस्योद्‌घाटन उपरिलिखित कारिकाओं में किया गया है। इसकी विस्तृत आलोचना भविष्य में की जायेगी। बृहदारण्यकादि में पंचाग्नि विद्या का उल्लेख प्राप्त होता है। वाक् के देवता अग्नि हैं, इस प्रसंग में प्रकारान्तर से इस पंचाग्नि की भावना करो :—

आदौ वागिन्धने तेऽलसितहुतभुजं दीपयेर्मन्थनेन
स्वाकूत्या श्री गुरोर्वाक् स्फुरदनिलसखैः मोंचये धूंमजालम् ।
श्रद्धावेदौ निधाय प्रथय च हविषा बीजरूपेण वाचं
भस्मन्यङ्गारशेषे भवसि न मणिकृद् वन्हिपंञ्चाविदग्धः ॥

वृथाभाषण, मृषाभाषण इत्यादि अनृत आचरण के कारण तुम्हारा वाक्‌रूप ईन्धन अग्नि (तेजः, उर्ज्जः, ओजः इत्यादि) अलसित (निर्वापित, बुझने जैसा) होकर पड़ा जो है ! इसी कारण तुम्हारी वाक् निसत्वा अथवा तुच्छसत्वा हो रही है। यदि उस स्तिमित अग्नि (वीर्य) को उद्‌बुद्ध करना चाहते हो तब पहले क्या करोगे ? अपनी आकूति (ऋत् सत्य छन्द में प्रतिष्ठित होने के लिये आन्तर स्पृहा) द्वारा अपने वाक्‌रूपी ईन्धन का सयत्न मन्थन करो। अर्थात् 'ऋत् तथा सत्य के मार्ग से प्रमादवशात् पतित नहीं होना है' इस शुभ तथा दृढ़ संकल्प के द्वारा अपने वाक् को संस्कृत करो। यह है तुम्हारा प्राथमिक अग्निकर्म। इस प्रथम कर्म का समारम्भ तुम्हे स्वयं ही करना होगा। यद्यपि इसका समापन अभी नहीं होगा, केवलमात्र समारंभ ही होगा !

इस प्राथमिक अग्नि की सम्यक् सूचना मिलने पर ही गुरुशक्ति का सन्धान मिलता है ! सन्धान के पश्चात् आरंभ होता है द्वितीय कर्म, इस वाक्रूप ईन्धन का अग्निमन्थन कर्म। यद्यपि तुम्हारी वाक् किंचित् उद्‌बुद्ध तथा संस्कृत अवश्य हो रही है और उससे कुछ अग्निस्फुलिंग भी निर्गत होने लगे हैं, तथापि उस अग्नि का आविर्भाव न तो नियत है और न सम्यक् ही है। सबसे अधिक चिन्तनीय तो यह है कि गीली लकड़ी के कारण तुम धूयें से आकुल हो रहे हो। इस अग्नि को जलाना भी प्राणान्तकारी है और उसे बनाये रखना भी प्राणान्तकारी ही है !

अत: गुरुवाक्य के द्वारा आत्मेन्धन में शक्तिसंचार होना ही चाहिये। जो दिव्याग्नि गुरुवाक्य से स्वत:स्फूर्त्त है, वह अग्नि और अग्निसखा वायु-दोनों के कर्म का निर्वहण करता है। वह धूम्रजाल (तामस-राजस मलसमूह) को विदूरित कर देता है (श्री गुरोर्वाक् स्फुरदनिलसखै र्मोचये धूंमजालम्)। जो वाक्रूपी अग्नि गुरु के मुख से निर्गत होती है, उसमें वायु तथा अग्नि का सम्मिलित रूप विद्यमान रहता है। अत: "अनिल सखै:"। अब उस गुरुकृषा संजात अग्नि का स्थापन श्रद्धारूपी वेदी पर करना चाहिये (श्रद्धावेदौ निधाय) और श्री गुरुदत्त बीजरूप हवि: को निष्ठा के साथ अपनी जपयोगाग्नि में प्रक्षिप्त करते हुये उसे क्रमश: उत्तरोत्तर समृद्ध करना चाहिये (प्रथयसि)। यह है अग्निकर्म का तृतीयपर्व !

क्या यही अन्त है ? हवि की सहायता से ईन्धन तो भलीभांति जल रहा है। फिर भी नियमानुसार प्रत्येक क्रिया को अपनी प्रतिक्रिया के सम्मुखीन होना ही पड़ता है। ईन्धन तो परिमित और परिणामी पदार्थ है ! वह तो जल कर भस्म तथा अंगार रूप होने के लिये तत्पर है। यही है प्रकृति की अपनी प्रवणता। तुम इससे छुटकारा कैसे पा सकोगे ? भस्म के बीच में जो अंगार पड़ा हुआ है, यदि उसे किसी चमत्कारी रसायन द्वारा हीरा बनाने का उपाय मिल सके, तभी तो तुम प्रकृति की प्रवणता के पाश को काट सकोगे ! अंगार को परमरसायन के द्वारा हीरा के रूप में परिणत करना ही होगा। हीरा बन जाने पर वह स्वत: समुज्वल, क्षयहीन और च्युतिहीन है।

इसके लिये पूर्वोक्त तीन पर्वों के अतिरिक्त भी अन्य दो पर्वों (ज्योति-रस, विज्ञान-विभाव) द्वारा वन्हिकर्म का समापन करना होगा। अर्थात् वन्हिपंचक कर्म में रसज्ञ (वन्हिरसायन पारग) और विदग्ध होना पड़ेगा। अन्यथा 'भवसि न मणिकृत'। अच्छा ! इस परम वन्हिरसायन को कौन मिलायेगा ? श्री गुरु ही मिलायेगें। तुम तृतीय पर्व में उन्नीत होकर अपनी क्रतुसिद्धि के अभिमान में स्वयं को "भस्म में अंगार शेष बचा है" वाली स्थिति में न लाओ। इस श्लोक से प्रणवादि जप में आवश्यक पंचमात्राओं को भी जान लो। छन्द: पंचकों में से शेष छन्दद्वय का भी विचार करो।

वाक्‌रूपी ईन्धन के मन्थन तथा उद्दीपन रूपी वन्हि कर्म में प्रवृत्त होने पर इस तृतीय पर्व (अर्थात् समन्वयी छन्दः) में आने पर विशेषतः सावधान हो जाना चाहिये। यहाँ पर एक प्राकृतिक प्रवणता की स्थिति है जिसके द्वारा तुम्हारे इस साधनरूपी अग्निन्धन का रूपान्तरण अंगार तथा भस्म के रूप में हो जाता है। इसकी सूचना तुमको अपने आप में (Subjectively) प्रायशः अभिमान के रूप में मिलती है। फिर भी यह तुम्हारे अपने निजी कारणों से घटित नहीं होता। इसकी पृष्ठभूमि में एक दुरतिक्रम्य प्राकृतिक प्रवणता भी रहती हैं। इसे वैज्ञानिकगण जड़शक्ति की दृष्टिभंगी के कारण Entropy अथवा Cosmic Running down कहते हैं। उर्ध्वस्थ शक्तिपुंज इस Entropy के कारण अधोग (निम्नवर्ती) होना चाहता है। इसीलिये शक्तिगत उन्नयन अथवा घनीभाव के स्थान पर अवनयन और बिलगाव का द्योतन होने लगता है। यही आवजेक्टिव कानून तुम्हारे कर्म और साधन में उदाहृत हो रहा है। इसीलिए समद्धाग्नि (अग्नि का ईन्धन) भस्म तथा अंगार में रूपान्तरित होना चाहता है।

इस स्थिति से त्राण पाने के लिये श्री गुरु प्रसाद में (अंगीरस रसायन में) विदग्ध होना होगा। सब कुछ का जो-जो अंग (Constituent) है, उसके रस (Essence Together with basic Pattern) को निष्कर्ष रूप में प्राप्त करना ही होगा। यह घटित होता है विशेषरूपेण अनुग्रह शक्ति का समाश्रय लाभ करने से। वे ही तुमको छन्द के अंतिम पादद्वय पर्यन्त उन्नीत करती हैं। उनका ही "पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" है। उनको छोड़ देने पर अंगार परिणाम से बच सकने का कोई उपाय ही नहीं है।

यदिन्धनं तदङ्गारः स्वभाव स्वाङ्ग धर्मतः।
अंङ्गारे मणिवज्रत्व माङ्गिरस रसायनात्॥

जो स्वभाव का स्वाङ्ग है अथवा अपना अंगीभूत जो कुछ है, उसका धर्म ही इस ईन्धन का अंगार रूप हो जाता है। परन्तु यह तो कहो कि अंगार मणिवज्र (हीरक) कैसे हो सकेगा? वह होगा इस अंगिरस रसायनशाला में प्रवेश करके स्वयं की क्रमागत परीक्षा, 'परख' (टेस्ट) इस प्रकार से करो :—

किमधुना मधुना मधरा गिरो
बिसदृशा सदृशा दृशिगा दृशा।
अपहृतं सुहृदापि हृदाहृतं
चिररुचौ चिति चारु विचारणा॥

हमारे जप अथवा भुजनादि की जो वाणी है (गिरः) क्या वह मधुच्छन्द तथा वाक् के निगूढ़ आन्तर मधुरस (मधुना) से अब (अधुना) मधुर एवं सुमधुर हो रही है ? क्या हमारे नयनों की दृष्टि में (दृशा) उसके (इष्टछन्दः आदि विषयों के) विसदृशभाव का परिहार करते हुये इष्ट के सदृश भाव का आगमन हो रहा है, और क्या वह नित्य प्रकाशस्वरूप श्री गुरु तथा शास्त्र (दृशि) का एकान्तिक अनुगमन करने में समर्था हो सकी है ? अब तक दृष्टि तो दृश्य पर्यन्त ही गमन कर रही थी । इसी कारण से दृष्टिसम्पर्क विसदृश सा था । अब इस बार क्या वह केवल दृश्यगा, दृशिगा हो सकी है ?

हृदय भी तो एक दिन अपहृत हो गया था । इस बार क्या उसके चिरसुहृद ने उसे "परश मणि" बनाकर (उस खोये हृदय को) अपने वक्षस्थल में सुप्रतिष्ठ कर दिया है ? जो बुद्धि अब तक वाह्य एवं तुच्छ विषयों की अशोभन विचारणा में व्यापृत थी, क्या वह इस बार नित्य प्रकाश चिरसुन्दर (चिररुचि) चिदानन्द सत्ता-रूप (चिति) की विवेचना द्वारा स्वयं को सुशोभित (चारु) कर रही है ?

यदि इन कतिपय आत्मजिज्ञासा का उत्तर प्राप्त नहीं है । जब श्री गुरुरूपी महत् का एक कृपास्पर्श प्राप्त हो जाता है, तब जिसे प्राप्त करना तुम असंभव समझते हो, वह भी एक दिन संभव सा हो जाता है । इस विश्वास को हृदय में स्थापित करते हुए साधन तत्पर हो जाओ, देखो :—

न दृशदि पृषदेकं शीतलं प्रज्वलन्त्यां
न च तमसि तड़ित्‌त्विड् विस्फुरन्ती मुहुर्त्तम् ।
न च मरुसिकतासु प्रावृशां दूरवातो
मनसि सुमनसां स्पृक् शान्तयैका त्वशान्ते ॥

ज्वलन्त पाषाण पर एक चुल्लू पानी छोड़ने से (पृषदेकं) वह शीतल-शान्त नहीं होता । घोर अन्धकार में एक क्षण के लिये चमकी विद्युत से भी कोई प्रयोजन साधित नहीं हो सकता । मरुभूमि की उत्तप्त बालुका भी सुदुरवर्त्ती वर्षा के कारण बह रही शीतल वायु के स्पर्श से ठंडी नहीं हो जाती । यह सब सत्य है, परन्तु (तु) तुम्हारा अधीर-अशान्त मन (मनसि अशान्ते) जब सुमनाः (व्यक्ति) का एक भी (एका) करुणापूर्ण स्पर्श प्राप्त करता है, तब वह शान्तिसुधा को प्राप्त किये बिना नहीं रह जाता । उनका करुणास्पर्श अन्तर के चिरशान्तिपूर्ण केन्द्र का मुख खोल देता है । उसे उन्मुक्त कर देता है । सुमनससुमनाः का तात्पर्य यह है कि एक पुष्प लो, उसके स्पर्श का अनुभव करो, वह स्पर्श कितना कोमल है, क्या है ? इसे विचार कर देखो ।

पूर्वोक्त सूत्रद्वय के भावार्थ का विस्तार
आभिमुख्य किसे कहते हैं ? संलक्ष्य का लक्षण
अभिमुखीन होने पर ही अभीद्ध होता है

नैर्लक्ष्य, वैलक्ष्य, उपलक्ष्य तथा अपलक्ष्य का वर्जन करते हुये संलक्ष्य के प्रति धीरवृत्तिता को अभिमुखीनता कहते हैं। निर्दिष्ट लक्ष्य रहित वृत्ति = नैर्लक्ष्य। तुम जपादि साधन करते हो परन्तु तुम्हें यह सम्यक् धारणा नहीं है कि किसके लिए यह सब कर रहे हो ? "दस लोग यह सब करते हैं, अतः मैं भी कर रहा हूँ"। इस लक्ष्यहीनता को छोड़ना ही होगा। वैलक्ष्य = एक लक्ष्य निश्चित है परन्तु मैं ऋजु-पथ छोड़ कर वक्रगति से चल रहा हूँ। अतः लक्ष्य न्यून हो चला है। उसके स्थान पर अपकृष्ठ, अवान्तर तथा विसदृश को लक्ष्यस्थानीय मान रहा हूँ। यह वैलक्ष्य भी अन्य दो प्रकार से होता है, उपलक्ष्य तथा अपलक्ष्य। उपलक्ष्य = इसमें हम अपने प्रकृत वास्तविक लक्ष्य से विसदृश, विपरीत अथवा विरुद्ध का अनुसरण नहीं कर रहे हैं, तथापि हमने मुख्य लक्ष्य के स्थान पर एक गौण तथा अवांतर लक्ष्य का वरण कर लिया है। इसके कारण मुख्य लक्ष्य के लिये किया जा रहा साधन अब गौण लक्ष्य का साधन बन गया है। यह भी लक्ष्य हानि है।

उपलक्ष्य = मैने मुख्य लक्ष्य के स्थान पर एक विरोधी—विसम्वादी लक्ष्य का आश्रय लिया है। मेरा मुख्य लक्ष्य था कि जपादि साधना के द्वारा काय, वाक् तथा चित्त को संयत तथा शान्त करूँगा। अब यदि इसके स्थान पर मै किसी ऐसे लक्ष्य का वरण कर लेता हूँ, जिसके द्वारा काय-वाक-मन की अस्थिरता तथा अन्तर्निहित संस्कार समूह वर्धित होने लगते हैं, तब यही अपलक्ष्य की अवस्था है। वैलक्ष्य तथा उनके इन रूपद्वय (उपलक्ष्य तथा अपखक्ष्य) को यत्नपूर्वक हटाना होगा। इन चारों (नैर्लक्ष्य-वैलक्ष्य-उपलक्ष्य-अपलक्ष्य) को हटाकर संलक्ष्य का आश्रय सर्वतोभावेन लेना ही होगा।

सम् उपसर्ग द्वारा यह ज्ञात होता है कि लक्ष्य के सम्बन्ध में हमारा यत्न तथा अभिनिवेश सम्यक् तथा संगत रूप से हो रहा है। इससे पहले हमने समूह और समर्थ के लक्षण का जो वर्णन किया है, उसका हम अपने साधन तथा लक्ष्य में पूर्णतः उपयोग करेंगे। इस स्थिति में हमारा लक्ष्य 'संलक्ष्य' हो जाता है। जिस छन्द के द्वारा हम इस संलक्ष्य में धीरता से स्थित हो सकते हैं, वही छन्द है अभीद्ध। ब्रह्म के अभीद्ध तपः के द्वारा ही ऋत एवं सत्य का प्रकाशन, जन्म हुआ है। ब्रह्म के इस 'अभीद्ध' में नैर्लक्ष्य आदि की कोई संभावना ही नहीं रह जाती। ब्रह्म सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है। हमें नैर्लक्ष्य आदि का परिहार करते हुए संलक्ष्य में प्रतिष्ठित होने का यत्न करना चाहिए। संलक्ष्य की प्रतिष्ठा से ही व्यक्ति 'धीर' होता है।

तपः किसे कहते हैं ? सृष्टि में तपः स्थान कहाँ है ?

तेजः की अभीद्ध स्थिति ही तपः है

श्रुति का कथन है कि 'तपसा चीयते ब्रह्म"। और भी कहा गया है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। पुनश्च—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। ब्रह्म भी तपस्या के द्वारा स्वयं को अपचित एवं वर्द्धित करते हैं। यहाँ शंका होती है कि जो निरतिशय भूमा है, वह स्वयं को आहृत—संचित—वर्द्धित कैसे करेगा ?

अतः इसकी धारणा भी नहीं हो सकती। इसलिए यह कह सकते हैं कि ब्रह्म इस विश्व में अव्याकृत बीजरूप से स्थित रह सकता है और उस बीज द्वारा व्यक्त विश्वरूपेण आविर्भूत हो जाता है। विश्वसृष्टि से सम्बन्धित कोई भी कल्पना करने के लिये हमारी बुद्धि को यही सोचना ही होगा। ब्रह्मरूप अधिष्ठान में विश्व की अव्याकृत अवस्था (अनडिफरिंशियेटेड कन्डीशन) को 'अदिति' कहा जाता है। इसमें अभी तक छेदन नहीं हो सका है, तथापि यह अपना छेदन करती है अन्न एवं अन्नादि रूप में।

यह छेदन कर्म चैतन्य की अधिष्ठता में सम्पन्न होता है, क्योंकि चैतन्य के बिना भोक्ता एवं भोग्य से अन्न का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। अदिति में अपहित चैतन्य की अध्यक्षता में ही अदिति द्वारा निखिल सृष्टि कर्म सम्पन्न होता है। यही चैतन्य है 'कश्यप'। कश्यप की दो पत्नियाँ हैं—अदिति एवं दिति। जो कुछ अभी तक विभक्त (डिफरिंशियेटेड) नहीं हुआ है, वह भी चैतन्य की अध्यक्षता में रहता है। चैतन्य के बाहर और चैतन्य से निरपेक्ष कोई भी सत्ता अथवा वृत्ति नहीं है।

कश्यप—अदिति तथा दिति

अब यह देखो कि अदित तथा दिति (अविभक्त एवं विभक्त) में 'त' तथा 'द' वर्ण समान हैं। इन दोनों का उच्चारण स्थल है दन्त। दन्त तथा दत् मूलतःएक ही शब्द हैं। वैयाकरणों ने दन्त स्थान पर विकल्प रूप से दत् रूपी विकल्प का आदेश दिया है। दन्त की (दाँतों) मुख्य वृत्ति है अन्न का छेदन करना। अतएव 'त' का प्रयोग यह सूचित करता है कि जो वस्तु अदिति अथवा अव्यक्तरूपेण विद्यमान थी, उसने स्वयं को छेदन के लिये प्रस्तुत किया। अर्थात् मानो वह इस बार अपनी बलि देगी। फिर भी अभी तक बलि अथवा छेदन कर्म नहीं हुआ है।

तपः शब्द का वर्ण विश्लेषण और व्यंजना

अब 'प' वर्ण का विचार करो। यह ओष्ट वर्ण है। अन्न ग्रहण के समय वाक्प्रयोग के समय कभी तो हम ओष्ठ को व्याकृत अथवा व्यादित करते हैं और कभी उन्हे आवृत एवं संवृत कर देते हैं। अतएव ओष्ट दो प्रकार की क्रिया का प्रतीक है। वह आवृत का व्याकृतीकरण करता है और जो व्याकृत है उसका आवृती-

करण कर देता हैं। अर्थात् कूर्म (कछुवे) की वृत्ति, संकोच एवं प्रसार का ही निर्वाह ओष्ठद्वय करते हैं। अतएव यह कास्मिक वाल्व है। हम ओष्ठद्वय की इस वृत्ति के द्वारा विश्वसृष्टि की मूलीभूत कूर्मवृत्ति की उपलब्धि करते हैं।

जब सृष्टि के अविभक्त मूल से विभाग की प्रतिक्रियावशात् सृष्टि परिणाम प्रवर्त्तित होने लगता है, तब वह (कूर्मशक्ति) ओष्ठ को मध्यस्थ बना कर ही प्रवर्त्तित होता है। सृष्टिधारा में हम चाहे जहाँ अपनी दृष्टि केन्द्रित क्यों न करें, हम वहीं यह उपलब्धि करते हैं कि यही संकोच विकासरूपा कूर्मशक्ति ही सबके मध्य में स्थित रहकर परिणाम प्रवाह समूह का नियन्त्रण उर्मिभंगी रूप से (वेव पैटर्न से) करती रहती है। समस्त घटनाचक्र अव्यक्त से अभिव्यक्त होते हुये पुन: शनैः—शनैः अव्यक्त की कुक्षि में लीन हो जाता है। प्राकृतिक तथा कृत्रिम यन्त्रों में भी जो Valve (वाल्व) प्रयुक्त होता है, वह भी ओष्ठ जैसा ही है। (ओष—बहिर्भाव अथवा अन्तर्भाववृत्ति + स्थ = जो स्थिर करता है, नियन्त्रित अथवा कन्ट्रोल करता है)।

तपः—सत्ता-ज्ञान तथा आनन्द के आविर्भाव का मुल प्रयास तथा आकृति

(तपस के त तथा प की विवेचना के अनन्तर) अब 'स' का अथवा विसर्ग का चिन्तन करो। 'स' का उच्चारण स्थान है दन्त। तप: शब्द के अन्त में हसन्त-रूपेण अथवा विसर्गरूपेण 'स' कार स्थित है। इससे सूचना प्राप्त होती है कि अब छेदन किंवा विभाजन कर्म केवलमात्र संभावनारूप नहीं है, वह वास्तव में कार्यरूपेण परिणत हो रहा है। अव्याकृत में जो कुछ लुक्कायित था, छिपा हुआ था, पारस्परिक रूप से ओतप्रोत तथा अभिन्नवत् था (जैसे हममें सुषुप्ति की स्थिति में संस्कार रहते हैं।), वह मानों विच्छिन्न—अलग होकर विपुल अभिव्यक्ति के रूप में स्वयं को छिटका दे रहा है। अत: 'स' कार के द्वारा इस विपुल विसर्ग को जानना चाहिये। 'तपस' से हम उपलब्धि करते हैं कि अव्याकृत् से व्याकृत् विश्वाविर्भाव का पूर्ण रहस्य क्या है। (इन साईड पिक्चर आफ कास्मिक इमरजेन्स)।

केवलमात्र सत्ता के दृष्टिकोण से ही नहीं, ज्ञान तथा आनन्द के दृष्टिकोण से भी तप: का निरीक्षण करो। ज्ञान के दृष्टिकोणानुसार जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। तुरीय नित्य है, तथापि सृष्टि के सम्बन्ध में सुषुप्तिवत् एक अव्यक्त-अव्याकृत अवस्था का भान होता है, यही अदिति है। जिसके द्वारा विश्वसुषुप्ति के स्थान पर विश्वजाग्रदादि अवस्था का उदय होता है, accosmi-city से मूल Comicity अवस्था आती है वही है तप:। विश्व तथा विश्वधारा के मूल में जिस अखण्डधारारूप आनन्द की स्थिति है, जिस आनन्द के सम्बन्ध में श्रुति ने "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि" इत्यादि कहा है, और जिस आनन्द के द्वारा विश्व

एवं विश्वच्छन्दः की अभिव्यक्ति—उल्लास विलास लीलायित होता है, वह भी तपः ही है।

अतएव तपः से ही मूल वस्तु के, आविरूप आविर्भाव का संकल्प होता है। उसके लिये शक्ति एवं प्रयास का उद्रेक होता है। संकल्प शक्ति तथा प्रयास रूप यह मूल कारण ही तपः है।

दन्त, ओष्ठ तथा तपः प्रभृति को स्वारसिक रहस्य में देखे बिना अन्य कोई उपाय नहीं है। इन्हें स्वारसिक रहस्यरूप में उपलब्ध करना ही होगा। 'स्वारसिक' अर्थात् जो रस अथवा तात्पर्य निष्कर्ष है, वह उनमें उस प्रकार से निहित रहस्य है जैसे मधु पद्म में निहित है। उसे बाहर करने में कोई अध्याहार नहीं करना पड़ता।

[यह सदा स्मरण रखना होगा कि तपः—सत्यम्—ऋतम् इत्यादि शब्द मनमानी इच्छा से कल्पित अथवा मात्र व्यावहारिक संकेत ही नहीं है। प्रत्येक का एक-एक प्राणन् (प्राणिक फंक्शन) है, जिसकी पुनः विवेचना की जायेगी। प्रत्येक की अर्थव्यञ्जना (Connotation) ही नहीं है, उनकी शक्तिव्यंजना तथा भावव्यञ्जना भी है। (Dynamic, creative import and impetus) जैसे गणित शास्त्र तथा विज्ञान में व्यवहृत आन्तराकृति (फारमूला) तथा समीकरण (इक्वेशन) हैं। जिस प्रकार से dy/dx और Fdx की कोई भी वाह्यव्यञ्जना नहीं की जा सकती। ये सब एक एक निर्वहण सूत्र (Index or sign of operation) हैं। इनका निर्वाहण द्वारा ही निर्वाचन होता है। मन्त्र विधान में शब्द का (अक्षर स्वच्छन्द है, इस उपाधि के द्वारा) प्राधान्य इसी कारण से स्वीकृत है। शब्दयोग में (नादानुसन्धान में) मुख्य भाव का समाश्रय लिया जाता है। यही है जपविज्ञान प्रतिष्ठा की अन्यतम भूमि। इसका आश्रय लेकर (प्रथमतः आश्रय-प्रारम्भिक आश्रय लेकर) अर्थभावना करनी चाहिये। परिपक्व भूमि में इसी का अर्थभावन किया जाता है। इस निष्ठा का फल है नाम की कृपा और नाम-नामी की अभेदत्वपूर्ण स्थिति।]

सृष्टि के मूल में तपः तथा सप्तव्याहृति की सब कुछ में अनुस्यूतता

'यह सब ब्रह्म है, ब्रह्म ने सब कुछ की सृष्टि करके उसमें अनुप्रवेश किया है' इस प्रकार के वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म केवलमात्र निर्विशेष सच्चिदानन्द रूप अधिष्ठान ही नहीं हैं, अपितु वे सर्वत्र तप रूप से भी सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। श्रुति ने जिसे 'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव' कहा है वह भी तपःमूर्त्ति अग्नि के ही सम्बन्ध में कहा गया है। भूरादि व्याहृति में तपः षष्ट व्याहृति है। परन्तु हम यहां जिस तपः की पर्यालोचना कर रहे हैं, वह इन सातो व्याहृति का मूल है

और उससे ही इन सातो की अभिव्यक्ति होती है। इन सातों में से प्रथम तीन है उनकी अवम अभिव्यक्ति, मध्यम तीन है उनकी मध्यम अभिव्यक्ति, सत्य है उनकी चरम उत्तम अभिव्यक्ति। वेद का 'ऋतंञ्च सत्यञ्च' तुलनीय है। अब यह जानना होगा कि यह तपः सप्तक अथवा सप्तव्याहृति विश्व के समस्त पदार्थों में निहित रहती है। समस्त पदार्थों की जो कुछ वृत्ति है वह इन तपः सप्तक के द्वारा व्याप्त तथा व्याहृत (विशेषरूप से आहृत) है। इसी कारण इसे सप्तव्याहृति का नाम दिया गया है।

एक क्षुद्र धूलिरेणु की जो वृत्ति है, उसे भी सर्वतोभावेन व्याप्त करके तथा आहरण करके यह सप्त व्याहृति विद्यमान रहती है। अतः एकः धूलिरेणु में भी सत्ताशक्ति और वृत्ति के सप्तलोक और स्तर विद्यमान रहते हैं। यहां यह ज्ञातव्य है कि इन सात में से मात्र कोई-कोई पदार्थ उन्मीलित और व्यक्तरूप से वृत्तिमान रहते हैं। अन्य सब वहां निमीलित एवं अव्यक्त से रह जाते हैं। मनुष्य के समान जीव में भी मात्र भूः, भुवः तथा स्वः रूपी तीन लोक अथवा स्तर प्रकाशित रहते हैं। इनमें भी मनुष्य में भूः का ही गुरुत्व अपेक्षाकृत् रूप से अधिक रहता है। इसी कारण मनुष्य इन्द्रिय जनित स्थूलवृत्तियों द्वारा प्रभावित होकर ही विचरण करता है।

श्रुति का कथन है "पराञ्चिखानि" इत्यादि। अतः मनुष्य की जो समग्र सत्ता तथा शक्ति एवं चेतना है, उसके मात्र एक भग्नांश को ही लेकर मनुष्य कार्यरत है। अतएव मनुष्य तो अल्प को ही लेकर स्थित है और जब उसके इस अल्प की एक कणिका भी खो जाती है, तव वह 'हाय हाय' करता मरता रहता है। अल्प में कदापि सुख नहीं है और जव इस अल्प की भी किंचित हानि होती है तब तो महादुःख है। जिसका सुख ही स्वभाव और स्वरूप है, वहां पर मनुष्य 'अल्प' को लेकर निराशा के साथ कहता रहता है "सर्वं दुःखं दुःखं"। इसी कारण उसकी दृष्टि में एक धूलिकण तुच्छ है, वह नगण्य रेणुमात्र है और ब्रह्म नहीं है। यह दृष्टिकार्पण्य दूर होने पर यह परिलक्षित होगा कि जो साक्षात् भूमा हैं, ब्रह्म हैं, वे ही स्वल्प की क्रीड़ा करने के लिये स्वयमेव 'अल्प' बन जाते हैं! जब हम अपनी सत्ता में इस सप्तमहाव्याहृति को प्रकाशित होते देख लेते हैं, तब यह उपलब्धि हो जाती है कि विश्व में क्षुद्र अथवा महान् ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें यह महा-व्याहृति अधीष्ठित न हो।

तपः की ज्योतिरूप सप्तधा अभिव्यक्ति

जैसे तपः शक्तिरूप है, उसी प्रकार सृष्टि का सब कुछ, एक जड़ अणु भी शक्ति का भण्डार है। सप्त व्याहृति वहाँ भी है, अतः शक्ति भाण्डारागार (मैगजिन आफ पावर) है 'सात महल'। इस महाशक्ति राशि की मात्र एक रत्ती ही कार्यरत

है (काईनेटिक इनर्जी)। प्रायः सब कुछ केन्द्रीण होकर स्तब्ध सा पड़ा है। यही है कुण्डली शक्ति। कु=ब्रह्मलीन होकर शयन करना=कुल कुण्डलिनी। यही है सप्त व्याहृति, सप्त चक्र युक्ता कही गयी है। विज्ञान ने एटम को विर्शीण करके उसकी कुण्डली शक्ति को अंशतः जाग्रत किया है। परिणामतः वर्त्तमान युग में एक महा-मारणास्त्र की सृष्टि हो सकी है।

मानों अब हरजटा जाल में जड़ित कालभुजंग को जगाया गया है। उसके उठे हुये फणों से कालाग्नि निःसृत हो रही है। तथापि हरजटाजाल के अन्दर निगूढ़ सञ्चारिणी सुर शैवालिनी अभी निद्रिता है। अर्थात् अभी हम भूलोक की शक्ति का अंशमात्र ही व्यवहार में ला सके हैं। अपरापर लोकों में तपः शक्ति का जो और भी महीयान, वरीयान रूप है, उसका सन्धान हमें नहीं मिला है। अभी भी 'Energy Level' हमारे लिये अपने अधम रूप में, अवम रूप में ज्ञात है। अर्जुन ने तपस्या के द्वारा मन्त्र के साथ पाशुपतास्त्र प्राप्त किया था। जिस अस्त्र को कठोर ब्रह्मचर्य तथा तपस्या के द्वारा प्राप्त करते हैं और जिसे समर्थ सिद्ध मन्त्रों के द्वारा उद्दीपित और प्रतिसंहृत कर देते है, क्या वह अस्त्र आणविक एटमबम जैसा है? उसकी एनर्जी लेविल क्या है, कहाँ है? वशिष्ठ ने ब्रह्मतेज द्वारा विश्वामित्र के समस्त आयुधों को शान्त किया था। यह ब्रह्मतेज किस प्रकार का है, किस स्तर का है?

मृत्युंजय महादेव ने सृष्टिविनाशी कालकूट को अपने कण्ठ में धारण किया। वह कण्ठ कहाँ है, कौन वस्तु है? जड़ विज्ञान ने अणु की केन्द्रीण शक्ति को प्राप्त किया है, यह देखकर सोचना व्यर्थ है कि कुलकुण्डलिनी का जागरण हो चुका है। कुण्डलिनी शक्ति=स्टैटिक अथवा पोटेन्शियल एनर्जी। यह किंचित परिमाण में में जागी अवश्य है, तथापि यह साक्षात् ब्रह्मरूपिणी है। उसका शरीर है ब्रह्मवर्चस। इसका जागरण कब तथा किस उपाय द्वारा होगा? इसका जागरण कराने से पूर्व मनुष्य को अपने मूलाधार में स्थित एक महारहस्यमय जागरण को कराना ही होगा। अब मनुष्य स्वयं में 'कुल' अर्थात् ब्रह्म की (शक्ति-शक्तिमान के अभेदत्व की) अनुभूति करेगा। वह कौल, अवधूत होगा। तभी वह जीवन्त-जाग्रत और स्फुरन्त रूप से सब कुछ में कुल कुण्डलिनी तत्व का दर्शन कर सकेगा। सात व्याहृति का आधा है साढ़े तीन—सार्द्धत्रि। सातों में जिस मिथुनतत्व (पोलैरिटी प्रिंसपल) ने उन्हें अभिव्यक्त करके रक्खा है उस मिथुन का अभिषंग (Coalescence) हुआ सात का आधा साढ़े तीन। अतः अब मूलधार में तपः सप्तक हो जाता है साढ़े तीन। अर्थात् सार्धत्रिवलयाकरा कुलकुण्डलिनी तत्व। जपसूत्र में यह सब यथास्थान विवेचित होगा।

भूरादि सप्तस्तरों में अथवा सप्तलोकों में एक अद्वितीय ज्योति ने सात रूप धारण किया है, यथा ताप (अग्नि), तेजः उच्चिं, वर्च्चः, अर्च्चः, ओजः एव भर्गः।

तपोज्योति सप्तरूपों के सभी स्तरों में विद्यमान रहती है, परन्तु एक एक में एक-एक की मुख्यता रहती है। जैसे भूः स्तर में ताप की मुख्यता है। इस स्थिति में इसके अन्य छ रूप नेपथ्य में निहित रह जाते हैं। सप्त लोकों में सप्ताधाकृत रूपी यह ज्योति ही है आलोक ज्योतिः। सभी स्तरों में आधार रूप से आलोक ज्योति विद्यमान रहती है। जो ज्योति सन्धि में है, उसे लोकालोक ज्योति कहा जाता है।

तपोयोग, इस सप्तार्चिः शिखा में हवन

ज्योति की इस सप्तार्चि अथवा सप्तशिखा में आहुति दो। आहुति देना चाहिए पूर्वोक्त सप्त मान्द्य समिध के द्वारा। अथवा व्याधि, दौर्मनस्यादि अन्तरायों की, किंवा जड़ता (अवसन्नता), अलसता, अरोचकता असारता, अनिर्विण्णता, अनृतता रूपी सातो समिधों द्वारा हवन करो। मन्यु के द्वारा जात जो सब कायिक, वाचिक, मानसिक पाप हैं उनका हवन "सूर्ये ज्योतिषि परमात्मनि जुहोषि स्वाहा" और "सतो ज्योतिषि परमात्मनि जुहोषि स्वाहा' द्वारा इसी सप्तार्चि ज्योति में हवन करो।

लक्ष्य करो मनु = मन्त्र इत्यादि। मन्यु ('य' कार युक्त) के 'य' कार से विघ्न बाधा का रूप ज्ञात होता है। अतएव मन्यु ऋजुगति नहीं है। यह वक्रगति व्याल है। 'य' जहां कहीं भी है, वहीं वक्रता अथवा व्याल है, यह भावना रखना भूल होगी। जहाँ 'य' है वहां सर्पभय नहीं है। ज्योति 'ज्योग् जीवति' इत्यादि में 'य' की वृत्तिता व्यालवृत्ति नहीं है। जैसा जड़ रसायन विज्ञान है, वैसा ही प्राणरसायन विज्ञान है। जो मौलिक है (एलिमैन्ट) है, उसी के मिश्रण के स्थान, क्रम तथा अनुपात आदि के उपर यौगिक (कम्पाउण्ड) का स्वरूप और गुणकर्म सम्बन्ध निर्भर करता है।

यद्यपि हम इस प्रसंग में Bio-Chemical Function का व्यवहार करते हैं, परन्तु विज्ञान संकीर्ण अर्थ युक्त नहीं है। अतएव 'प्राणिक फंक्शन' शब्द का व्यवहार करना चाहिये। ज्योतिः शब्द में वर्गीय तथा अन्तस्थ रूपी 'ज' तथा 'य' समवाय घटित होता है। 'ज' तथा 'य' दोनों ही तालव्य एवं घोषवत् हैं, फिर भी ज महाप्राण है और य को अल्पप्राण कहा गया है। इसी तालव्य (उर्द्धाभिघात जन्य) घोषवत् अथवा सघोष वर्णद्वय में एक महाप्राण है और दूसरा अल्पप्राण है, अतएव इनका साजात्य (Compatibility) ही मुख्य है। इनमें जो वैजात्य (Incompatibility) है, वह गौण तथा मुख्य का उपकारक है। अतएव वस्तुतः उसका अनुपयोग न होकर उपयोग ही है। यह स्मरण रखना होगा कि दो महाप्राण अथवा दो अल्पप्राण में अनेक प्रकार का विषय द्वन्द्व (ऐन्टीपैथी रिलेशन) हो जाता है।

ज्योतिः शब्द का विश्लेषण तथा व्यञ्जना

ज्योति शब्द के ज तथा य रूपी मिथुन (फोनैटिक कपुल) द्वारा यह विदित होता है कि जो महाप्राण किसी निर्दिष्ट स्तर अथवा लोक (Given-plane) में जिस संख्यान (एनर्जी वैल्यू) में भूमिष्ट परिलक्षित होता है, उस संख्यान को ह्रस्व अथवा खर्व होकर ही किसी भी उर्ध्व अथवा अधः स्तर में प्रकट होना होगा। ई+अ=य। ई=गमन। अ=अग्रतः, आगे। एक उर्मि को लक्ष्य करो। 'क' विन्दु में उर्मि पुंज है। यदि उर्मिपुंज 'क' से च्युत हो जाता है, तब उसे उपत्यका (वेव वैली) से उतरकर पुनः उत्थित होना पड़ेगा। इस प्राणन व्यापार का रूप हुआ 'ज' 'य' अथवा ज्या रूपी Formula। मन्यु शब्द में 'य' की वक्रता का कारण कुछ और हैं। वह साधक न होकर बाधक है। क्योंकि 'न' वर्ण दन्त्य है। यह स्थिति है मध्याभिघात अथवा अर्वागभिघात के कारण। 'न' वर्ण अघोषवत् तथा अल्पप्राण है। इसके साथ 'य' कार का उक्त रूप से मिश्रण होता है, जिसके कारण विषमता एवं वक्रता का जन्म होता है।

तदनन्तर तुलनात्मक रूप से य का प्रयोग ज्योति में देखो। ज्या=ज+य (=ई+अ) + ओ (अ+ऊ)। इस समीकरण का परीक्षण करने पर विदित होगा कि इ अ तथा अ ऊ एक प्रकार से पूर्णतः उर्मिरूप (कम्पलीट वेव पैटर्न) हैं। इसके विन्दुद्वय हैं इ एवं उ। उपत्यका है अ। गत्यर्थ ई द्वारा प्राण का इन्ध हो जाने की और उ के द्वारा (उदेति) उदित होने की सूचना प्राप्त होती है। अतएव वेद मन्त्र—में 'उद्युत्यं जातवेदसं' अथवा 'उद्गादनीकं' इत्यादि द्वारा मित्र, वरुण तथा अग्नि की चक्षुस्वरूपा और स्थावर जंगम की आत्मा 'सूर्यज्योति' का उद्गान किया गया है।

इन्हीं सूर्यज्योति का एक राहस्यिक शब्द 'ज्या' के द्वारा सम्बोधित किया गया है। वह ज्या तथा गायत्री मंत्रान्तर्गत् उक्त "धियोयोनः" का 'यो' शब्द तुलनीय है। शेष को 'इ-उ' अथवा 'इ-अ-उ' के अनुसार उच्चारित करना होगा। अन्यथा जो ज्या वरेण्य भर्गरूप से सर्वतः अवस्थित हो अपनी स्वतःसिद्ध महाप्राणता द्वारा 'धियो नः' रूप से हमारे बुद्धि रूप आधार को अनुगृहीत, अभिषिञ्चित कर रही है, वह इस अवतरण द्वारा सूचित नहीं हो सकेगा।

यदि 'य' का उच्चारण 'ज' के रूप में किया जा सके, तब हमारी बुद्धि अल्पप्राण होने पर भी महाप्राणता के 'दम्भ' से फूल उठेगी। जैसे विन्ध्य पर्वत ने माथा ऊँचा करते हुये सूर्यज्योति का गतिरोध किया था, हमने भी वही किया है। प्रणति (सरेण्डर) के अभाव में महाप्राण की ज्योतिरूपता का अवतरण हो सकना संभव ही नहीं है। घट में रक्खी अन्य वस्तु को हटाने पर ही घट को जल से भरा जा सकेगा। यह है Necessary Pre-Condition।

अपर दृष्टान्त

पुनःश्च, 'धियोयोनः' एक सुषमक्रम है, होमोजीनियसफंक्शन है। इसमें 'यो' का उच्चारण 'ज' कार के अनुसार (अर्थात् जो) करने पर सुषमक्रम की हानि हो जाती है। स्वर की स्वच्छन्दगति में एक उत्पात उपस्थित हो जाता है। अतः छन्द में क्षुण्णता आ जाती है।

'ज्योतिः' शब्द के शेषार्धं का विचार हम अन्यत्र करेंगे। अभी यह देखना है कि शब्दनिष्ठ 'प्राणिक' व्यापारों का विश्लेषण करने के लिये प्राणस्वरूप, प्रक्रिया तथा अभिव्यक्ति का एक आलेख्य सम्मुख रखना ही होगा, अन्यथा अवान्तर (अवस्तु-तांत्रिक), कन्वेन्शनल तथा आरबिट्रेरी होने की आशंका हो जाती है। जैसे 'त्र्यम्बकं यजामहे' यहाँ पर त्र्य का उच्चारण 'त्रिय' के रूप में करना क्यों गलत होगा ? और सर्वदा उच्चारित 'गोविन्द' अथवा 'हरि बोल' में क्रमशः स्थित ग एवं व में जो ओकार मात्रा लगी है, उसे विशेषतः कैसे घोषवत्, महाप्राण किया जायेगा ? शिव का जो बम्-बम् मंत्र है, उसमें स्थित 'ब' का उच्चारण एक विशेष रूप से क्यों करूँगा ? क्या ॐ कार के अनुग्रह लाभ के लिये ? इन सब का अनुसन्धान करना चाहिये।

अतः भूः भुवः प्रभृति सप्तव्याहृति का लक्षण प्रदर्शित किया जा रहा है।

व्याहृतिसप्तक का भावार्थ विस्तार

'अयम्' अथवा 'यह' कहने से जो प्रत्यय होता है, उसका जो प्रतियोगी विषय है, वह भूः है
सर्वविध सृष्टि स्वयं को 'यह' रूप से प्रकाशित करने के लिये आदिम व्याहृति 'भूः' की अपेक्षा करती है।

भूः शब्द से जो क्रिया प्रकट होती है, उसके साथ 'र' का योग करके 'भूः' अव्यय गठित होता है। मुख्य प्राण 'भू' इसी प्रक्रिया का आश्रय लेकर सब कुछ होता है, होता था और होगा। भूः शब्द प्राण के समस्त सृष्टि व्यापार को सूचित कर देता है। प वर्ग का चतुर्थ वर्ण है 'भ'। यह ओष्ठ वर्ण है। यह किसे संकेतित करता है, यह इसी प्रसंग में पहले कहा जा चुका है। यह अव्याकृत को व्याकृत करता है। अव्यक्त मौन को व्यक्त और मुखर कर देता है। जब तक दोनों ओठ मिले हुये हैं, तब तक कोई भी वाक् निर्गत नहीं होती। अतः कुछ भी व्यक्त नहीं हो सकता। जब दोनों ओठ वियुक्त हो जाते हैं, तब यह विदित होता है कि अब शब्द और शब्द जनित सृष्टि हो रही है। 'भ' वर्ण रूप में आते-आते प्राण की शब्दरूपेण अभिव्यक्त होने की चेष्टा सर्वाधिक बलवती हो जाती है।

'भ' के साथ 'उ' का (यह भी ओष्ठवर्ण है) संयोग होने पर यह संवेग इतना अधिक उर्जित होने लगता है, जिसके कारण सृष्टिमुख पर कोई भी बाधा उसे

रोक नहीं सकती। यह देखो कि यह संयोग सुषम-विषम (होमोजेनस, साइम्पैथिटिक रिलेशन) नहीं है। 'उ' कार युक्त 'भ' एक चरम वेग (क्रिटिकल इफीसिएन्सी) का प्रतीक है। जैसे जल का उत्ताप क्रमशः कम ही रहा है, परन्तु वह जब-तक शून्य डिग्री तक नहीं पहुँचता, तब तक बरफ नहीं जम सकती। जल का बरफ के रूप में रूपान्तरण निर्भर करता है, शक्ति तथा उसके वेग की एक निर्दिष्ट मात्रा पर। जप कब वैखरी से मध्यमा में संचरित होगा, कब मध्यमा से पश्यन्ति में संचरित होगा, यह निर्भर करता है कि एक समर्थ तथा साधक मात्रा के ऊपर।

भूः अव्यय की व्याप्ति द्विविधा है, साधारणी-असाधारणी

अतः भूः शब्द है एक निर्दिष्ट समर्थ साधक मात्रा की रहस्या वाक्। 'भू' शब्द के साथ 'र' अथवा विसर्ग का योग करने पर यह 'र' कार ही क्रिया को रूपायित तथा उसको बहिः प्रकाशित करता है। विसर्ग विहीन जो भूः है उसका क्रिया तथा तिगन्त्यादि प्रत्ययों के कारण भिन्न-भिन्न रूप होता है। परन्तु विसर्ग युक्त भूः अव्यय है। वह रूपान्तरण में समर्थ बीज है। सभी रूपान्तरणों में भी यह बीजमव्यय रूप से स्थित रहता है। जैसे किसी वृक्ष अथवा लता का मूल। मूल से बहुत सी प्रशाखायें निकलती हैं। उन्हें काट देने पर भी मूल स्थित ही रहता है। उनसे पुनः छोटी-छोटी प्रशाखायें निकलने लगती हैं।

जो नेपथ्य में, अन्तराल में हैं, जो अब तक प्रत्यक्षगोचर नहीं हो रहा है, उसे यह 'भू' साक्षात् अनुभव में उपस्थित कर देता है। इसके द्वारा जो "नहीं" है, वह "यह है" हो जाता है। अतः अयं प्रत्यय रूप जो यह हो रहा है, इन सब अनुभवों का मूल है "भू"। केवल जाग्रत में 'भूः' ? ऐसा नहीं। स्वप्न तथा सुषुप्ति भी उस समय 'भू' है। पश्चात् काल में यह स्मृति में 'यह' न होकर 'वह' हो जाता है। (अर्थात् स्वप्न देखते समय यह सोचते हैं कि 'यह' देख रहा हूँ, परन्तु जाग्रत होने पर यह कहते हैं कि स्वप्न में 'वह' देखा था)।

समस्त स्वरों की अनुभूतियों में जो गोचरता है, वह अवश्यमेव 'भूः' के द्वारा व्याप्त है, किन्तु इसकी व्यावहारिक व्याप्ति है इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में। सर्वस्तरों में यह व्याप्ति साधारणी और स्तरविशेष की व्याप्ति असाधारणी है। जैसे जप जब वैखरी भूमि में चलता है, तब वहाँ 'भूः' असाधरणी व्याप्ति में स्थित है। भूः की समस्त भूमियों में साधारणी व्याप्ति की सार्वभौमिकता अनुभूति से प्रतिभात हो जाती है। अन्य क्षेत्रों में वह अवरोध-प्रतिरोध आदि बाधाओं के कारण अवगुण्ठित तथा आवृत है। 'जप करता हूँ अथवा 'जप हो रहा है' यहाँ 'यह जो हो रहा है' इसमें हम भूः को देख अवश्य रहे हैं, परन्तु जप क्रिया के द्वारा जो 'संस्कार' जन्म ले रहा है; जो अपूर्व सृष्टि हो रही है अथवा जिस संस्कार समूह का आश्रय लेकर वर्त्तमान जप क्रिया चल रही है; उस क्रियारेखा का आदि और अन्त इस ओर अथवा उस

ओर मैं देख सकने में असमर्थ हूँ। अतएव जप की इस प्रकार की धारा क्यों घटित हो रही है, इसे समझ सकने में मैं असमर्थ हूँ। साथ ही जप द्वारा क्या हुआ और होगा, यह भी मैं नहीं जानता। फिर भी गुरु तो यह सब देखने में समर्थ हैं। इसी प्रकार अन्य किसी 'आतत दृष्टि' के लिये भी वह आवरित नहीं है। तभी हमारी दृष्टि द्वारा उपलब्ध भूः की व्याप्ति तथा गुरु अथवा आतत दृष्टि द्वारा उपलब्ध भूः की व्याप्ति समान नहीं है।

'असौ' प्रत्यय द्वारा क्या उपलब्धि होगी ?

''असौ'' प्रत्यय का जो विषय है, वही स्वः है

निखिल चराचर विश्व इदं अथवा अयं रूपेण ज्ञान का विषय अवश्य है तथापि इदन्ता के द्वारा सीमाबद्ध जो यह अनुभव का जगत् है, क्या यही एकमात्र जगत् है ? एक न एक ऐसा अजाना जगत् अवश्य है, जहाँ से यह हमारा जाना सुना जगत आया है और पुनः जहाँ जाकर लय प्राप्त हो जायेगा। उस अदेख और अजाना में जो वस्तु अवस्थित है, वह भी हमारे लिये अजानी तथा अनदेखी है। इसीलिये हम उस वस्तु को किसी भी प्रकार से जान सकने तथा अंगीकार कर सकने में असमर्थ हैं।

यह सब कहाँ से आ रही है और कहाँ जायेंगी, यह प्रश्न करने पर हम इसी दिशा (अजानी दिशा) की ओर इङ्गित करते हैं। हमें यह सोचना पड़ता है कि 'असौ' से 'यह आता है और पुनः 'यह' नेपथ्य में जाकर 'ये' हो जाता है। अतः 'यह' का प्रसव करके इसके प्रभव, आधार एवं निलयरूप से जो विद्यमान है, वही है, स्व अथवा सुरः। 'स्व' अक्षर में जो सुधातु है, उसका तात्पर्य है प्रसव करना। यह 'स्व' नेपथ्य में ही रहते सब कुछ का (यह का) प्रसव करता है। जैसे पहले 'भूः' है, वैसे ही यहाँ सु है। भूः की ही तरह सु का शाब्दिक विश्लेषण करने से अन्तर्निहित रहस्य का दोहन किया जा सकेगा।

स्व शब्द का विश्लेण तथा व्यंजना। 'व' कार एवं 'उ' कार। संकोच तथा प्रसार का रहस्य

'सु' इस शब्द में दन्त्य 'स'कार और 'उ' कार स्थित है। इनके संयोग के द्वारा यह विदित होता है कि कहीं से प्राण वेगवान होकर बाह्य देश में उत्सरित हो रहा है। जब एक बीज के भीतर से प्राण इस प्रकार वेगवान होकर स्वयं को बाहर की ओर उत्सरित करता है, तभी बीज से अंकुरादि प्रस्तुत होने लगते हैं। परन्तु यह प्राण कहाँ से बाहर की ओर वेगमुक्त होकर आ रहा है ? वह स्थान अवश्य ही अदेखा स्थान है। यह नेपथ्य है। जड़ परमाणु के भीतर से इसी

प्रकार की धारा एवं तेजः के निःसरण के कारण विश्व के आलोक एवं ताप आदि का विकिरण होता है। हमारी चेतना से भी जिन वृत्ति समूह का उदय होता है, वे सभी इस प्रकार एक अव्यक्त भूमि से प्रकाश की भूमिका पर होते हुए चली आ रही हैं। सृष्टि में सर्वत्र ही ऐसा होता रहता है।

सर्वत्र एक नेपथ्य से प्रकाश्य (व्यक्त) में आगमन हो रहा है। यद्यपि 'सु' शब्द द्वारा बाहर की ओर वेग से निर्गत होना अवश्य सूचित हो रहा है, तथापि जो नेपथ्य है, जो प्रकाश के अन्तराल में है, उसकी सूचना इससे नहीं मिलती। 'व' कार को सम्प्रसारित करने पर उकार है और उकार का संकोचन है व कार। संकोच शब्द से क्या समझते हो ? सत्ताशक्ति (मास एनर्जी) केन्द्र में अथवा न्यूक्लियस में संकुचित सी पड़ी है। हमारे एक संस्कार में अथवा संकल्प में न जाने कितनी शक्ति इस प्रकार से संकुचित होकर पड़ी है। अतएव सम्प्रसारित उ वर्ण में जो प्राणशक्ति तल अथवा लम्ब का आश्रय लेकर कार्य कर रही है, संकुचित 'व' कार में वह शक्ति अपने दिक् अथवा लम्ब की ओर अवगुंठित होकर वेध में किंवा डेप्थ डाईमेंशन में घनीभूत होना चाहती है। एक वृत्त का जो व्यास है, उसे ह्रस्व (छोटा) करने का प्रयत्न करो। यहाँ पर वृत्त के उपर जो शक्ति सक्रिय (काइनेटिक) रूप से अवस्थित है, यदि उस शक्ति का ह्रास नहीं हो जाता, अथच वृत्त का आयतन क्षुद्र से क्षुद्रतर होता रहता है, तब यह अवश्य स्मरण रखना होगा कि अवयव के संकोच के कारण शक्ति की निबिड़ता अथवा गाढ़ता (density) वर्द्धित हो रही है।

पहले वृत्त के जिस किसी स्थल पर शक्ति की जो मात्रा थी, वर्तमान आयतन के संकोच के कारण वृत्त के जिस किसी स्थल पर उस की निबिड़ता अथवा गाढ़ता वर्द्धित होती जा रही है। (गाढ़ता = Density) इस प्रकार शक्ति के घनत्व और वेधाभिमुखी (Depth Dimension) चाप की वृद्धि को हम प्राण की 'व' शब्दांतर्गत प्रक्रिया के द्वारा सूचित कर सकते हैं। अतएव जब 'सु' भी 'स्व' का आकार ग्रहण करता है, तब पूर्वोक्त प्रक्रिया संघठित होता है। अर्थात् प्रकाश्य रूप में जो गुरुत्व न्यून हो गया था, नेपथ्य में वह गुरुत्व बर्द्धित हो रहा है। इस स्व शब्द के साथ 'र' कार अथवा विसर्ग का योग करने पर यह ज्ञात होता है कि प्राण नेपथ्य में जाकर केवल कूर्मवत् स्थिर नहीं हो जाता, प्रत्युत 'र' अग्नि के समान सृष्टिमुख के समस्त प्रतिबन्धकों को दूर करके अपने महीयान तेज में स्वयं को विसृष्ट करता है। यही स्वः है सप्तमहाव्याहृति की तृतीय व्याहृति। इसका दिग्दर्शन होता है 'असौ' से। यह अव्यय है।

स्वाभाविक शब्द, स्वभाविक क्रिया, मंत्र-यंत्र-तंत्र

अतएव जो स्वयं अदृष्टधामा हैं, वे अप्रकट प्रभाव युक्त होने पर भी 'धाम्ना'

अर्थात् प्रभाव के द्वारा सचराचर का प्रसव करते हैं। उनका स्वाभाविक नाम है 'स्व'। व तथा उ के उच्चारणगत वैलक्षण्य एवं उसके रहस्य के सम्बन्ध में हमने पहले विवेचना किया है। इन दोनों वर्णों की जो चाक्षुषरूप आकृति और शरीर है, उससे भी यह वैलक्षण्य परिस्फुट होता रहता है। 'व' स्वयं को संवृत करके मानो आवरित रखता है। 'उ' में यह स्थिति नहीं है। उकार ने स्वयं को बाह्यतः प्रसारित करने के लिये मुक्त कर रखा है। प्रसंगक्रम में यह लक्ष्य करना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ का एक स्वाभाविक शब्दरूप है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ का एक स्वाभाविक कायरूप भी है। इन दोनों के अतिरिक्त उसका एक स्वाभाविक क्रियारूप भी है। प्रथम (शब्दरूप) है उसका मूलमन्त्र। द्वितीय (कायरूप) उसका यन्त्र है। तृतीय (क्रियारूप) को उस पदार्थ का मूलतन्त्र कहा गया है। "स्व" मन्त्र के द्वारा जो व्यक्त हो रहे हैं, उनका एक कायरूप और निजस्व तन्त्ररूप (क्रिया समभिव्यवहार रूप) भी है।

हमने मुखद्वारा 'स्व' शब्द का उच्चारण किया, अथवा इसे सुना। क्या इस कथित अथवा श्रुतिगोचर को स्वाभाविक 'स्वः' शब्द का स्वभाव अथवा प्रकृति कह सकते हैं? यदि ऐसा होता, उस स्थिति में स्वाभाविक शब्द एवं उसके वाच्य की अविनाभाव स्थिति होने के कारण "स्वः" शब्द के साथ-साथ स्वः रूपी पदार्थ भी प्रकट, विद्यमान हो जाता। महाकवि कालिदास वाक् एवं अर्थ के अविनाभाव सम्पर्क को व्यक्त करने के लिये जगत् के माता-पिता, पार्वती-परमेश्वर की उपमा देते हैं। अर्थात् जैसे शिव-शक्ति में अभेदत्व है, उसी प्रकार वाक् एवं अर्थ में नाम तथा नामी से भी अभेद विद्यमान है। इसी कारण "स्व" शब्द के उच्चारित अथवा श्रुत होने पर उसका जो वाच्य पदार्थ है, वह तत्क्षण प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो जाता? अवश्य ही किसी कारण से हमारे द्वारा उच्चारित अथवा श्रुत 'स्व' शब्द और उसका जो वाच्य है, इन दोनों के बीच कोई व्यवधान (Hiatus) आ पड़ा है।

जिसके द्वारा व्यवधान होता है, उसे कहते हैं अन्तरिक्ष। इस अन्तरिक्ष का वर्णन आगे किया जायेगा। यहाँ हम यह उपलब्धि करते हैं कि 'स्वः' प्रभृति स्वाभाविक शब्द का सम्यक् उच्चारण अथवा श्रवण नहीं हो रहा है। यह घटित हो रहा है हमारे उच्चारण यन्त्र तथा चित्त के कार्पण्य दोष के कारण। श्रद्धावीर्यपूर्वक निरंतर साधना द्वारा यह कार्पण्य विदूरित होगा। यह विदूरित होते ही सम्यक उच्चारण यन्त्र तथा चित्त कार्पण्य विदूरित होगा। यह विदूरित होते ही वे हमारे आह्वान के साथ ही साथ उपस्थित हो जायेंगे। क्या वर्तमान में सम्यक्रूप से समादर पूर्वक आहूत हो रहे हैं अथवा नहीं? जो बात मन्त्र के सम्बन्ध में है, वही यन्त्र तथा तन्त्र के सम्बन्ध में भी है। जिस यन्त्र की सहायता द्वारा अथवा क्रियाकलाप

के द्वारा उन्हे अधिगत करने का यत्न किया जा रहा है, वह यन्त्र अथवा तन्त्र एक ऐटम सत्ताशक्ति (मास एनर्जी) के केन्द्र अथवा न्यूक्लियस में संकुचित होकर पड़ा हुआ है। अतः सम्यक् यन्त्र उपलब्धित किये बिना हम खण्डशः प्राप्त अनुभूतियों को लेकर स्थित हैं। इसी कारण हमारी बुद्धि विवेचना के क्षेत्र में पग-पग पर विभ्रान्त हो जाती है। जिस अनुभूति के स्तर पर उन्नयन होते ही महान स्वयं को महान् रूप से प्रतिभात करने लगता है, अनुभूति के उस स्तर को महः (महर्लोक) कहा जाता है। यहाँ 'स्व' एवं 'सुरः' शब्द के तत्वगत् एवं प्रयोगगत वैलक्षण्य को स्मरण करना होगा।

'अयं' तथा 'असौ' प्रत्यय द्वय में जो अप्रतियोगी अथवा विषयीभूत नहीं है, उसे भुवः कहते हैं

'यह' एवं 'वह' में जो व्यवधान है, उसकी भावना कैसे होगी ? व्यवधान क्या उदासीन (न्यूट्रल) है ?

'अयं' अथवा "असौ" यह, और वह इन दोनों प्रत्ययों में परस्परतः व्यवधान की अपेक्षा रहती है अर्थात् एक व्यवधान को बीच में रखकर दोनों परस्परतः अलग हो जाते हैं। व्यवधान चाहे स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, व्यवधान रहना ही चाहिये। यह व्यवधान देशगत-कालगत-वस्तुगत अथवा सम्बन्धगत हो सकता है। 'यह जहां है वहां वह नहीं है'। जब 'यह' यहां घटित हो रहा है, तब 'वह' यहाँ पर घटित नहीं हो सकता। 'यह' एक वस्तु है। 'वह' अन्य वस्तु है। अतः यहाँ केवल देशगत (स्पेस इन्टरवेल) व्यवधान नहीं है।

जिसके द्वारा व्यवधान घटित होता है, अर्थात् जो 'यह' को 'वह' से देश-काल-वस्तु तथा सम्बन्ध जनित व्यवधान द्वारा दूर रखता है, उस व्यवधान की कोई आख्या नहीं की जा सकती। हाँ, जब हम एक व्यवधान की तुलना करते हैं (जैसे किसी एक त्रिभुज के तीनों कोणिक बिन्दु का पारस्परिक व्यवधान) वहां यह कहा जा सकता है कि 'इसमें इस प्रकार का व्यवधान है, उसमें उस प्रकार का व्यवधान है'। किन्तु जब हम क तथा ख रूपी बिन्दुद्वय के बीच के व्यवधान की अन्य किसी कल्पित अथवा वास्तविक व्यवधान के साथ तुलना नहीं कर रहे होते, तब तक व्यवधान को भी 'यह' अथवा 'वह' नहीं कहा जा सकता। इसी व्यवधान के ज्ञानार्थ क तथा ख का पारस्परिक दूरत्व और उसके कारण उनके पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण किया जाता है।

उदाहरणार्थ सूर्य तथा पृथ्वी के मध्य जो व्यवधान है, वह यदि सदा एक ही प्रकार का रहता, तब इन दोनों पिण्डों का पारस्परिक सम्बन्ध भी प्रायः एक ही प्रकार का ही रहता। 'प्रायः' का प्रयोग इसलिये किया जा रहा है, क्योंकि

सूर्य के चतुर्दिक् पृथ्वी का आवर्त्तन पथ सम्यक् रूप से वृत्त नहीं है, वह वृत्ताभास (Ellipse) है। अतः सर्वदा दूरत्व एक प्रकार का नहीं रहता। एक अणु में भी किसी न्यूक्लियस अथवा केन्द्र का आश्रय लेकर एकाधिक इलेक्ट्रान चक्रमण करते रहते हैं। वहां देशगत (स्पेसगत) परिमाण इतना न्यूनतम है, जिसकी कल्पना भी कर सकना कठिन प्रतीत होता है। स्थानाल्पता होने पर भी वेग अत्यन्त भीषण रहता है।

उनका वेग इतना भीषण रहता है कि उसकी तुलना आलोक की गति से ही हो सकती है। एक इलेक्ट्रान की गति के आगे पृथ्वी आदि की स्थिति प्रायः पंगु जैसी है। इस पर भी महान् आश्चर्य युक्त रहस्य तो यह है कि उस एटम के आणविक देश में (ऐटामिक स्पेस में) केन्द्र के साथ इलेक्ट्रान का व्यवधान तथा एक इलेक्ट्रान से दूसरे इलेक्ट्रान के मध्य का व्यवधान प्रचुर रहता है। यदि कोई एक भी इलेक्ट्रान (जो केन्द्र के चतुर्दिक व्यवधान रखते हुये प्रदक्षिणा कर रहा है) उस व्यवधान में ह्रास वृद्धि कर देता है, तब उस आणविक जगत् में एक विप्लव घटित हो जाता है। अर्थात् यह व्यवधान ही जागतिक पदार्थ समूह के पारस्परिक सम्पर्क का नियामक है।

प्रणव में भी उदाहृत

प्राण तथा चेतना के राज्य में आकर इस व्यवधान तत्व (इन्टिग्रल प्रिंसपल) के सम्पर्क नियामक भाव को हम देखते हैं। अथच यह स्वयं में उदासीन है। प्रणव के 'अ' कार एवं 'म' कार के मध्य में यह 'उ' कार रूप से विद्यमान रहता है। यही है भुवः।

अन्तरिक्ष शून्यमात्र नहीं है

अतएव यह ज्ञात हो जाता है कि व्यवधान स्वयं उदासीन होने पर भी शून्यमात्र नहीं है। क्या व्यवधान ईश्वर की तरह कोई व्यापक सूक्ष्म पदार्थ है अथवा नहीं है, इसपर यहां विचार करना उपादेय नहीं है। यदि ईथर का अस्तित्व न भी हो, तब भी पदार्थ समूह के पारस्परिक प्रभाव तथा सम्बन्ध की नियामिका किसी एक प्रकार की संस्था की विद्यमानता अवश्य है। यह स्मरण रखना ही होगा। जैसे आईन्स्टीन के आपेक्षिकतावाद के अनुसार जहाँ कोई भी जड़ पदार्थ विद्यमान है (यथा-सूर्य), वहां पर ही उसके समीपवर्ती स्पेस (देश) में एक निर्दिष्ट आकार अथवा प्रकार की वक्रता (Curvature) रहती है।

जिस कारण से किसी दूरवर्त्ती नक्षत्र से (सूर्य से होते हुये) कोई रश्मि हमारी पृथ्वी पर आती है, वह सम्यक्रूप से ज्यामिति की सरल सीधी रेखा के रूप में नहीं आ सकती। वह रश्मि वक्र होती हुई यहां आती है। नक्षत्र से सूर्य तक

और सूर्य से पृथ्वी तक जो अन्तरिक्ष अथवा व्यवधान है; वह यदि शून्य ही होता तब उस स्थिति में रश्मि में वक्रता नहीं आ सकती। अन्तरिक्ष शून्यवस्तु कदापि नहीं है। उसकी एक निजस्व आकृति प्रकृति है।

वैखरी-मध्यमा तथा पश्यन्ति रूपी त्रिविध जप् में व्याहृति-त्राय किस प्रकार से उदाहृत है ? मध्यस्थ व्यवधान सेतु-सन्धि। व्यवधान का नियामकत्व

वैखरी जप में मंत्र का जो यथार्थ स्वरूप है; वह हमारे सम्मुख प्रकाशित नहीं है ओर मंत्र के लक्ष्य (देवता) भी हमारे लिये अप्रकट ही हैं। पश्यन्ति स्तर में उन्नीत हो सकने पर मंत्र और मंत्रार्थ का प्रकृत-यथार्थ स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। परन्तु इन दोनों के मध्य एक व्यवधान की सत्ता रहती है। उसे मध्यमा कहते हैं। यदि वैखरी भू: है और पश्यन्ति स्व: है, तब मध्यमा है भुव:। यह भुव: एक खाली-रिक्त व्यवधान मात्र ही नहीं है। भू: तथा स्व के पारस्परिक प्रभाव और सम्बन्ध का निर्देशन भुव: ही करता है। अर्थात् मध्यमा का व्यवधान यह निर्धारित करता है कि पश्यन्ति की तुलना में हमारा जप वैखरी की किस अवस्था में चल रहा है अथवा नहीं चल रहा है।

किसी भाग्यवान की जपक्रिया वैखरी की इतनी अधिक उच्च भूमि में प्रारंभ हो जाती है, जहां से पश्यन्ति अधिक दूर नहीं रह जाती। पश्यन्ति जब निकट रह जाती है, तब उसका प्रभाव वैखरी जप के ऊपर घनिष्ठतर रूप से पड़ने लगता है। उस समय मानो पश्यन्ति भी अपनी ज्योति और रस को वैखरी पर बरसाने लगती है। फलस्वरूप वैखरी के देवता और मंत्र पश्यन्ति की ज्योति से इतने उज्वल तथा रस से इतने रसमधुर हो जाते हैं, जिससे हमारे मन प्राण आलोक-पुलक से भरने लग जाते हैं। उस स्थिति में अनुभव होता है "हे मेरे इष्टमंत्र ! तुमने अपने उज्वल रूप को मेरे सम्मुख प्रकट किया है, देखो ! अब यह रूप कभी भी मेरे लिये अगोचर न हो ! केवल इष्टमंत्र ही नहीं, मैंने अपने देवता को भी देखने का सौभाग्य प्राप्त किया है। फिर भी यह अनुभूति शायद वैखरी स्तर में आने पर स्थायी न हो ! यह आशंका है। क्योंकि अभी भी कुछ व्यवधान शेष है। अत: देखता हूँ कि वैखरी जप (जो कि साधक की ही एक संस्था है) एक रूप से स्थित नहीं रह जाता ! इसकी भी उत्तम-मध्यम-अधम रूप से तीन स्थितियां हैं। इन तीनों संज्ञाओं (स्थितियों) के कारण मध्यमारूप व्यवधान भी एक नहीं हो पाता। इसीलिये 'यह' और 'वह' के पारस्परिक संस्थान का संस्थापक है भुव:। (यद्यपि भुव; न तो 'यह' है न 'वह', तथापि इनके संस्थान का संस्थापक रूप है)।

भुवः शब्द का विश्लेषण और व्यंजना

भुवः शब्द में उ कार ने उव् रूप ग्रहण किया है। अर्थात् भुवः में जो 'उ' कार है, मात्र उसी ने (भुवः में) उ कार एवं 'व' कार रूपी मिथुन रूप प्राप्त किया है। इस मिथुन रूप के तात्पर्य का वर्णन किया जा चुका है। भुवः शब्द में 'उव्' युग्म की स्थिति से सूचित होता है कि अन्तरिक्ष अचल अथवा निष्क्रिय नहीं है। उसका भी संकोच-प्रसार होता रहना है। फलस्वरूप पदार्थ समूह की संस्था (Ensemble) परिवर्त्तित होती रहती है। प्रणव के अ तथा म के मध्य स्थित होकर उ ही भुवः रूप से विद्यमान है। इस प्रकार की विद्यमानता द्वारा वह अन्तरिक्ष का समर्थ शक्ति विग्रह हमारे सम्मुख प्रकट-प्रकाशित करता है।

'अयं' तथा 'असौ' प्रत्यय का विषय है महः

'अयं' और 'असौ' से जड़ित बृहत्तर अनुभूति कैसे हो सकती है ?

अन्धकाराच्छन्न वन में चलने का दृष्टान्त। अंशतः तथा क्रमिक ख्याति और समग्र-अक्रमिक ख्याति।

हमारी साधारण अनुभूति में जो 'अयं' है, वह उसी समय, 'असौ' नहीं हो सकता। और जो 'असौ' रूप से विद्यमान है, वह उसी समय 'अयं नहीं हो सकता। जो 'अयं' रूप से प्रत्यक्ष गोचर हो रहा है, वह किसी न किसी प्रकार से अन्तराल हट जाने पर ही 'असौ' रूप से विदित हो सकेगा। जिस वृक्ष को देख रहा हूँ वह "अयं" वृक्ष न होकर 'असौ' वृक्ष किस प्रकार से हो सकेगा ? यह तभी हो सकेगा जब उसे बिना देखे ही उसके सम्बन्ध में चिन्तन करूँगा। परन्तु जब यह प्रत्यय होगा कि "यह वह देवदत्त है", तब यहाँ एक ही स्थल पर यह 'और' 'वह' दोनों ही परिलक्षित होने लगता है। इस उदाहरण में इन दोनों प्रत्ययों की तुलना करने पर यह विदित होने लगता है कि द्वितीय प्रत्यय प्रथम की तुलना में अधिक व्यापक है। इसमें वर्त्तमान में देखे गये देवदत्त को जिस प्रकार से विषय बनाया गया है, उसी प्रकार से अतीत में दृष्ट देवदत्त को भी विषय बना लिया गया है।

और भी एक दृष्टान्त है ! मेघाच्छन्न अन्धकारपूर्ण रजनी में पथ अतिक्रान्त कर रहा हूँ। हाथों में एक टार्च है। चलते-चलते कभी-कभी उसे जलाकर देखता हूँ कि पथ सामने है और उसके आस-पास सब ठीक है। उस समय जहाँ पर हमारे टार्च का आलोक पड़ता है, उस स्थान को हम 'यह' कहते हैं। जब टार्च का आलोक अन्य स्थल पर पड़ता है, तब पहले देखा गया स्थान 'यह' ही 'वह' हो जाता है और अब जिसे देख रहे हैं वही 'यह' हो जाता है। अर्थात् पहले जिसे 'यह' रूप में उपलब्ध किया था, वह अब टार्च की रोशनी न पड़ने के कारण 'अनदेखा' होकर 'वह' रूप धारण कर लेता है। जैसे अभी गाय देखा। कहता हूँ कि 'यह गाय है'। गाय

के चले जाने पर वही 'यह गाय' अब 'वह गाय थी' इस अनदेखी स्थिति में आ जाती है। 'यह' अब 'वह' हो जाता है। अब यदि पथ पर चलते-चलते उस मेघाच्छन्न आकाश में विद्युत चमक उठे, उस स्थिति में हमें समस्त पथ और पथ की परिस्थिति एक साथ-युगपत रूप से प्रत्यक्षगोचर होकर 'यह' रूप में प्रतिभात होने लगती है। इस विपुल 'यह' में न जाने कितने छोटे-छोटे 'यह' और 'वह' सन्निहित हो जाते है, उनकी इयत्ता कैसे हो सकती है?

ऐसी विपुल अनुभूति जिसमें अनेक छोटे-छोटे 'यह' तथा 'वह' एकत्र ही सम्मिलित होकर प्रकाशित एवं प्रतिभात होते रहते हैं, उसका नाम है 'महः'। बृहदारण्यक के अनुसार ऋषि वामदेव ने ब्रह्मज्ञ होकर अपने पूर्व-पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त लिया था। "मनुरभवम्" इत्यादि।

यहाँ उन्हे इस विराट अनुभूति में कितने लाख जन्म "वह" रूप में प्रकट हो कर "यह" में आकर स्वयं को मिलित कर रहे थे, जैसे नाना दिशाओं से बहनी नदियाँ समुद्र में आकर मिल जाती हैं। अतएव 'महः' एक ऐसा महान् प्रत्यय है जिसमें 'यह' तथा 'वह' आकर सम्मिलित हो जाते हैं।

वस्तु शक्ति तथा अनुभूतिगत दृष्टिकोण से महर्लोक की व्यञ्जना। 'महः स्थाणु static) सामग्रो नहीं है, वह विवर्दिष्णु (Dynamic) है।

यह एक रहस्यावृत परिभाषा है। इसमें किसी एक व्यापक तथा समृद्ध स्थान में विभिन्न देश, विभिन्न काल एवं अवस्था को प्राप्त क्षुद्र-क्षुद्र ज्ञान समूह समाहृत होते रहते है। जहाँ 'यह' एवं 'वह' पारस्परिक रूप से आलिंगनबद्धता में विद्यमान है, वही महर्लोक है। जिससे विशेष-विशेष अनुभव समूह समान्याधिकरण्य हो कर तद्वत् विशेष सहकृत सामान्य ज्ञान का स्वरूप धारण करते हैं, वही महः है। केवल अनुभव के क्षेत्र में नहीं, प्रत्युत् वस्तु तथा उसकी शक्ति के दृष्टिकोण द्वारा भी महः को समझने की चेष्टा करना चाहिये। हमने जड़ जगत् के अशेष पदार्थों का विश्लेषण करते हुये उनके मौलिक उपादानों को प्राप्त किया है। उनका और भी अधिक विश्लेषण करने पर शक्ति (एनर्जी) की उपलब्धि हो सकी है।

हम ऐसे विश्लेषण और समीकरण के द्वारा महर्लोक की ही दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। यद्यपि यात्रा तो प्रारम्भ हो चुकी है, तथापि अभी भी दीर्घपथ अतिक्रान्त करना शेष है। कीट-पतंग आदि की तुलना में मनुष्य का ज्ञान महः है। साधारण ज्ञान की तुलना में विज्ञान का ज्ञान महः है। अतः महः की एक क्रमागत धारा उपलब्ध होती है। इस धारा का अन्त अथवा काष्ठा कहाँ है? जो 'महतो महीयान है, वह निरतिशय पूर्ण ज्ञान ही इसकी पराकाष्ठा है। अतः इन सब लक्षणों का विचार करते हुए 'महः' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

महर्लोक के ज्ञान का असाधारणत्व कैसे है ?

हमारे ज्ञान क्रमभावापन्न हैं। वे क्रमशः स्वरानुक्रम से एक के पश्चात् एक आयत्त होते हैं। इस समय हम जिस ज्ञान को 'यह' कहते हैं वहीं कुछ मुहूर्त्त के उपरान्त 'वह' हो जाता है। वह हमारी स्मृति में रह जाता है। जो भविष्यत् में अनागत् रूप में था, वही इस समय समागत होकर 'यह' हो गया है। ज्ञान की इस क्रमिकता के कारण वर्त्तमान काल में हम अतीत को 'वह' कह कर स्मरण करते हैं। भविष्यत् का अनुमान हम "जो भविष्य में है" इस प्रकार से करते हुये वर्त्तमान के 'यह' को उसमें मिलाते हैं। इस मिलन द्वारा हमें महर्लोक का एक चित्र अवश्य प्राप्त हुआ, तथापि यथार्थ महर्लोक तो अन्य प्रकार का है।

हम पहले अन्धकार में मार्ग अतिक्रान्त करते-करते टार्च के प्रकाश में एक प्रकार की सामान्य अभिज्ञता प्राप्त कर चुके होते हैं, परन्तु जब विद्युत विकास होता है, तब समस्त परिस्थितियां हमें पूर्णतः दृक्गोचर होने लगती हैं। इस स्थिति में हमें एक स्वतन्त्र अभिज्ञता होने लगती है। इस अभिज्ञता में केवल पूर्ववर्त्ती "वह" ही स्मृतिपथ में उपस्थित होकर "यह" के साथ मिलित नहीं हो जाता, प्रत्युत् अतीतकालीन सब कुछ (यह) तथा भविष्यत् कालीन "जो कुछ भविष्यत् में है" वह भी इसके साथ, अर्थात् वर्त्तमान के एक विपुल "यह" के ज्ञान में सम्मिलित होता हुआ "यह" रूप हो जाता है। स्मरण अथवा कल्पना आदि के समय ऐसा नहीं हो सकता। सिद्धगण तथा ऋषियों का जो भूत-भविष्यत् ज्ञान है, वह हमारी कल्पना तथा स्मृति से उद्भूत ज्ञान के समान नहीं है। जो सुस्पष्टता प्रभृति लक्षण प्रत्यक्ष ज्ञान में विद्यमान रहते हैं, वे सब स्मृति, अनुमान अथवा कल्पना में नहीं रहते।

वैज्ञानिकगण जगत् के वर्तमान अथवा दृष्ट अतीत के सम्बन्ध में बहुत दूर तक अनुमान करने में समर्थ है। इसी प्रकार वे भविष्यत् के सम्बन्ध में भी किंचित् कल्पना कर लेते हैं, फिर भी ऐसा ज्ञान सुस्पष्ट, असंदिग्ध और भ्रमरहित नहीं होता। सिद्ध अथवा ऋषि का जो ज्ञान व्यवहित एवं विप्रकृष्ट वस्तुओं के सम्बन्ध में होता है, वह इस प्रकार का कल्पना प्रभूत ज्ञान नहीं है। हमने अन्धकार में विद्युत विकास का जो उदाहरण दिया है, उस दृष्टान्त के द्वारा यह समझना होगा कि आर्षज्ञान कैसा है ? हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना से आर्षज्ञान केवल व्यापक एवं अकृत्रिम ही नहीं है प्रत्युत् उस ज्ञान की सुस्पष्टता और सौष्ठव भी अधिक ही है। हम अपने सम्मुखस्थ इस वृक्ष को जिस प्रकार से प्रत्यक्ष कर रहे हैं, उसकी तुलना में ऋषि एवं सिद्ध किसी भी अतीत तथा अनागत को और भी सत्यरूप से प्रत्यक्ष करते रहते हैं। वे उसकी उपलब्धि अत्यन्त स्पष्ट रूप से करते हैं। यह उसी प्रकार है, जैसे हम अपने चर्मचक्षुओं से देखे गये किसी पदार्थ को अणुवीक्षण

अथवा दूरवीक्षण यन्त्र के द्वारा और भी स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष कर लेते हैं। अतएव यह उपलब्धि होती है कि महर्लोक रूपी स्तर प्राप्ति के बिना इस प्रकार का अकृत्रिम, स्पष्ट और यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इस स्तर में जो ज्ञान होता है उसे बोधि, सम्बोधि, प्रातिभज्ञान आदि संज्ञा अथवा प्रत्यय युक्त कर सकते हैं।

महः शब्द का विश्लेषण तथा व्यञ्जना

महः शब्द के आदि में 'म' कार है। और अन्त में 'र' कार से युक्त 'हः' है। इससे यह ज्ञात है कि अ, उ तथा म के पश्चात् मानों एक सन्धि रेखा है। हमारी वाक् अथवा अनुभूति इस सन्धिरेखा को पार कर सकने में अक्षम सी रह जाती है। वह अपनी वृत्तियों का संचार इसी पार तक कर सकती है। वाक् के दृष्टिकोण से तीन मात्राओं (अ उ म) के पार जो अर्धमात्रा-नाद-बिन्दु तथा अमात्र है, उनका भी उन्मेष घटित नहीं होता। हम जब प्रणव अथवा अन्य किसी शब्द का उच्चारण कर रहे होते हैं, तब इनका उन्मेष नहीं होता।

अनुभूति के दृष्टिकोण से जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के ऊर्ध्व में जो कुछ है, उसका भी सन्धान हमें नहीं मिलता। अतः मानों मकार के पश्चात् एक बाधा सी है। इसका अतिक्रमण करने में हमारा मन और वाक् पूर्णतः अपारग है। इस नैसर्गिक बाधा एवं अवरोध को महाप्राण स्वरूप 'ह' कार भंग कर देता है। 'म' में आते-आते यह प्राणवृत्ति स्फुरित हो जाती है और 'ह' कार उसे महाप्राणमय करते-करते उर्ध्वलोक की ओर उत्सारित कर देता है। 'ह' के साथ जो 'र' युक्त है, वह अग्नि का वाचक है। 'म' में आते-आते वह अग्निशिखा निर्वापित सी होने लगती है। अब यही निर्वापित सी अग्निशिखा 'ह' कार के द्वारा विशेष रूप से उद्दीपित होती होती असीम ऊर्ध्वलोक की ओर अभिमुखी होने लगती है। जहाँ पर उसे शेष होते देखा था (अर्थात् 'म' में) वहीं से पुनः प्रारम्भ होकर नव-नव महान् एवं महत्तर ज्ञानराशि का उद्भासन होने लगता है। महः से इसी अभिनव आरम्भ तथा प्रकाश की सूचना प्राप्त होती है।

'जनि' प्रत्यय को कैसे समझना होगा ? विश्व व्यवहार का मूल कहाँ है ?

'असि' अथवा '.नि' प्रत्यय का जो प्रतियोगी है,

अथवा विषय है वह जन है।

'जनि' प्रत्यय से क्या विदित होता है ? विश्व में सब कुछ का अहरहः जन्म हो रहा है। परन्तु जन्म होकर भी वह एक प्रकार से नहीं रहता। नियत परिवर्तन होने लगता है। इस अविराम परिणामधारा में जीव की बुद्धि ने व्यवहार चलाने के लिये छ भावों अथवा अवस्थाओं की परिकल्पना किया है। कुछ की भी उत्पत्ति होने पर वह स्थित सा प्रतीत होता है; परन्तु वह स्थिर नहीं रह पाता !

उसमें परिवर्तन होने लगता है। तदनन्तर कुछ समय के लिये यह प्रतीत होता है कि वह परिवर्तन उसकी वृद्धि है, अर्थात् वह वर्द्धित हो रहा है। तत्पश्चात् यह विदित होता है कि वह अब वर्द्धित नहीं हो रहा है, उसका ह्रास होने लगा है। अन्त में देखा जाता है कि वह नष्ट हो गया अथवा मर गया ! जन्म से प्रारम्भ करके मृत्यु पर्यन्त परिणामवाद के छ स्तरों के अस्तित्व को प्राप्त होता है। वह छ रूपों में होने पर भी मूलतः एक हो है। 'होना' रूपी एक ही भाव स्वयं को छ प्रकार से प्रदर्शित करता है। यदि 'होने' मात्र से 'होने' वाला घटनाक्रम बन्द हो सके, उस स्थिति में परिणाम जैसा कुछ भी घटित हो ही नहीं सकता ! इस स्थिति में उसे ३, ५, अथवा छ रूपी किसी भी प्रकार से जान सकना असम्भव हो जाता ! अतः 'होना' में भी अवच्छेद रह जाता है। इसे कहते हैं Continuity of Becoming। जैसे Being अथवा अस्ति की अखण्डता है, Becoming में वैसी अखण्डता न रहने पर वहां प्रवाहरूप से अखण्डता का अस्तित्व अवश्य रहता है। किसी-किसी दृष्टिकोण के अनुसार यह गति अथवा धारारूप सत्य भी है। अक्षर अपरिणामी तथा नित्य जैसा कुछ भी नहीं है।

हमारे देश में क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धगण तथा अन्य देशों के प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारक भी ऐसी ही दृष्टिभंगी रखते हैं। वे इसी दृष्टिकोण में जगत् को देखते रहते हैं। अन्य दृष्टिकोण के अनुसार अक्षर नित्यरूप तथा सत्य है। उसमें जो जन्मादि परिणाम हो रहे हैं, वे कल्पित हैं। वे कल्पित होने पर भी व्यावहारिक रूप से सत्य हैं, अर्थात् जब तक जगत् प्रपन्च का भान होता रहता है, तब तक "हो रहा है" रूपी ज्ञान का अस्तित्व विद्यमान रहता है। इसलिये जबतक व्यवहार है, तबतक "हो रहा है" अथवा "होना" रूपी भान का अस्तित्व विद्यमान रहता है। इसके अभाव में सब कुछ अव्यवहार्य सा हो जाता है। निखिल व्यवहार के मूल में जो यह "होना" अथवा "हो रहा है" प्रभृति का बोध है, इसे जनि प्रत्यय कहते हैं। इस जनि प्रयत्य का विषम है 'जन'। उस जनलोक में जाने का अधिकार प्राप्त होते ही पंचम भूमि आयत्त हो जाती है। प्रथमतः 'यह', तदनन्तर 'वह'। उसके पश्चात् न तो 'यह' और न तो 'वह'। सर्वान्त में 'यह और वह'। इन चारों भूमियों का अतिक्रमण करते हुए यह सर्वविध व्यवहार जिसका आश्रय ले रहा है, उस तत्व में आ पहुँचा हूँ। वह तत्व है 'जनि'।

जनि अथवा मूल "होना किस अधिकरण से सम्भावित हो सकता है ? अस्ति एवं अस्मि।

एकोऽहं बहु स्याम् "का" मौलिक विश्लेषण।

यदि किसी एक लता को काट देने पर भी उसके मूल को (जड़ को) यथावत् छोड़ दिया जाता है, उस स्थिति में मूल से ही पुनः लता का उद्गम होने लगता

है। यह व्यापार पुनः-पुनः संघटित हो सकता है। अतः उसमें बारम्बर ऐसा कुछ होता रहता है, जिससे उसका बारम्बर होना सम्भावित हो जाता है। हमारे चित्त में भी प्रतिनियत रूप से अशेष वृत्तियाँ उदित तथा अस्तमित होती रहती हैं। उनका मूल संस्कार रूप से विद्यमान रहता है, तभी उनका इस प्रकार से उदय तथा अस्त सम्भव हो जाता है। अतएव यह सिद्धान्त है कि समस्त विशेष के 'होना' के मूल में एक सामान्यभाव का 'होना' आवाश्यक सा है। जैसे एक जलाशय है, उसमें विशेष विशेष समय पर, विशेष-विशेष स्थान पर तरंङ्ग, फेन, बुद्बुद् का उद्भव परिलक्षित होता है। और यह जलाशय भी इसलिये हुआ है, क्योंकि उसमें पहले से जलरूपी वस्तु रही है। इस प्रकार से हम परम्परा क्रम के द्वारा एक मूल 'होने' की स्थिति को प्राप्त करते हैं।

जो सर्वविध 'होना' है, वही है इस मूल 'होने' का विशेष-विशेष रूप। जिस घटना क्रम को 'हम नष्ट होना अथवा लय हो जाना' कहते हैं, वह भी इसी मूल 'होना' का ही एक प्रकार भेद है। अतएव ब्रह्मसूत्र की उक्ति 'जन्माद्यस्य यतः' का तात्पर्य है मूल देशकालादि परिच्छेद से रहित 'होने' का तत्व। सृष्टिसूक्त के द्वारा वेद ने कहा है कि अभीद्ध तपः से ऋत् एवं सत्य 'अध्यजायत्' अर्थात् उस अधिकरण से तपः तथा ऋत् जात हुआ है। वह सब इसी मूल 'जनि' अथवा 'होने' के लिये ही कहा गया है। 'तदधिकरणे' अर्थात् इस प्रकार 'होने' के लिये ही कहा गया है। 'तदधिकरणे' अर्थात् इस प्रकार 'होने' के मूल में और उसके आधाररूप में 'अस्मि' एवं 'अस्ति' रूपी भावद्वय की अपेक्षा रहती है। हम आगे के दो सूत्रों में सत्य एवं तपः के रूप का परिचय प्राप्त करेंगे। 'एकोऽहम् बहुस्याम्' इत्यादि श्रुति से भी सत्य व्याहृति में से तीन मूल व्याहृतियों का परिचय प्राप्त होता है।

जो मूल वस्तु 'अस्ति' रूप से चिर विद्यमान है, उसने स्वयं ही स्वयं को 'एकोऽहम्' भाव द्वारा अस्मि प्रत्यय का विषय बनाया है। यह है उसका ज्ञानमय तपः। तदनन्तर "बहुः हो" का संकल्प किया। यही है उनका मूल "होने" का रूप। इसी से सब कुछ हुआ है, होगा और हो रहा है। 'अस्तिता' और अस्मिता के अधिकरण में भी यही 'होने' की स्थिति विद्यमान रहती है। अर्थात् 'है' और 'हूँ' रूपी भावद्वय को आधार बनाकर ही "होगा" की अवस्था संभावित हो जाती है। इस अपेक्षा (संभावना) को याद रखते हुये "असदेव इदमग्र आसीत्" प्रभृति श्रुति-वाक्यों को समझने का प्रयत्न करो। 'असत्' का अर्थ एकान्तिक शून्य कदापि नहीं है।

जन से पहले वाले चारों लोकों का चतुर्विध रूपायण

शब्द के दृष्टिकोणानुसार यह लक्ष्य करना होगा कि भूरादि चारों तत्वों का जो नाम है, उनके अन्त में 'र' से जात विसर्ग रहता है। पहले वाले चारों तत्वों

(भू, भुवः, स्वः, महः) में 'होना' ने स्वयं को चार आकारों में रूपायित करते हुये परस्परतः शक्ति का आदान-प्रदान किया है। ऐसा रूपायण और शक्ति विनिमय 'र' से जात (उत्पन्न) विसर्ग द्वारा सूचित होता है। 'र' कार अग्नि का बीज है। इसी कारण इन चारों में अग्नि को विशेष रूप से व्यक्त स्थिति में देखा जा सकता है। जन तत्व में अग्नि का यह विशेषतः व्यक्त चतुष्ठय रूप अब तक आविर्भूत नहीं है। हम अग्नि के जिन चारों रूपों से परिचित हैं, उनके द्वारा इसकी यत्किंचित धारणा की जा सकती है। हम जड़ ब्रह्माण्ड में अग्नि के जिस सूक्ष्म तथा व्यापक रूप को देखते हैं, विज्ञान की भाषा में उसे तड़ित् शक्ति कहा जाता है।

इस तड़ित शक्ति के प्रकृत स्वरूप को विज्ञान नहीं जानता। वह केवल मात्र उन समस्त नियमों तथा पद्धति को किंचित ही जान सका है, जिसका अनुसरण करते हुये इस शक्ति का जागतिक विकास निष्पन्न होता है। समस्त जड़ वस्तु समूह इसी शक्ति का एक-एक विग्रह है। वस्तु समूह का समस्त व्यवहार भी इसी शक्ति का ही आदान-प्रदान है। जागतिक शक्तिरूप के दृष्टिकोणानुसार यही है 'महः'। यह शक्ति एक महान् समुद्र के समान इस जड़ जगत् में विद्यमान है और सक्रिय भी है। जब हम इस शक्ति को और भी विशेष एवं व्यक्त रूप से प्राप्त करते हैं, तब इसे आलोक कहा जाता है। आलोक का तात्पर्य केवल आँखों से देखा जाने वाला प्रकाश ही नहीं है, इसका तात्पर्यार्थ है किसी निर्दिष्ट पथ पर रेणु की तरह शक्ति का सूक्ष्म विकिरण (Radiation)। जागतिक शक्ति के दृष्टिकोण से यही है 'स्वः'।

इस विकिरण क्रिया को सम्यक् रूप से समझने के लिये एक चक्र का स्मरण करना होगा। जैसे चक्र की नाभि-अर तथा नेमि है, उसी प्रकार शक्ति के विकिरण में भी इन तीनों अंगों की उपस्थिति आवश्यक है। विकिरण की स्थिति में तीन स्थानों की अपेक्षा रहती है, यथा किस केन्द्र से विकिरण हो रहा है, किसमें हो रहा है और किस पर विकिरण हो रहा है। विकिरण का केन्द्र अथवा नाभि है स्वः, अवकाश तथा अन्तरिक्ष है भुवः (किसमें हो रहा है, वह है भुवः) और जिस आधार पर विकिरण हो रहा है और क्रिया कर रहा है, वह है भूः। यहाँ पर आकर जागतिक शक्ति पार्थिव अग्निरूप से प्रकाशित हो जाती है। अतएव ये चारो लोक अग्नि की चार भूमि अथवा चार रूप ही हैं।

हम यह भी उपलब्धि करते हैं कि ये चारो तत्त्व केवल बहिर्जगत के ही तत्व नहीं हैं, तथापि बहिर्जगत् की जो कार्यकारी शक्ति है, उसी के चार भावों को लेकर हम इन चारों तत्वों को विश्व के एकांश में उदाहृत सा देखते हैं। शक्ति के विकास तथा विन्यास के दृष्टिकोण से यह संक्षेप में कहा जा सकता है कि जड़-प्राण अथवा मन प्रभृति किसी भी केन्द्र अथवा नाभि का आश्रय लेकर शक्ति का उत्सरण

होता है। यही है स्वः अथवा सुवः का स्थान। जिन समस्त (निर्दिष्ट) निर्दिष्ट धाराओं की सृष्टि करके यह केन्द्र शक्ति विकीर्ण होकर अन्य वस्तु किंवा आधार पर आघात करते हुये प्रतिघात को प्राप्त होती है, तब जो व्यवधान अथवा अन्तरिक्ष उसका आश्रय लेता है—वह है भुवः। इस व्यवधान का अतिक्रमण करते हुये वह जिस पर पतित होती है और क्रिया-प्रतिक्रिया का रूप धारण करती है, वह है भूः।

तांत्रिक दीक्षा का दृष्टान्त

तांक्षिक दीक्षा में त्रिविध दोक्षा का प्रसंग प्राप्त होता है। प्रथम है शांम्भवी दीक्षा। शिष्य की सत्ता में जो महाकुण्डलिनी सहस्त्रार में स्थित है, उसे इस दीक्षा के द्वारा साक्षात् रूप से चैतन्यरूपिणी कर दिया जाता है। हम इस दीक्षा को स्वर्दीक्षा कहते हैं। जिस परम केन्द्र में शिवशक्ति अभेदत्व में विराजमान हैं, वही सहस्त्रागार केन्द्र ही इस दीक्षा का स्थान है। इसके पश्चात् है शाक्ती दीक्षा। इसमें शिष्य की मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति को (जो सार्द्धत्रिवलयाकारा है) जागरित करते हुये सुषुम्ना मार्ग द्वारा सहस्त्राराभिमुखी किया जाता है। अर्थात् 'अयं' एवं 'असौ' के मध्य का जो व्यवधान अथवा अन्तरिक्ष है, उसे क्रमशः चक्रों का भेदन करते हुये दूर कर दिया जाता है। अतएव हम इस दीक्षा को भुवर्दीक्षा कहते हैं। इसके अनन्तर मांत्री दीक्षा है।

मांत्रीदीक्षा साधारणी दीक्षा है। शिष्य के कानों में मंत्र का उच्चारण करते हुये यह दीक्षा देते हैं। व्यक्ति को सहस्त्रार से मूलाधार तक का कोई भी सन्धान नहीं मिलता। बाह्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श प्रभृति के कारण उसे जो अभिज्ञता होती है, वह उसे ही 'अपना ज्ञान' मान लेता है। अतः इसी ज्ञान की पृष्ठभूमि पर मान्त्री दीक्षा दी जाती है। यदि यह दीक्षा यथार्थतः शक्तिसंस्कार युक्त है, उस स्थिति में व्यक्ति स्वयं को इस रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि के ज्ञान में आबद्ध नहीं रख सकेगा। यही है भूर्दीक्षा।

मन्त्र जप किस प्रकार से उदाहृत है ?

मांत्री दीक्षा के द्वारा जिस जप को प्रारंभ किया जाता है, वह है वैखरी जप। हम इसे भूर्जप कह सकते हैं। इस प्रकार के जप में अनुभव होता है कि "यह जप चल रहा है। अच्छा चल रहा है अथवा अच्छा नहीं चल रहा है, इस जप का विच्छेद हो रहा है, अथवा इसमें विरति हो रही है।" "यह" प्रत्यय के आधार पर यह अनुभव घटित होता है। जप का लक्ष्य किस दिशा में है, उसका आदर्श कहां है ? उस लक्ष्य ने अबतक इस 'अदेखा' में स्वयं को आवरित सा रख छोड़ा है। यही पश्यन्ति है। वैखरी जप में जब यह अनुभूत होता है कि ऐसी एक अदेखा जैसी कोई स्थिति है, तब उसे, उस भाव को 'स्वः' कहते हैं। यह वैखरी जप के सब कुछ को स्वयं में से प्रसवित करते हुये हमारे साधारण ज्ञान में उपस्थित कर देता है। हमारा

साधारण ज्ञान दोषबहुल है, इसी कारण वह इस उपस्थित की गयी सामग्री का अपने स्वभाव में और अपने स्व छन्दः में सम्यक् रूप से दोहन नहीं कर सकता। पश्यन्ति में जो प्रणव नाद-विन्दु-कलात्मक रूप से पूर्णतः विराजित है, वही वैखरी में अवतीर्ण होकर अपने नादविन्दु रूप को संवृत कर लेता है। जो कलारूप विवृत होकर स्थित है, वह भी पुनः विकृतभाव को ही विवृत करने लगता है।

जो सूर्य का वरेण्य भर्गः है, वह मानों हमारे पास अन्तरिक्ष पथ से आते-आते रजः—तमः तथा संस्कार समूह की विविध बाधाओं के कारण अनेकांश में बाधित हो जाता है। अतएव वैखरी में जिस प्रणव का जप अथवा श्रवण होता है, वह संभवतः स्वमहिमा में विद्यमान नहीं है। 'अयम् तथा असौ' के बीच यह वैयर्थ्य व्यवधान घटित होने लगता है। इसी व्यवधान को दूर करने के लिये जपादि साधन का अनुष्ठान किया जाता है। वैखरी (भूर्जप) स्वयं को हठात् अथवा एकबारगी पश्यन्ति (स्वर्जप) में परिणत नहीं कर सकता। इस व्यवधान अथवा अन्तरिक्ष को दूर करने के लिये जिस मध्यमा जप का आश्रय लिया जाता है, वह दोनों के बीच का सेतु है। हम आगे यह भी देखेगें कि इस सेतु की दो सन्धियां अथवा दो मुख भी हैं। भूः सन्धि अथवा व्यञ्जन सन्धि प्रथम सन्धि है और दूसरी सन्धि को स्वः सन्धि कहा जाता है। इसे स्वर सन्धि भी कहते हैं। मध्यमारूपी जो सेतु है, उसे विसर्ग सन्धि की संज्ञा दी जाती है।

कतिपय साधारण तत्वों का सूत्राकृति में निर्देश

भुवर्जप द्वारा इन तीनों सन्धियों का अतिक्रमण करते हुये पश्यन्ति में स्थिति होती है। कतिपय साधारण तत्वों तथा तथ्यों को प्रसंगक्रम में जान लो :—

(क) भूरादि ही सप्तमहाव्याहृति रूप में सृष्टि के कण-कण में अनुस्यूत हैं। Basic Scheme, Pattern, Frame मूल विनियोग, मूल आकृति तथा मूल संस्था के रूप में भूरादि अनुस्यूत हैं।

(ख) अतः जपादि साधना की जो वैखरी प्रभृति भूमियाँ हैं, उन प्रत्येक में यह सप्तक स्तररूपेण वर्त्तमान रहता है। जैसे गायन में प्रधानतः तीनग्राम हैं और प्रत्येक में सप्त स्वर हैं।

(ग) वैखरी प्रभृति प्रत्येक भूमि में प्रधानतः अवम्, मध्यम और उत्तर (परम) रूप से संस्थात्रय की स्थिति रहती है।

(घ) जब जप अवम् संस्था में है, तब वह संस्था 'यह' वृत्तिमती होने के कारण लक्षणानुसार भूः है। उत्तम संस्था स्व है और मध्यम को भुवः कहते हैं।

(ङ) अर्थात् उक्त संस्थात्रय के अनुरोध के कारण व्याहृति सप्तक स्वयं को व्याहृतित्रय में समाहृत कर लेता है।

(च) जब जप वैखरी में रहता है, तब बैखरी की तुलना में पश्यन्ति 'स्व' है और मध्यमा ही भुवः है।

(छ) वैखरी की अपनी उत्तम संस्था अथवा भूमिका में जो स्वः है, उसमें जप उन्नीत होने पर मध्यमा का जो स्वः है, ये दोनों 'स्वः' अपने साजात्य के कारण पारस्परिक नैकट्य के द्वारा आलिंगन के लिये प्रस्तुत होने लगते हैं। यह उस प्रकार होता है जैसे कोई दूरवर्त्मचारी धूमकेतु तुहिन तमिस्त्रा भरे वितत व्योम में चलते-चलते किसी भास्वर ज्योतिष्क के पास आ पहुँचा हो !

(ज) इस प्रकार के नैकटिक साजात्य सम्पर्क के फलस्वरूप मध्य में स्थित मध्यमा (अचल निष्क्रिय तथा शून्यभाव से नहीं) की (उस सेतु की) त्रिविध परिणति घटित होने लगती है। प्रथम है व्यवधानत्व का अपचय, द्वितीय है आधानत्व का उपचय। तृतीय को संस्थानत्व का संचय कहते हैं। दो तड़ित् भरे मेघों में जो व्यवधान है, उसका चिंतन करो। अर्थात् एक मेघ से होते हुये दूसरे मेघ में विद्युत का संचरण होता है। जब तक उक्त परिणामत्रय की एक निर्दिष्ट मात्रा नहीं आ जाती, तब तक विद्युत का विनिमय इस प्रकार से घटित हो ही नहीं सकता।

(झ) अतः उक्त स्थल में वैखरी जप की उत्तम भूमिका में पश्यन्ति के स्पर्श तथा आवेश के कारण पंचगंगा की प्रतिग्रहाख्या धारा की वृत्तिद्वय संभावित होने लगती है।

(ञ) जब जप मध्यमाग्राम में उन्नीत हो जाता है, तब साधारण रूप से उक्त व्याहृति सप्तक का एवं विशेष रूप से व्याहृति त्रितय का अन्वेषण करना होगा। जब जिस भूमिका अथवा संस्था विशेष से जप चलता है, तब वही है 'भूः'। और 'वह' रूप से उसका लक्ष्य ही 'स्वः' है। व्यवधान अथवा Hiatus को भुवः कहा जाता है।

(ट) मध्यमा में प्रविष्ट होकर जप साधारणतः कार्यकारी चेतना की आधाररूपा विराट चेतना में प्रविष्ट, संगृहीत और सुरक्षित होना चाहता है। अब जप की माला भी बहिर्जापक के हाथ से हटकर अन्तर्जापक के हाथों में चली जाती है। मध्यमा तो संग्रह, संचय, उपचय की स्थिति प्रदान करती है, परन्तु यह सब नेपथ्य में होता है। मध्यमा की जो उत्तम संस्था अथवा 'स्वः' है, वहाँ पहुँच जाने पर मध्यमा सेतु की शेष संधि अब अपने अनुल्लंघनीय प्रान्त प्राचीर के रूप में नहीं रह जाती, क्योंकि उसका निबिड़ साजात्य पश्यन्तिरूप स्वः से हो जाता है। अब पश्यन्ति रूप 'महे रणाय चक्ष से' महासंस्थान सुहृद्रूप हो जाता है। इस महासन्धान सुहृद् संधि को ही विशेष रूप से ग्रहण करो 'संधि को पकड़ो'।

(ठ) पश्यन्ति में भी सप्त व्याहृति है। विशेषतः व्याहृतित्रय है।

(ड) अतः जपयज्ञ समस्त भूमियों में व्याहृति होम ही है।

(ढ) जपसूत्र में प्रज्ञा की पंच भूमि का विश्लेषण किया गया है। यथा विशारदी, ऋतम्भरा, सत्यम्भरा कैवल्यगर्भा तथा पारदृश्वरी। साधारणत: व्याहृति के चतुर्थ स्तर में (महः में) प्रज्ञा भी विशारदी हो जाती है। जनः, तपः तथा सत्यं पर्यन्त यही तीनों आलोकस्तर में ऋतम्भरा, सत्यम्भरा तथा कैवल्यगर्भा हो जाती है। इन तीनों के अतिग आलोकधाम में प्रज्ञा भी पारदृश्वरी हो जाती है। इस प्रज्ञा में विश्व तथा विश्वोत्तीर्ण अकुण्ठरूप से प्रतिभात होते जाते हैं।

(ण) वैखरी सिद्धजप में प्रज्ञा अनुविशारदी अथवा अन्वग विशारदी हो जाती है। अनु के द्वारा अनुकूलता, अनुग्रह तथा अन्वय का निर्देश प्राप्त होता है। मध्यमा सिद्दि सद्योविशारदी अथवा उद्ग विशारदी स्थिति होती है। तदनन्तर पश्यन्ति में प्रत्यग् विशारदी किंवा सम्यग् विशारदी अथवा ऋतंभरा आदि की स्थिति कही जाती है।

(त) हम आगे की विवेचना में यह उपलब्धि करेंगे कि सप्त व्याहृति में भी संवत्सर की ही तरह द्वादश विभाग होते हैं। प्रत्येक में अधिभूत, अधिदेव, अधियज्ञ तथा अध्यात्मरूपी चतुःस्थिति रहती है। इन चारों में से प्रत्येक में सांसिद्धिक, सांस्थानिक और सांसर्गिक रूपी भेदत्रय की सत्ता है। जन शब्द के साथ यज्ञ शब्द की तुलना करके शब्द के प्राण को जानने का प्रयत्न करो। यज्ञ के आदि में जो 'य' अर्थात् वायुबीज है (जिसके कारण सब कुछ क्षरणशील हो जाता है), वह इसके आदि में नहीं है। अक्षर के मूल में जो 'अ' कार है वही इन दोनों वर्णों को (अर्थात् यज्ञ के य को और जन के ज को) आश्रय प्रदान करता है। अथच, यह भूरादि की तरह अव्यय नहीं है। यही है सब कुछ "होने" की मूल आकृति और आवेग (Primordial Pattern and Impetus)। यही है Foundational Becoming.

अतिम दो व्याहृतियों का विश्लेषण करने पर और भी गंभीर रहस्यों का उद्घाटन होगा।

'अस्मि' प्रत्यय का जो प्रतियोगी-विषय है उसका नाम है तपः

'अस्मि' तथा 'मैं हूँ' इन दोनों का पार्थक्य

प्रणिधान से यह विदित होगा कि 'जनि' अथवा 'होना' रूपी प्रत्यय के मूल में और एक प्रत्यय रहता है, जिसे अस्मि प्रत्यय कहते हैं। "हूँ" अथवा "मैं हूँ", इस बोध को भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न करने पर वह क्रियाकारक रूप में अवश्य व्यक्त हो जाता है, किन्तु वस्तुतः 'अस्मि' रूपी क्रियाकारक का रूप अपरिस्फुट सा ही रहता है। "मैं बोलता हूँ, मैं सुनता हूँ, इस प्रकार के प्रत्यय के साथ अस्मि प्रत्यय को समरूप समझना भूल है। इस प्रत्यय में क्रिया और कारक, प्रमाता

एवं प्रमेय 'मैं' तथा 'हूँ' ये दोनों पक्ष स्वयं को इस प्रकार से निबिड़ रूप से जड़ित (In Intutional coalescence) रखते हैं कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। ये एक ही अभिन्न सत्ता के दो दिक् हैं। इन्हें हम बुद्धिविमर्श के द्वारा अलग कर लेते हैं। "है" कहने से जो कुछ विदित होता है वह "मैं" मात्रा ही है। इस रूप से स्वयं को उपनीत करते। पक्षान्तर से "मैं" कहने जो विदित होता है, वहीं अपने को "है" अथवा "हूँ" रूप से परिचिन कराता है। दोनों वृत्त परस्पर को छिन्न न करते हुये, पारस्परिक रूप से मिले रहते हैं।

अस्मि तथा ज्ञान का सम्बन्ध-ज्ञान तथा भास

सुषुप्ति अथवा गाढ़ निद्रा की आरम्भ अथवा समाप्ति की दोनों सन्धियों में परस्परत: अभिव्यक्त "मैं" तथा "हूँ" के रूप में अस्मि प्रत्यय का परिचय मिलता है। इस प्रकार की सन्धि में "है" का ऐसा-वैसा सभी रूप समाप्त हो जाता है और "मैं" भी अपने इस-उस तथा यहाँ-वहाँ के अहं का सभी प्रकार से त्याग कर देता है। अब "है" और "मैं" दोनों मिलित होकर "हूँ" अथवा "मैं" की भानरूपता को धारण कर लेते हैं।

जपसूत्रकार ने इसी प्रबन्ध में एक सूत्र में तत्व का जो लक्षण कहा है, और इस प्रसंग में तथा अन्यत्र भान का जो लक्षण प्रस्तुत किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भान के प्रत्यय (Experience) रूप से वृत्तिमान होने पर भी "यह अंशी उसी का अंश है, इस धर्मी का यह धर्म है" इस प्रकार की ख्याति (Logical Discrimination, Judgement) का स्फुरण नहीं होता। उसमें यह विकल्पना भी स्पष्टत: उदित नहीं होती कि यह सत्य है अथवा मिथ्या।

अथच, साक्षात् रूप से यह समग्र (गिवेन होल) रूपेण प्रतिभात होता है। अत: भान को समझने से पूर्व ४ लिंगों को समझना ही होगा। (१) समग्रत्व (होलनेस), (२) साक्षादपरोक्षत्व (इमीडियेट गिवेननेव), (३) सत्यमिथ्यादि विकल्पनाशून्यत्व (नेचुरल ऐस रिगार्डस वैलिडिटी आर इनवैलिडिटी आदि), (४) अंशांशीत्वाद्यख्यातिमत्व (इनडिसक्रिमिनेटेड बाई लाजिकल कैटेगरीज)। हमारी समस्त अनुभूतियाँ साक्षात् एवं समग्रभावेन इस प्रकार से भानरूप ही हैं। यदि हम तत्व को "थिंग इन इटसेल्फ" कहें तब भान को (गिवेन होल आफ इक्सपीरियेन्स आर प्रेजेन्टेशन कान्टिन्युअम को) फैक्ट ही कहा जायेगा। भान स्वरूपत: तथा स्वभावत: बुद्धिव्यापारव्याप्य नहीं है, लाजिकल नहीं है, वह एलाजिकल है। बुद्धिविमर्श के द्वारा (अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्मादि पदार्थ-कैटेगरीक् का प्रयोग करके) भान सामग्री बुद्धिव्यवहारार्ह (थिंकेबुल फैक्ट, रिव्यूइंग फैक्ट) हो जाती है। तब वह प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयरूप हो जाता है। वह पदार्थरूप में समग्रता प्रभृति चतुर्लक्षणों को खो देता है।

अब भान ही भास है। (फैक्ट सेक्शन अथवा फैक्चुअल) अथच भान-समष्टि निर्विशेष रूप से शुद्ध ब्रह्म है और समष्टि सविशेष रूप से जगद्ब्रह्म है। (यूनिवर्स अथवा परफेक्ट इक्सपीरियन्स)। अब व्यष्टि निर्विशेष रूप से साक्षी चैतन्य है। यह व्यष्टि ही सविशेष रूप से हमारे अनुभव जगत का बोध विश्व है। इस प्रकार से समष्टि व्यष्टि-सविशेष-निर्विशेष रूप से भान की विवेचना करने पर ज्ञान के निर्व्यूढ़त्व (एबसोल्युटनेस) की हानि होती है, तब भी अन्य मुख्य लक्षणों के कारण 'भान' संज्ञा प्रचलित है।

बोधविश्व तथा विश्वबोध

तत्वसूत्र में विशेषतः इसी प्रसंग का अनुसरण होगा। यहाँ यह देखना है कि बुद्धि व्यापार के मूल में जिसके द्वारा निर्वहण हो रहा है, वह है विमर्श। इस विमर्श की परामर्श प्रभृति वृत्तियां हैं। अतः बौद्ध व्यापार में (इन दि लाजिकल एप्रिसियेशन आफ दि एलाजिकल) अवभासादि भावपंचक उत्थित होते रहते हैं। इसके कारण हमारे भानरूप बोधिविश्व में अवभासादि रूप विश्वबोध होता है।

भान से सम्बन्धित बौद्ध विवृत्तिकैसे संभव होती है ?

हम यहां पर तप के लक्षण में जिस अस्मि प्रत्यय का उल्लेख कर आये हैं, वह भान रूप ही है। वह भास पंचक के रूप में अभिव्यक्त नहीं है। अतएव उसकी बौद्धविवृत्ति (लाजिकल डिसक्रिप्शन) नहीं दिया जा सकता। साक्षात् अनुभव (प्रत्यय) की जो विवृत्तिरहित मौनमग्नता है, उससे उतर कर इसे समझने और कहने का प्रयत्न करो। जिस कहा नहीं जा सकता, उस वस्तु को वाणी का विषय बनाये बिना और कोई मार्ग ही नही है।

अननुद्यानुवाद निबन्धन

अतः तत्वतः 'अस्मि' को अस् धातु को उत्तम पुरुष एकवचन नही समझना चाहिये। इस प्रकार से समझना अथवा बोलाना केवल अननुद्य (unrenderable) का अनुवाद (Render) करने का प्रयास मात्र है। बुद्धि के लिये ऐसा प्रयास करना स्वाभाविक सा है। इससे व्यवहार में अर्थ निर्वहण और निर्वचन सिद्ध हो जाता है।

केवल इसी सृष्टि के मूल में ही 'अस्मि' नही है। वह समस्त साक्षात् अनुभवों में समग्र भाव से (In its entireness) भानस्वरूप है। वह भासरूप नहीं है। उसमें पूर्वोक्त अननुद्यानुवाद के प्रयास के कारण भासरूपता आ जाती है।

हमारे साधारण बौद्ध बोध "मैं हूं" और ब्रह्म के "एकोऽहं बहुस्याम" रूपी ज्ञानमय तपः को एक श्रेणी में अथवा एक पर्याय में नही रक्खा जा सकता।

(क) ब्रह्म के ज्ञानमय तपः में अहं-अस्मि का ज्ञान स्वगत है। स्वजातीय अथवा विजातीय नही है। जैसा कि हमारा अहं होता है वैसा नही है।

(ख) उसमें अस्तिता की भी अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति नही है। व्याप्ति समता है। हममें अहमस्मि, त्वमसि इदमस्ति इत्यादि है।

(ग) उसमें अस्मिता एवं अस्तिता की केवल समव्याप्ति ही नही है। उसकी समव्याप्ति तथा समवृत्ति है (Identity in extension, in expression and in function)।

इसे श्रुति ने कही-कही रहस्यभाषा में महान् आत्मा कहा है। इसमें विज्ञान की भी आहुति हो जाती है। इसकी स्वयं की आहुति "शान्त आत्मनि" कही जाती है। यह एक महाआनन्द रूप है (इमेन्स ज्वाय आफ क्रियेशन) यही है निखिल सृष्टि का मूल !

यही है 'महत् अग्नि'। इसकी एक अभिव्यक्ति है षष्ट व्याहृति तपः। ज्ञानमय तपः विपुल तथा सीमाहीन है। मानो शान्त मौन आनन्द स्वयं को इस रूप में आविष्कृत करता है, उल्लसित करता है, जैसे "मैं हूँ" मेरे अतिरिक्त कुछ भी नही है, मैं ही सब कुछ हूँ। यही है भूमा का स्वाभिनिवेश।

[मूल में जो अस्मि अथवा तपः है, उसे 'स्वरूप में प्रत्यय' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस रूप में वह अस्मि प्रत्यय का प्रतियोगी और विषय नहीं है। इस प्रकार से ब्रह्म के आदि तपः और षष्ट व्याहृति तपः को एक मान लेने से भूल की संभावना हो जाती है। प्रथम है आविः, द्वितीय है व्याहृति। मूल में जो तपः है, वही व्याहृतिसप्तक में 'प्रकृति' के रूप में अनुस्यूत रहता है]

यहां उपनीत होकर हम तपः को ब्रह्म के मूल में आविरूप से उपलब्ध करते हैं। फलतः अधिष्ठान में अखण्ड 'सत्यम्' ने स्वयं को 'ऋतञ्च सत्यञ्च' रूप में सृष्टि धारा के मूल मिथुन के रूप में अभिव्यक्त किया, जिससे अस्ति के आधार में अस्मि का द्योतन हो सका।

अधिष्ठान में शान्त, प्रपंचोपशम् अद्वैत सत्य ज्ञान आनन्द ही (अस्ति भाति प्रियं) आविरूप से तपः होकर मानों आनन्द की मौनमग्न समाधि को भंग कर रहा है। सृष्टि भी तो मूलतः आनन्दाभिव्यक्ति ही है। (आनन्दाद्ध्येव-इत्यादि)। इस मौनभंग से क्या विदित हो रहा है ?

शान्त अधिष्ठान में सत्य-ज्ञान-आनन्द तो अभेदत्व में विराजित है। वहां तीन नहीं है, एक है। अथवा जो अनिरुद्ध और अलक्षण है, उसे एक भी कैसे कहा जा सकता है ? अतः मौन ? चुप !

परन्तु जब वह आविरूप से तपः है, तब मौनभंग हो गया। इसमें मानो ज्ञान ने सुप्तोत्थित होकर अपने दोनों पार्श्व में सत्य तथा आनन्द, दोनों का सन्धान

प्राप्त कर लिया ! यही है स्वाभिनिवेश, आत्मसंवित्। एक ओर के दास 'अस्ति' (सत्य) से कहा "तुम हो ! अच्छा रहो। सब कुछ का अधिष्ठान होकर स्थित रहो ! शवशिवरूप से पड़े रहो।" दूसरी ओर के दास आनन्द से कहा "उठो, उठो ! तुम्हारा मौन अब मुखर हो। तुम्हारी समाधि ही छन्दः हो। तुम्हारी शान्ति अब उल्लास बने, विलास बने !" इससे आनन्द को वाणी, सुर तथा छन्दः प्राप्त हुआ। "हे अपूर्व विश्वसंगीत ! इस महासंगीत के जो नायक हैं, वे शुद्ध अधिष्ठान मात्र नहीं है, वे हैं, "कविः पुराणः अनुशासिता च"। उस समय वे स्वयं तपोनाथ हैं। उनका ज्ञानमय तपः है आनन्द की रासलीला। अस्ति का शयन, प्रिय का उत्थान। सत्य के आधार पर आनन्द का उल्लास-विलास होता है। तभी जो अनवद्य अपरूप विराट है। उसकी छन्दोमयी प्रकृति है।

सर्वविध सृष्टि प्रयास के मूल में क्या है ? वस्तु Elan Vital

गायन करो। गानें के पहले अन्तः के किसी मौन प्रकोष्ठ से एक वेदना अथवा एक पुलक बाहर आकर मानों यह कह रही है कि "यह देखो, मेरी ओर घूम कर देखो। मैं किसी अतल अंधकार में आत्मसंवित् खोकर पड़ी हुई थी। तुम्हारी दोहाई ! तुमने मुझे वाणी दिया, छन्द; एवं सुर दिया !" यहीं तो चिरन्तन तपोनाथ ने मेरे भीतर आनन्द की सृष्टि करते हुये नव-नव विकास स्फुरित करने वाले मोहन-स्पर्श का संचार कर दिया !

क्या केवल गायन ? प्रत्येक प्रयास शक्तिभूमि के निगूढ़ गोपन केन्द्र में इस प्रकार के कुहकस्पर्श की अपेक्षा करता रहता है। अन्दर के किसी अजाने कक्ष में आनन्द समाधि है। स्तब्ध मौनभाव ! बाहर है वेदनाविधुरता ! वह चाहता है रस; आनन्द, किन्तु आनन्द का संवित् कब होगा ? आनन्दसंवित् अर्थात् आनन्द का उल्लास ! तब आनन्द गोपन नहीं रह जाता। जीवन में उत्सरित होता है भाव में; आकांक्षाओं में। तब सृष्टि होती है। जो आनन्द को स्वसंवित् दान करते हुये उसकी गाढ़ सान्द्रता को सावलील करके क्लान्तिहीन, विरामहीन सृष्टि की प्रेरणा प्रदान करता है, वही है अग्निरूप तपः। जो Joy Congealed है, उसका फल है Joy out flowing & overflowing.

क्या सब प्रकार के प्राणों के विकास मूल में यह नहीं है ? इस प्रेरणा को Vital Impetus अथवा Bergsons के स्थान पर और भी व्यापक रूप से Elan Vital की संज्ञा दी जा सकती है। फिर भी प्राण के मूल में जो आनन्द है; वह अस्मिरूप है। "यह मैं हूँ" इस प्रकार से अपना आविष्कार होता है। क्या यह प्रेरणा का प्रेरयिता नहीं है ? जो सत्य है, वही ऋत भी है। (ऋत् = Dynamic, प्राण-धर्मी) यह सब हैं—स्वसंविद का फल !

जड़ का जितना भी शक्तिविकिरण है (विशेषतः स्वभावविकिरण) वह सब किस गोपन 'अस्मि' अथवा आत्मसंवित् के द्वारा हो रहा है, क्या इसका संवाद विज्ञान को प्राप्त है ? वह ह्वाईटहेड की 'Primordial Creativity' द्वारा किसका आभास देने का प्रयत्न कर रहा है ?

जीव एवं ब्रह्म का तपः। आनन्द संवित्ति

विज्ञान अथवा बौद्धविमर्श भी जड़ की प्रान्तभूमि में आकर स्वयं जड़ मूढ़वत् हो जाता है। इसे स्वभाव (Naturalism) अथवा यदृच्छा (इनडिटरमिनिज्म) अथवा अजाना रहस्य (एगनोस्टिसिज्म) आदि अनन्योपाय होकर कहा जाता है।

जड़संग से विमूढ़ इस बौद्ध विज्ञान की समिधरूप से कल्पना करो। इसकी आहुति दो। "वह मैं आनन्दरूप हूँ", यही है आनन्द संवित्। यह जो महान् 'अस्मि' है, यही है आनन्द की महाउल्लास मूर्त्ति। समस्त विश्वभुवन इसी में स्फुरित होते रहते हैं, नाचते रहते हैं, और लय को प्राप्त होते रहते हैं।

यदि संभव हो सके तब इसकी आहुति दो शान्त आत्मा में। ज्ञान के एक ओर सत्य अथवा अस्ति है, दूसरी ओर है आनन्द। यहां ज्ञान अभिन्न एकरस हो जाता है। अब निर्विशेष भाव मात्र रहता है। वहां 'भास' की कोई गन्ध ही नहीं है।

किन्तु 'अस्मि' के एक ओर 'अस्' है, दूसरी ओर प्रियम् (आनन्द) का 'म्' है। इन दोनों का एक अव्यक्त मिथुनरूप होता है। वही है आवीरूपता। अर्थात् समस्त सविशेष भान एवं भास का आविर्भाव इसी मूल से होता है। अतएव आविः के 'इ' कार (गति एवं इन्धत्व) की प्राप्ति होती है। अतः अस्+म+इ=अस्मि।

जीव एवं जड़ की प्रेरणा और प्रयास को भी इसी अस्मिरूप तपः का आश्रयण लेना होता है। समग्र सृष्टि के उन्मेष काल में भी 'सोऽतप्यत' ! इस मूलतपः को सांसिद्धिक रूप से (नित्यरूप से) देखने पर भी विचार का प्रयोजन है, यद्यपि जीव एवं जड़ के प्रयास जनित तपः में और ब्रह्म के तपः में मूल लक्षणगत समानता रहने पर भी स्पष्टतः पार्थक्य परिलक्षित होता रहता है।

प्रथमतः जीव अथवा जड़ का तपः कदापि ज्ञानमय तपः नहीं है। कृच्छ्रतपः आकार धारण करता है। यह निःसंदिग्ध है कि इससे आनन्द संवित्ति की प्राप्ति होती है, तथापि जीव की 'स्व' चेतना सर्व क्षेत्र में प्रतिभात नहीं होती। उसका प्रायशः बोध होता है दुःख अथवा क्लेश निवृत्ति के ऋणात्मक (निगेटिव) भाव में !

द्वितीयतः तपः परम्पराक्रम से बाधा अथवा रोध को हटाने वाले निवर्त्तक के रूप में अनुभूत होता है। इस स्थल पर तपः को रोध को पूर्णतः चूर्ण तथा दग्ध करते हुये भग्न करने का कर्म करना पड़ता है। पहले भग्न करना, तत्पश्चात् गढ़ना ! पहले हटाना तब सज्जित करना।

तृतीयत: लीला स्वरूप ही आनन्द का निजस्व है। यह किसी भी क्षेत्र में, यहाँ तक कि जड़ के क्षेत्र में भी पूर्णत: बाधित नहीं होता। फिर भी बाध्यता (डिटरमिनिज्म) और परस्परापेक्षिता (कोरिलेटिविटी) का बन्धन विशेषत: दृढ़ बना रहता है।

चतुर्थत: यह कहना है कि जीव का तप: कार्यत: सापेक्षत्व धर्मी है। जबकि ब्रह्म का तप, सत्य के अधिष्ठान से आनन्द ज्ञानमय है, अबाधित है, लीला कैवल्य-धर्मी है और निरपेक्ष एवं स्वतंत्र है।

अत: हम सांसिद्धिक के रूपत्रय को प्राप्त करते हैं।

(क) परम सांसिद्धिक—जैसे तपोब्रह्म।

(ख) सामान्य सांसिद्धिक—भूरादि सप्त व्याहृति से सर्वत: ओतप्रोत स्व-स्व लक्षणाक्रान्तरूप (अथवा कास्मिक पैटर्न और इम्पिटस)।

(ग) विशेष सांसिद्धिक—सृष्टि की विशेष-विशेष अभिव्यक्ति में उक्त व्याहृति सप्तक की जो विशेष आकृति तथा प्रत्यय है। प्रकृति तो रहती ही है, तब भी विशेष-विशेष होने पर भी सांसिद्धिक ही है। प्रकृति, आकृति, प्रतिकृति तथा प्रत्यय का लक्षण जपसूत्र में अंकित होगा।

तप:रूप आनन्द जागृति, छन्दोरूप से आनन्द का सर्वत्र प्रकाश और लीलायन

तप का मूल आलेख्य है अस्ति (सत्य) के आधार पर इस अपरूप छन्द: लीलायित आनन्द की जागृति। इसका विस्मरण करके जपादि साधन में प्रवृत्त होना एक विडम्बना है। सत्य की उक्त आनन्द जागृति ही समावृत्ति का सार निष्कर्ष है। सृष्टि में प्रपंचित होने पर आनन्द जागृति और आनन्द का उल्लास उस अपरूप छन्द: रूप का अन्तर्बहि है। यह स्थूल-सूक्ष्म में सर्वत्र उदाहृत है। विराट नक्षत्र जगत् से लेकर छुद्र रेणु पर्यन्त में और चेतन में, प्राण में, जड़ में ऐसा कुछ भी नहीं है, जहाँ इस छन्द: (Law और हारमोनी) का मूर्त्त विग्रह न हो! जैसे तृण के ऊपर मणि-प्रभा के समान प्रभात का शिशिरकण! यह भी तो एक मूर्त्त मूक उपनिषद जैसा है। और यह क्षुद्र कुसुमकोरक? यह भी एक निगूढ़ रस तथा छन्द से समृद्ध महाकाव्य जैसा है। यह विहगकाकली? मानो एक संगीत की मनोज्ञ तान हो! क्या यह अलंकार अथवा अतिशयोक्ति है?

इस युग के वैज्ञानिकों ने आणविक बम की सृष्टि के द्वारा अपना महात्रासदायक स्वरूप उपस्थित किया है। तब भी उनके अतिरिक्त इस प्रकार से किसने विश्व के अन्दर, बाहर, स्थूल, सूक्ष्म में सर्वत्र, सत्य के आधार पर आनन्द जागृतिरूप तपो ब्रह्म का इस प्रकार का अपरूप, छन्दोनिपुण नृत्यरत नटराजरूप देखा है? हम

छान्दोग्य श्रुति सुनते हैं, तथापि जिस छन्दोग को लिये बिना छान्दोग्य हो ही नहीं सकता, क्या उस छन्दोग को हमने पहचाना है ? छन्दः शब्द के उत्तर में केवल गानार्थक 'गै' धातु ही नहीं है। गमनार्थक गम्धातु के द्वारा छन्दोग की व्युत्पत्ति करने में तो हम समर्थ नहीं हो सके हैं !

प्रकट विश्व के छन्दोग रूप का प्रदर्शक 'नव विज्ञान'

वर्त्तमान युग में वैज्ञानिक मनीषा ने अणु से प्रारंभ करते हुये विराट ब्रह्माण्ड पर्यन्त को छन्दोग रूप से ओतप्रोत पाया है। एक अणु की निजस्व आकृति क्या है ? उत्तर में यही कहा जायेगा कि "उसे सम्यक् रूप से पकड़ नहीं पा रहा हूँ। तब भी देखो उसका यह छन्दोग रूप !" जिस तड़ित्शक्ति के घनविन्यस्त रूप को वैसा समझता हूँ "सर्वकर्मसु"। विराट के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है।

एक ओर न्यूक्लियर फिजिक्स है, दूसरी ओर ऐस्टरल फिजिक्स की स्थिति है। सर्वत्र ही छन्दोगत्व रूप ही ज्ञातव्य है। यही है ज्ञेयत्व, मेयत्व एवं व्यवहारत्व। सूक्ष्म के क्षेत्र में है क्वैन्टम और वेव मैकैनिज्म। स्थूल के क्षेत्र में रिलेटिविटी की स्थिति है। इसको ही छन्दोग की पाद मात्रा का विश्लेषण और समीकरण कहा गया है। अतः उसकी दृष्टि में आपाततः छन्दोगत्व के अतिरिक्त विश्व की और जो भी विवृत्ति परिलक्षित होती है, उसका प्रमाण द्वारा अत्युपगम हो चुका है, इसे बुद्धि स्वीकार नहीं करती। ऐसी विवृत्ति आज भी प्रमाण की प्रान्तसीमा में खड़ी हुई है। यदि विश्व की पृष्ठभूमि में किसी विश्वकर्मा को हम स्वीकृति देते हैं, उस स्थिति में उसे महासंख्यान कुशल एक अतिमानस (मैथमेटिकल सुपरमाइन्ड) के रूप में स्वीकार करने के लिये विज्ञान को बाध्य होना पड़ेगा।

क्या केवल जड़ के ही क्षेत्र में ? जड़ तो अपने पूर्वप्रख्यात जड़त्व को खो बैठा है। वह है एक विराट समीकरण (इक्वेशन) का एक करणीय (unknown Term) मात्र ! उस समीकरण के समाधानार्थ उसके परीक्षण तथा अन्वीक्षण में जितना अधिक अग्रसर हो रहा हूँ, उतना ही यह देखता हूँ कि करणीय अपने पूर्व-पूर्व स्वीकृत मान (वैल्यू) का अंशतः त्याग करते हुए, नवीन-नवीन मान को ग्रहण कर रहा है। वह वृद्ध शिष्टजनों के द्वारा स्वीकृत बाध्यता और निश्चितता (डिटरमिनेटनेस और सर्टेनिटी) का त्याग करते हुये, बढ़ता जा रहा है। अतः छन्दोगत्व की आनन्दजागृति के कारण उसमें ऐसा छन्दोगत्व बनता जा रहा है जिसमें लीलाबीजत्व निहित है।

प्राण तथा अन्तर के क्षेत्र में भी क्या महाछन्दोग का अपूर्व विश्वरूप हमें परिलक्षित होता है ? जो मिथुनत्व (पोलैरिटी प्रिंसपल) सृष्टि में कार्यरत है, उसका

सत्य परिचय जड़ाणुओं में उर्मिसमीकरण की धनात्मक अथवा ऋणात्मक विवृत्ति की आड़ में छिपा रहता है। जीवकोष में और जनिकोष (जर्माप्लाज्म) में तथा वर्त्त-मान में अवमानसतत्व (साइकोलाजी आफ सबकांशस) के विश्लेषण के द्वारा इसे पाकर ही संवित् को वापस पाया जाता है। यह भी तो वही है। मिथुन की सम्परि-ष्वक्त, संष्वक्त, अभिष्वक्त, अनुष्वक्त और प्रतिष्वक्तरूपी पंचावस्था को प्रत्यक्ष प्रमाण के क्षेत्र में इस नवविज्ञान के समान और किसने हमें बतलाया है ?

किन्तु 'यह और 'वह' में विज्ञान और प्रज्ञान का व्यवधान दूर नहीं हुआ।

विश्व में ऋति एवं यदृच्छा

वैज्ञानिक दृष्टि

यह निःसंदिग्ध है कि विश्व छन्दोग है। अनिश्चय अथवा Probability को भी इस विश्वमहाघटना का सूत्रधार मान लेने पर भी छन्दः को छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि अनिश्चय का भी निश्चायक छन्दः (ला आफ प्राबेबिलिटी) जो है। एक पासा फेकने पर उसका कौन सा भाग ऊपर होगा, यह तो अनिश्चय की श्रेणी में ही है। फिर भी बारम्बार इस पासे को फेकने पर यह निश्चयाक छन्दः विदित हो जाता है कि उसका यह अथवा वह पृष्ठभाग ऊपर होगा। अर्थात् दोनों में से कोई एक भाग ऊपर आयेगा, यह निश्चित हो जाता है। इसे अन्य स्थान पर विवेचित किया जायेगा। स्टैटिस्टिक (Statistics) विज्ञान इसी अनिश्चय-निश्चा-यक छन्दों के ऊपर निर्भर करता है।

विश्व के मूल में स्थित ऋति (Law) अथवा यदृच्छा (chance) का विनिर्णय करने में अभी भी विज्ञान व्यस्त सा है। हाईजनवर्ग के अनिश्चय सूत्र (प्रिंसपल आफ अनसर्टेनिटी) के प्रमाणित हो जाने के पश्चात् भी Plauck और आईन्सटीन प्रभृति विज्ञानाचार्यगण ने ऋति अथवा Law को ही मूल में मानने का तथ्य स्वीकार किया है। तब क्या यदृच्छा आभास मात्र ही है ? हमारे ज्ञान में पुरा-कालीन चित्र प्रतिभात नहीं हो रहा है, अतः क्या यही अनिश्चय ही यदृच्छा है ? उन्नीसवीं शती में यह सोचा जा रहा था। अब मिले हुये प्रमाण अन्य दिशा की ओर इंगित कर रहे हैं। प्रयोग के लिये (अर्थात् मूल का प्रश्न 'मुलतवी' Suspend रखते हुये), "Nature is a mixture of Law and chance अर्थात् प्रकृति के राज्य में ऋति तथा यदृच्छा दोनों मिलित होकर सृष्टि के कारण है" यही मानकर विज्ञान का कार्यक्रम चल रहा है।

निखिल विज्ञान का ध्यानविग्रह। छन्दोग विश्वरूप।

(Cosmie Harmony)

इससे विश्व की छन्दोगमूर्ति विकल नहीं हो जाती। इच्छा भी तो निऋति (निगेशन आफ ला) है। वह ऋति से निषेधरूप नहीं है। व्यष्टि भाव से किसी

घटना में यदृच्छा की सत्ता रहने पर गुच्छ (ग्रुप), श्रेणी (सिरीज) और समष्टि (टोटैलिटी) के रूप में सब कुछ तो विधिविहित ही घटित होता रहता है। कुछ भी विधि से बहिर्भूत होकर घटित नहीं होता। सब कुछ व्यवस्थित रूप से होता है। कहीं भी अव्यवस्था नहीं है।

वर्तमान काल में गणित एवं पदार्थ विज्ञान (फिजिक्स) ने प्रमेय विचार का ढ़ाचा बनाया है, उसे ही आदर्श मानकर अन्य विज्ञान (जैसे बायोलाजी, साईकोलाजी, सोशियोलाजी, एकोनामिक्स आदि) अपना स्वरूप गठित करते हैं। अर्थात् जो जहाँ तक सम्भव हो सका, वह वहाँ तक स्वयं का गठन (प्रमाण के द्वारा) साक्षात् अभ्युपगन्तव्य विद्या (Positive Science) के आकार में करने की चेष्टा करता है। सकल का ध्यान ही छन्दोग का विश्वरूप है। सहस्त्रशीर्ष-सहस्त्रपाद का दो एक पाद ही दृष्टिगोचर होने पर भी ध्यान किया जाता है विश्व-रूप का, Cosmic Harmony का।

ऋति अथवा यदृच्छा का सम्बन्ध सन्धिमुख्य अथवा विग्रहमुख्य है ?

(Sympathetic or Antipathetic)

ऋषियों के प्रज्ञान में जो छन्द है, जिस छन्द को मूल बनाकर यह सृष्टि होती है, जिसके सम्बन्ध में वेद ने बारम्बार कहा है, वह छन्द वास्तव में कौन सी वस्तु है, उसे अभी तक नहीं जाना जा सका है। विज्ञान का Law of Chance किसी मूल मिथुन की प्रतिष्वक्त अवस्था है। यह परस्परतः प्रतियोगी और प्रतिद्वन्द्वी भाव है।

उसमें (विज्ञान के Law of chance में) केवल मात्र द्वैत (Duaiity), द्वन्द्व (Polarity) ही नहीं है, प्रत्युत् प्रतिद्वन्द्व (Antithesis) भी है। प्रतिद्वन्द्व का सन्धिमुख्य एवं विग्रहमुख्यरूपी भावद्वय भी है। प्रथम में द्वन्द्व होने पर भी समानार्थता के कारण सहयोगिता (Sympathetic Polarity) है। दूसरे में उसकी विरोधावस्था (एन्टीपैथी) प्रबल होने लगती है। 'ला आफ चान्स' सम्यक् रूप से सन्धिमुख्य होने पर भी प्रकृति में नहीं है। व्यष्टि (इन्डिवीजुअल) में यदृच्छा अपना स्वाधिकार बनाये रखती है, फिर भी वह संघ में, श्रेणी-समष्टि में ऋति के सम्मुख अपने स्वाधिकार से त्यागपत्र दे देती है। अतएव विश्व में ऋति का ही राजत्व है। यह ऋति और भी व्यक्तरूपता के कारण रीति, विधि, धारा एवं धर्म का रूप धारण कर लेती है।

छन्द का रूप, विज्ञान तथा प्रज्ञान में

ऋति तथा यदृच्छा के प्रतिष्वंग में विग्रह मुख्यता की सत्ता रहने पर ऋति को नियति (डिटरमिनिज्म) कहते हैं। नियति को पूर्वभवीय (प्री डिटरमिनिज्म)

तथा परभवीय (पोस्ट डिटरमिनिज्म या फाईनलिज्म) रूपी भावद्वय से विवेचित कर सकते हैं। यद्यपि किसी कल्प में सब कुछ पहले से ही निर्धारित नहीं भी हो सकता है, परन्तु कोई भी भावी लक्ष्यानुरोध (विथ रेस्पेक्ट टु ए गिवेन एन्ड) निर्धारित हो सकता है।

इन दोनों प्रकार की नियति का विपक्ष (एन्टीथीसिस) है यदृच्छा ! इन दोनों परस्पर विपक्ष (थीसिस एण्ड एन्टीथीसिस) नियति तथा यदृच्छा के प्रतिष्वङ्ग के उर्ध्व में अनुष्वङ्ग (सिन्थिसिस) भूमि कहाँ है ?

वह है छन्दः।

यद्यपि विज्ञान ने परोवरीयान रूप से विश्व में सर्वत्र छन्दः को अनुस्यूत दिखलाया है, तथापि अभी भी उसकी दृष्टि के समक्ष यथार्थ छन्दः प्रकट नहीं हो सका है। यद्यपि विज्ञान जिस प्रकार से प्रज्ञान के छन्दोग का उदाहरण स्थूल सूक्ष्म में प्रदर्शित कर रहा है, उस प्रकार से कोई भी नहीं दिखला रहा है, तथापि अभी भी ऐसे छन्द के सम्पूर्ण अवयव का प्रकाशन नहीं हो सका है, जो स्वयं दार्ष्टान्तिक है।

वे समस्त भूत समूह में गूढ़ रूप से अन्तर्हित हैं। आनन्द की 'मात्रा' सब कुछ में है। वही सबका जीवन है। इसी की जो पादमात्रा है, जो निखिल प्राण का व्याकरण है, वही है छन्दः। जपसूत्र में उक्त है "छन्दो व्याकरणं प्राणानाम्"। अतः आनन्द और प्राण के आधार में ही छन्द की अभिव्यक्ति रहती है और उनकी अभिव्यक्ति होती है छन्द के द्वारा।

मौलिक छन्द का लौकिक प्रत्यय की भूमि पर अवतरण

सत्य के आधार पर आनन्द की आत्मरुपता (जागृति) होने से ही इस प्रकार की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। अर्थात् जो महासांसिद्धिक तपः है, वह होता है।

तब तप है 'ऋतञ्च सत्यञ्च'।

ऋतं एवं सत्यं मिथुनरूप से सम्परिष्वक्त से लेकर अनुष्वक्त पर्यन्त की चारो भूमियों में छन्दः है।

प्रतिष्वङ्ग का सान्धिमुख्यत्व भी छन्दोनुग है। इतने पर भी विग्रहमुख्यत्व में और दो पक्षों के समन्वयापेक्षाबाधितत्व में (इन दि केस आफ अनवर्केबल सिन्थि-सिस) यह अपने छन्दोरूप को विस्मृत कर देता है। उसे खो देता है।

सत्य के अधिष्ठान में उर्जित 'अस्मि रूप जो आनन्द है, वही स्वयं को सृष्टिधारा में सर्वत्र छन्दोरूप से लीलायित करता है। यह देखा जाता है कि 'ऋतञ्च सत्यञ्च' छन्द की आदि मिथुनाकृति (प्राईमार्डियल पोलैराईज्ड प्रोटोटाईप) है।

यहाँ देश-काल तथा वस्तु परिच्छेदादि भी अभी तक परिस्फुट नहीं हो सके हैं। अर्थात् अभी सत्य एवं ऋतं भी पृथक् वस्तुरूप से प्रकट नहीं हैं। जब छन्दः सृष्टि-धारा के अवतरण में "समुद्रोऽर्णवः" रूप से विविध आकृति (पैटर्न) का प्रकाशन करते-करते लौकिक अभिज्ञता के क्षेत्र में आ जाता है, उस समय उसे 'नियति तथा यदृच्छा' के युग्मरूप में देखा जाता है, अर्थात् विज्ञानानुमोदित स्थिति में उसका अनुभव होता है !

यह कहा गया है कि विज्ञान की दृष्टि में यदृच्छा (चान्स अथवा प्रौबेबिलिटी) छन्दोहीनता (निगेशन आफ ला) मात्र नहीं है। फिर भी इस स्थिति में आते-आते छन्दः की यथार्थ प्रकृति (सत्य के अधिष्ठान में उर्जित अस्मिरूप आनन्द की पादमात्रा प्रभृति क्रमाभिव्यक्ति) अवलुप्त हो जाती है। ('अव'=अवधारण तथा निश्चय)। अतः अवलुप्ति के कारण यथार्थ प्रकृति और यथार्थ परिचय की हानि होने लगती है। जिस प्रकार से नियति एवं यदृच्छा में हुई है, उसी प्रकार से।

अवतरण तल से उत्तरण का क्रम

यहाँ से उत्तरण, अधिरोहण अथवा अभ्यारोहण की धारा का आश्रयण करना होगा। यही है व्याहृति से समावृत्ति, अवलुप्ति से अवज्ञप्ति (रियलाईजेशन)।

समावृत्ति अथवा अवज्ञप्ति की प्रत्यग् धारा ('पराञ्चिखानि' के विलास क्रम में) प्रवर्त्तित होने से विश्व की नियति तथा यदृच्छा अपने पराक्त (Exteriorisation) का परिहार कर देती है। अर्थात् प्रथमतः जो अधिभूत रूप था, वही क्रमशः अधिदेव, अधियज्ञ और अध्यात्म रूप हो जाता है। यह धारा प्रवर्त्तित रहने पर अब छन्द बाह्यतः व्यूढ़ (इम्पोज्ड और आर्डरेन्ड) नहीं होता। वह क्रमशः आभ्यन्तर से व्यक्त (इवाल्वड्, मैनिफीस्टेड) होने के लिये रूपायित हो जाता है।

अभ्यारोही क्रम-अहल्या का पाषाणी तनु

जपसूत्र में सर्वभूत समूह के स्थेष्ठ-नेदिष्ट-मर्मौकः को 'हृत्' कहा गया है। यह हृत् अथवा हृदि किस वस्तु में विद्यमान है ? केवल हम में ही नहीं, एक धूलिकण में भी है। आनन्द !

जपसूत्र के अनुसार आनन्द चतुःमात्रा में रहता है। जैसे प्रणव की दृष्टि से—(१) अमात्र तुरीयानन्द-(शान्त=स्वयं लसित, जैसे प्रकाश के दृष्टिकोण से स्वप्रकाश),

(२) धनमात्र आनन्दतपः—जो उल्लसित आनन्द है,

(३) अन्तमात्र आनन्द छन्दः-यह विलसित आनन्द है,

(४) बहिर्मात्र (क) आनन्द पिण्ड (ख) आनन्द ब्रह्माण्ड, जो अलसित आनंद है।

वाक् के दृष्टिकोण से—(१) मग्न मौनानन्द।
(२) उर्जित स्फोटानन्द।
(३) व्याकृत मुखरानन्द।
(४) व्याकृत मूकानन्द।

हम जिसे शिला तथा प्रस्तर आदि समझते हैं, उसका भी हृत् आनन्द ही है। वह अलसित है। वह अतद्रूप से प्रतिभात, जड़वत्, आत्म संमूढ़वत् आनन्द है। यदि उसमें आनन्द संवित् रहता, तब अहल्या पाषाणी कैसे? तब तक तो मिट्टी भी मिट्टी नहीं है। तब तो केवल आणविक शक्ति और नियति-यदृच्छा को लेकर ही पदार्थ विज्ञान नहीं है!

ऐसी स्थिति में (आनन्द संवित संचार की स्थिति में) अभ्यारोह, उसका उत्तरोत्तर आनन्दोन्मेष और उसके छन्द का भी बद्धादि शापमोचन परिलक्षित हो सकता है।

तब पाषांण में और स्वयं में सात्मता की उपलब्धि हो जाती है। फलस्वरूप 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'। सर्वत्र आनन्द संवेदन और समानच्छन्द संवेदन के अभाव में केवल मात्र अस्तिभातिता से इसकी, पाषाणत्व की, परिसमाप्ति नहीं हो सकती।

सब में आनन्द को ही आधार बनाकर और उसे उत्सरूप में उपलब्ध कर 'पांक्तकर्म'—'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता' इत्यादि चल रहा है। उसमें यह नहीं है, केवल अन्ध नियति और ख्याली-काल्पनिक यदृच्छा है। यह क्या?

जैसे हमारा अदृष्ट और कर्म है, वैसे ही पाषाण का भी है। फिर भी उसी के सम्पर्क से हमारा वर्त्तमान अथवा क्रियमाण अदृष्ट (प्रारब्ध) है। हमारे सम्पर्क से ही उसका क्रियमाण अदृष्ट अथवा प्रारब्ध संचालित होता है। उसे हम वर्त्तमान व्यवहार में 'जड़ मात्र' कहते रहते हैं, यही है अहल्या का श्राप! इस शापमोचन के लिये उसके और हमारे अदृष्ट को एवं कर्म के वर्त्तमान क्रियाकारक फलानुपात को बदलना ही होगा। यह कार्य भी कर्म के ही द्वारा सम्पादित हो सकेगा। 'कर्मेति मीमांसकाः' कर्म ही प्रभु है।

परन्तु कर्म भी श्राप ग्रस्त है। वह अदृष्ट के पाश में, विशेषतः प्रारब्ध के पाश में आबद्ध है। विशेषतः यह उसका कर्म है जो 'अहंकार—विमूढ़ात्मा हो चुका है!

तब उपाय क्या है?

प्रसंगतः अहल्या का श्राप और श्राप विमोचन का रहस्य

यदि सर्वतंत्रस्वतंत्र आनन्द ही आधार में और उत्स में नहीं होता, यदि तपः एवं छन्दः भी आनन्द की स्वात्माभिव्यक्ति नहीं होते, तब तो कोई उपाय ही नहीं था।

कर्म की जो पाशबद्धता है, वह तो कल्पित, आरोपित है और उसकी आनन्दोल्लास-विलासरूपी जो स्वच्छन्दता है, वही है उसका स्वरूप ! अतः आरोप से स्वरूप में जाओ। यही है 'अभ्यारोह'।

जिस परिमाण में परच्छन्दता से स्वच्छन्दता की ओर, परवशता से स्ववशता की ओर अग्रसर होगे, उसी परिमाण में तुम्हारा कर्म छन्दोग होगा और विश्व भी छन्दोग हो जायेगा, तुम्हारी दृष्टि में। अतः नियति एवं यदृच्छा रूपी विराट और कल्पित बहिः पाश का मोचन करते-करते अग्रसर होते रहो !

अभ्यारोह के प्रथम सोपान में अदृष्ट तथा कर्म, द्वितीय सोपान में दैव और पुरुषार्थ, तृतीय सोपान में रीति (बिहेवियर) तथा नीति (प्रिंसपल), चतुर्थ सोपान में पर धर्म तथा स्वधर्म। पंचम में ऋति एवं घृति, षष्ट में तपः संकल्प अथवा काम, सप्तम में तावकीन (तुम) और मामकीन (मैं) अष्टम मे भूमैवैकः।

अष्टम धाम में, आलोकधाम में जो हैं, उनके उद्येश्य से सातो की कलपना 'सप्तान्नानि' रूप से करो ! शाप और शापविमोचन का रहस्य इस प्रकार से अवगत करो।

तपः में कृच्छ्र से प्रारम्भ करके क्रमोन्नतधारा अलसित आनन्द-जागृति

जपसूत्र के परिशिष्ट में उक्त "क्रियाकर्मभ्या मदृष्टदृष्टफलत्वम्" सूत्र पर कारिका आदि में अनेक निम्नोक्त प्रसंग उद्घृत हैं—

स्थूलसूक्ष्मादिसंव्यूढ़ भुवनचक्रनेमिषु।
अदृष्टनिर्मिता संस्था ह्याब्रह्मस्तम्बदेहिनाम्।
व्याष्टिसमष्टिभेदेन चादृष्टं गण्यते द्विधा।
वस्तुनामिह प्रत्येकं चादृष्टकर्मसम्पुटम्॥
संस्थावस्थे ह्यदृष्टेन व्यवस्था कर्मणा भवेत्।
चक्रनेमिस्थिते कीटे न कर्म्मानवकाशता॥
ब्रह्मत्वादपि सर्व्वस्य न स्वभावापमर्द्दनम्।
सर्वसंस्थावशत्वेऽपि ह्यात्मवशं स्वभावतः॥
अदृष्टचालितं सर्व चक्रेष्विह भ्रमद् भ्रमत्।
ह्यवशमिव कर्माणि कुर्व्वंददृष्टमश्नुते॥

अदृष्टाज्जायते कर्म कर्मणादृष्टमूर्ज्जितम् ।
कर्मादृष्टकृते घूर्णिपाके सर्वं निपातितम् ।।
तथापि कर्मणाँ मूले मात्राऽनन्दस्य निश्चिता ।
ह्यवशं प्लवमानस्य मोक्षसम्भावना यतः ।।
आदौ मयि ततो बाह्ये वैराजे कर्मकर्त्तृता ।
अन्तर्यामी ततः स्वामी ततो यः परमेश्वरः ।।
परमात्मा प्रभुस्तस्माद् योऽभिन्नोऽन्तवात्मनः ।
एवं प्रारब्ध पाशाद् वै कर्मविमोचनं कुरु ।।
यावन्नद्यानदीनाथे नैकान्तिक समर्पणम् ।
मामकस्तावकस्तावदुच्छ्वासो वेति जल्पना ।।

महा अथवा परम सांसिद्धिक रूप से तपः ही सप्तमहाव्याहृति है । सामान्य सांसिद्धिक रूप से भी तपः ही सप्तव्याहृति है । अर्थात् भूस्तपः, भुवस्तपः इत्यादि । भूरादि के लक्षण के ही अनुरूप इन तपः सप्तक की स्थिति है । इनमें भूस्तपः, भुवः स्तपः तथा स्वस्तपः को कृच्छ्रतपः कहते हैं, महस्तपः और जनस्तपः को वीर्यतपः तथा तपस्तपः और सत्यतपः को उर्ज्जस्तपः कहा गया है ।

कृच्छ्रभूमि में बोध प्राबल्य (डामिनेन्ट रेजिस्टेन्स फैक्टर) है । फलस्वरूप तपः को "रोधस्" अथवा 'तटसीमा' मानकर आयास को कथंचित् परिश्रम से करना पड़ता है । यहाँ, अर्थात् विशेष सांसिद्धिक स्थल पर तपः शक्ति की Canalisation, ताटस्थ्य गति है और यह शक्ति है कृच्छ्राध्वगा ! उक्त रोधः (कन्स्ट्रेनिंस फैक्टर) जिस परिमाण में कृतवेध (पायर्स्ड) होता है; उसी परिमाण मे तटस्था तपःशक्ति स्वच्छन्दता प्राप्त करती है । अब यह है वस्तुतः महाध्वगा और मूलाध्वगा । जहाँ 'यह' और 'वह' एक धारा में सम्मिलित होकर महः रूप हैं; और जहाँ सब कुछ के 'होने' का मूल (जनः) विद्यमान है, वहीं पर तपः शक्ति 'रोधस्' को उच्छिन्न करते हुये अपने मूलप्रवाह को प्राप्त कर लेती है ।

तपः में जो आनन्द जाग्रत है, उसका स्वरूप (स्वलसितादि भेद)

तपः इसके भी पश्चात् की दो भूमियों (तपः एवं सत्यम्) में अस्मि तथा अस्ति का आश्रय लेकर स्वभावोल्लास और स्थिति को प्राप्त करता है । इन्हीं दोनों में यथाक्रमेण उर्ज्जोध्वगा (तपः में) समध्वगा (सत्यम् में) हैं । इसके पश्चात् जो अध्व है वह है 'कोऽद्धा वेद ? इस पंचाध्वगा तपोगंगा का आश्रय लो ।

चालू भाषा में कहा जाता है—तपजप—जपतप ।

जप को तपः का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए स्वयं को छन्दोनुह, छन्दोग तथा छन्दोरूप से तपोमय होकर तप के स्वभाव, स्वाच्छंद्य की गतिस्थिति को प्राप्त

करना होगा। अर्थात् आनन्द की दृढ़ अलसिता से आनन्द की अबाधित स्वयंलसिता में जाना ही होगा। वहां ज्योतिः तथा रस अभिन्न हैं। वहां पर आनन्द भी अन्य किसी का प्रकाश्य नहीं है, यहां तक कि साक्षी का भी प्रकाश्य नहीं है। वह स्वप्रकाश है। उसकी स्वप्रकाशता ही उसका स्वलसित्व है। 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्' यह श्रौत आनन्द ही ब्रह्म है। उसमें इतरापेक्षित्व का लेश भी नहीं है। अर्थात् यह दृष्टिकोण उचित नहीं है कि 'अस्तिभाति' रहने पर ही आनन्द होगा।

स्वरूप में तो आनन्द ही 'अस्ति' है और आनन्द ही 'भाति' भी है। सविशेष भाव से आनन्द ही उल्लसित, विलसित तथा अलसित हो रहा है। आनन्द स्वतः स्वलसित है। उल्लसित रूप में वह 'अस्मि' प्रत्यय की प्रतियोगी षष्ट व्याहृति तपः है। विलसित रूप से वह छन्दः (विशेषतः गायत्री) है। अलसित रूप से वह विसर्गरहित छन्द छद्म है, छदि एवं बद्ध है, जिसका लक्षण आगे दिया गया है। वर्चः, तेजः, उर्ज्जः प्रभृति को लसितत्व की ही मात्रा माना गया है।

तपः आलोचना की जो गहनगाढ़ता है, वही गहनतर तथा गाढ़तर हो जाती है सत्य की आलोचना के समय ! सत्योन्मुखी 'तापसी' बुद्धि को दिशारिणी करके इसमें प्रविष्ट होना चाहिये। यह प्रयास विशेषतः फलप्रद है।

अस्ति प्रत्यय के प्रतियोगी; विषय, का नाम है सत्य

बुद्धि और उसका विमर्श। सप्त व्याहृतिरूप सत्यख्याति किस प्रकार से संभावित होती है ?

यह सत्य सप्तव्याहृति की अंतिम व्याहृति वाला सत्य है। (अर्थात् जो तपः के पश्चात् है)। यही सत्य है। अर्थात् जो सत्य 'सत्यम् ज्ञानमनन्तम्' के स्वरूप लक्षण से उक्त है, उसे सप्तव्याहृति वाले सत्य के साथ अभिन्न करना ही होगा। वह सत्य पश्चात् में वर्णित सूत्र में 'सत्' रूप से लक्षित हो रहा है। यह सत्य 'अस्ति' अथवा 'है' प्रत्यय का विषय है। परन्तु वह सत्य किसी प्रत्यय का विषय नहीं है। प्रति + गमनार्थ 'इ' धातु प्रत्यय। उस सत्य के सम्बन्ध में 'प्रति' अथवा 'इ' दोनों में से किसी के लिये भी स्थान नहीं है। इन दोनों के लिये उसमें अवकाश ही नहीं है।

जो स्वयं ब्रह्म है उसका प्रति तथा प्रतियोगी कौन है, और ऐसा कौन है जिससे अथवा जिसके द्वारा ब्रह्म गतिमान होता है ? बुद्धि विमर्श के प्रान्तर में आकर तत्व ही 'भान' हो जाता है। बुद्धि विमर्श में यह 'भान' आकर 'भास' हो जाता है। सप्तव्याहृति में भासोन्मुखी भानरूपता रहती है। अर्थात् यह सब बुद्धिविमर्श की प्रान्तभूमि में रहकर भी, बुद्धि विमर्श में प्रविष्ट होकर अनेक विशेष-विशेष लक्षण-

धर्मःसम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। यह न करने पर आनन्द संवित् पुनः 'अस्ति' के आधार में' 'अस्मि' रूप जागृति का अर्थ निर्वहण कैसे कर सकेगा ?

जो स्वयं अपांङ्क्त है, अमात्र, निष्कल, अनन्त है, उसमें पद-मात्रा-कला-काष्ठा कल्पित होकर छन्दोरूपता कैसे आ जाती है ? जो आनन्द साक्षात्, अमेय और असंख्येय है, वह मानार्ह (मात्रा) और संख्येय कैसे हो जाता है ? बुद्धि विमर्श (लाजिकल एप्रिसियेशन) की जो प्रान्त भूमि है, वहां जाकर वाक् तथा मन बिना कुछ पाये (अप्राप्य) वापस लौट आते हैं ! (निवर्त्तन्ते) ! किसे न पाकर लौट आते हैं ? समग्र भान को न पाकर लौट आते हैं। समग्र भान = फैक्ट, ऑर—गिवेन एज् ऐ होल।

विमर्श पंचक के भास पंचक द्वारा ही व्यवहार है। अथच बुद्धि और बुद्धिविमर्श एक नहीं है। जहां विमर्श की सीमा है, वहां बुद्धि की सीमा नहीं है। बुद्धि बोधि तथा बोधरूप से अपने विमर्श में पारगा है !

बुद्धि बोधिरूप (एज इन्ट्यूशन-सहज अथवा योगज) से भान को ग्रहण करती है। वह बोधरूप से तत्व में (दी थिंग इन इटसेल्फ) अवगाहन करना चाहती है। भानग्रहण में उसके आदि में ऊ कार के स्थान पर ओ कार हो जाता है और 'क्ति' विभक्ति का 'इ' रह जाता है परन्तु 'त' हट जाता है। तत्वावगाहन में 'इ' चली जाती है, उसके स्थान पर 'अ' आ जाता है। विश्वबोध से इसी बोध-बिम्ब, अवबोध, शुष्कबोध तथा निजबोध के वैलक्षण्य की भावना करो। इस बोध-पंचक का ज्ञान हो जाने पर निर्मलबोध समुदित हो जाता है।

परिमाण में आना ओर अनुभव में आना एक ही वस्तु है ?
Procoss और Percoption कहां मिलित होते हैं ?

इस वर्णगत परिवर्त्तन की व्यञ्जना का विचार करो।

बोध में 'अवगाहन'। बोधि में 'इ' गतिसम्भावना (ऑर पासिबिलिटी आफ बिकमिंग) रूप से विद्यमान है। वह बोध में 'अ' होकर अक्षरमात्रा (Changeless Being) हो रहा है। अर्थात् बोधभूमि में आकर बुद्धि अपने तीन मूलभूत व्यवहार निर्वहण लक्षण का परिहार करती है, यथा—

(1) 'उ' कार—ओष्ठ्य = व्याकरण तथा व्याहरण।

(२) 'त' कार = दन्त्य = छेदन अथवा विश्लेषण

(३) इ कार = तालव्य = निम्न तल से उच्चतल में गति (जो 'मात्रास्पर्श' मात्र है, उसे मात्रापादादिक्रमेण मेयता और ज्ञेयता के साथ-साथ समीक्षा-परीक्षा-समीक्षा क्रम द्वारा प्रमेयता के उच्च क्रम में ले जाना।

बोध में जो 'ओ' कार है वह प्रणवाश्रय लेता है। प्रणव के अतिरिक्त और कुछ भी, तत्व में प्रविष्ट होने योग्य प्रतीत नहीं होता। 'ज्ञातुं द्रष्टुं' पर्यन्त तो अन्य

का भी उपयोग है, किन्तु जहां 'प्रवेष्टुं' प्रवेश करने की बात है, वहां पर प्रणव ही परिनिष्ठित है।

यहां परिमेयत्व एवं संख्येयत्व (मेजरेबिलिटि एण्ड Knowability) रूपी दो भेद अथवा व्यवधान दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जो परिमेय है, वही ज्ञेय है। जो ज्ञेय है, वह परिमेय नहीं हो रहा है। जगत् में जिसका माप किया है (जैसे आणविक विकिरण, ताड़ित चौम्बक शक्ति आदि), वह वास्तव में अथवा तत्वतः क्या है, यह ज्ञात नहीं है। पक्षान्तर से जिन सुख-दुःख, इच्छा प्रभृति को जानता हूँ उनका माप करना संभव नहीं होता। 'साइन्स इज़ मेजरमेन्ट' परिमाण विज्ञान के इस सूत्र को स्वीकार करने यह मानना ही होगा कि पदार्थ विज्ञान मानकुशली है, वह भानकुशली नहीं है। वह दक्षमापक है, परन्तु भासक अथवा ज्ञापक नहीं है। अर्थात् सब कुछ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिमाप को लेकर ही विज्ञान का कर्म तथा ध्यान का कौशल असाधारण है, तथापि निःसंदिग्ध होकर वह यह नहीं कह सकता "यह देखो, मैं यह वस्तु हूँ, यह तत्व हूँ। और जो तुम मुझे माप रहे हो, तुम्हारे साथ तो मेरा यह सम्बन्ध है।" वास्तव में अजाना माप तथा उसके हिसाब के द्वारा उसको 'जनाने' के एक अद्भुद कौशल का आविष्कार विज्ञान ने किया है। जैसे किसी गुणी कलावत का संगीतालाप। आलाप चतुःपादात्मक होता है, जैसे अस्थायी, अन्तरा, संचारी तथा आभोग। मैं गणितज्ञ होकर भी उस आलाप की राग को नहीं जानता। मैं पादचतुष्ठय की प्रकृति और उसकी योजना से भी अनभिज्ञ सा हूँ। फिर भी आलाप की गति से किसी एक कालिक छन्दः का आविष्कार किया और उस छन्द का नामकरण किया चौताल।

अब यदि उसके कम्पन आदि का माप करने के लिये किसी वैज्ञानिक यंत्र का व्यवहार करता हूँ, तब इस चौताल के अतिरिक्त आलाप के स्वरकलाप के कम्पनगत अनेक सूक्ष्म छन्दों का आविष्क्रार करने में समर्थ हो जाता। अन्य किसी राग के आलाप के साथ उसकी तुलना करने पर उसके कम्पनमानगत साजात्य और वैजातिकता को भी जान सकता। इतना सब कर लेने पर भी राग की जो वाणी है, मूर्च्छना है और उसका जो अनुभवसिद्ध रस है, उसे नहीं जान सकूँगा।

पाद एवं मात्रा

जैवधातु अथवा प्रोटोप्लाज्म का विश्लेषण करते हुये उसके उपादानभूत अणुओं की संख्या तथा सम्मिश्रण के अनुपात को जान लिया है। अर्थात् जो परिमेय हुआ है, तथापि ज्ञेय नहीं है और जिस कारण से उसके अधिष्ठान में जो प्राण अभिव्यक्त है, उन सबको विज्ञान द्वारा जान सकने में समर्थ नहीं हो सका। अतएव यह जान सकने में अक्षम हूँ कि उक्त उपादान समूह ने उक्त अनुपात में सम्मिश्रित होकर

प्राण नामक धर्म अथवा गुण की सृष्टि किया है, अथवा प्राण नामक कोई एक पूर्व-सिद्ध वस्तु ही अपने प्रयोजन से अपने लिये उपयोगी उक्त सम्मिश्रण को घटित करा रही है।

प्रथम पक्ष आजतक अन्वय व्यतिरेक से प्रतिपन्न नहीं हो सका है। प्रथमत: जैव वस्तु को निर्जीव करके ही रासायनिक परीक्षण के द्वारा उसका विश्लेषण संभावित होता है। सजीव प्रोटोप्लाज्म रासायनिक विश्लेषण की वस्तु नहीं है। द्वितीयत: यह देखा जाता है कि उपादानों के यथानुरूप सम्मिश्रण से भी सजीवता (जीवन) का उन्मेष नहीं होता। मानो एक अजाना घटक (अननोन फैक्टर) उपस्थित नहीं हैं, तभी अघटन घटित नहीं हो रहा है। अतएव द्वितीय पक्ष में ही सम्भावनागौरव अधिक है।

मस्तिष्क एवं हमारी चेतना के सम्बन्ध में भी जो अनिश्चय है, वह अभी तक हट नहीं सका है। मस्तिष्क के गठन एवं गति सम्बन्धित ज्ञान अर्थात् ताल अथवा मात्राज्ञान अधिक हो जाने पर भी वह अनिश्चय एक प्रश्नचिह्न सा खड़ा है। अत: मात्राज्ञान एवं पादज्ञान दो वृत्तों की तरह एक दूसरे से बाहर न रहने पर भी, परस्परतः एक दूसरे से अंशत: अलग है। पारस्परिक रूप से मिलन नहीं हो रहा है। मात्रा तथा पाद की पारस्परिक अव्याप्ति ही हमारे बुद्धिव्यामर्श का हेतु हो रही है।

पाद किसे कहते हैं ?

'येन पद्यते' जिसके द्वारा सम्पादित होता है, समग्रता से ज्ञात होता है, उपलब्ध होता है, वही है पाद। यह त्रिविध है, जैसे क्रियांग, ज्ञानांग तथा भावांग। इन्हीं रूपत्रय को देखना होगा। अथवा श्रुति की रहस्यभाषा में एक सम्पन्न (अथवा अभिनिष्पन्न) शब्द में क्रियाज्ञानभाव का अन्तर्निवेश करने पर यह कहा जाता है कि सम्पाद्यता अथवा अभिनिष्पाद्यता के आवश्यक अंग—(इनसेपरेब्लि कम्पोनेन्ट अथवा कान्स्टिटूयेन्ट) ही पाद हैं। अत: पादसमूह में स्वच्छन्द सहतत्व (Incongrueut composition) के अभाव में पाद सम्पन्न ही नहीं होता।

अनुष्टुप छन्द की कारिका लिखूंगा। यदि उसका पाद चतुष्ठय स्वछन्द संहत नहीं है, तब कारिका श्लोक सम्पन्न नहीं हो सकता। जप-याग आदि की क्रिया में भी यही है। तदनन्तर आत्मा को जानकर उसमें 'अभिनिष्पन्न' होना। व्यष्टिरूप से जाग्रत् (विश्व), स्वप्न (तैजस्), सुषुप्ति (प्राज्ञ) तथा तुरीय और समष्टिभाव ही विराट, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और शुद्ध चैतन्य है। इस प्रकार से पादचतुष्ठय की स्वच्छन्द संहति के अभाव में आत्मा को जान सकना और उसमें 'अभिनिष्पन्न' हो सकना कदापि सम्भव नहीं है।

जो सपाद है उसे भी पादचतुष्टय के रूप में अंगीकार करना आवश्यक

जो पुरुषसूक्त में कहे गये 'सहस्रपाद' हैं, वे 'एतावानस्य महिमा' रूप से उक्त होने पर भी 'सम्पन्न' नहीं हो सके ! 'त्रिपादास्यामृतं दिवि' इस लोकोत्तर अमृत रूप से त्रिपाद की अपेक्षा शेष है ।

'सम्पन्न' का तात्पर्यार्थ यह है कि वे तो नित्य सम्पन्न हैं ही, अब वे हमारे ज्ञान में सम्पन्न हुये ! भाव के दृष्टिकोण से भी जिसके द्वारा समापत्ति अथवा समापन्नता घटित होती है, उस पाद की भी वैसी ही अपेक्षा रहती है । अतः वे नित्य सम्पन्न है, परन्तु हमें भी यह अपेक्षा रहती है कि वे हमारे ज्ञान में भी सम्पन्न हों, उनकी सम्पन्नता अनुभूत हो ।

पाद स्वयं भी चतुष्पात् है, जैसे उपपाद्यता, प्रतिपाद्यता, सम्पाद्यता और निष्पाद्यता । 'उप' से समीपता तथा तटस्थता होती है । "प्रति" साक्षात् सम्बन्ध के प्रतियोगी को भी सम्मुखीन कर देता है । 'सम' तत्वों को सम्परिष्वक्त (Existence is Coalescence) कर देता है । 'निः' तत्व से तादात्म्य सम्बन्ध में निविष्ट करता है । जैसे 'नद्या नदी नाथ' । अब और सम्पाद्यता शेष ही नहीं रहतीं । नदी नदीनाथ में मिल जाती है ।

क्रिया को निष्पत्तिचतुष्टय के रूप में देखना चाहिये, ज्ञान को सम्पत्ति अथवा अभिनिष्पत्ति चतुष्टय के रूप में और भाव को प्रवृत्ति अथवा समापत्तिचतुष्ठय के रूप में देखना विहित कहा गया है । जो अमात्र तथा अपाद हो, उसके सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं है, किन्तु जो कुछ सपाद है, उसे पाद के द्वारा ही ज्ञान तथा क्रिया में अंगीकृत करना होगा । पाद के चतुष्टय क्रम को भी स्वीकार करना ही होगा ।

ज्ञान तथा आनन्द में इन चतुःपाद का किस प्रकार से समापन हो ?

पुनश्च—जब तक अन्वय तथा व्यतिरेक की यथारीति सिद्धि नहीं हो जातीं, तब तक कोई भी निर्व्यूढ़ सिद्धि मिल सकना दुष्कर है । जहाँ ख-ग-घ (जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति) है वहाँ क तो तुरीय है । इस प्रकार से यहाँ पर क को (तृतीय को) अंगीकृत किये बिना क की (तृतीय की) निर्व्यूढ़ सिद्धि नहीं मिलती । यह अंगीकार (निजबोध रूप अवबोध) पुनः साक्षात् तथा क्रमिक रूपेण द्विविध है ।

क्रमिक = श्रवण में उपपत्ति (तटस्थ ज्ञान) मनन में प्रतिपत्ति (विचार-दृढ़ सिद्धान्तपूर्ण ज्ञान), निदिध्यासन में सम्पत्ति (तत्व से सम्पन्न जो ज्ञान है) । साक्षात् निष्पत्ति (निः = निर्गत अथवा निर्गलित हो चुकी है पत्ति जिसकी, अथवा जहाँ पाद की पद्यता का अवसान है) ।

इसी प्रकार आनन्द है। आनन्द स्वरूप में स्वलसित है अपाद, अमात्र रूप से। किन्तु उसका भान नहीं हो रहा है ! बाहर तथा अन्दर में आनन्द का अलसित भाव विमूढ़ जो है ! विलोम मार्ग से इस विमूढ़ता को काटते हुये स्वरूप में उपनीत हो जाओ। पहले अलसित का आनन्दख्यापन करो। यही है आनन्द की उपपत्ति अथवा तटस्थाशक्ति। तदनन्तर विलसित (छन्दोग) की आनन्द ख्याति हो। छन्दः तो आनन्द का विलसन है, यह भान हो। यही है प्रतिपत्ति ! क्योंकि विश्वछन्द का आनन्द विलास रूप ही है आनन्द की प्रतिपत्ति। तत्पश्चात् विश्व की आनन्दरुपिणी आद्याशक्ति और आनन्द के उपर उल्लसित उर्जित रूप मुख्य प्राण ही धारणा की सम्पत्ति हों। तदन्तर स्वलसित आनन्द में निष्पन्न हो जाओ। तब 'कः केन कथं वा पद्यते ?'

अक्षर वस्तु का अधिगम अधिभूतादि पादचतुष्ठय में ही सम्पाद्य है। इस लिए श्रुति ने प्रकाशमयत्व, आयतनवत्वादि की उक्ति कही है।

जप में पादचतुष्टय

जप साधना पें वैखरी से होकर मध्यमा में प्रविष्ट होने पर जप उत्पन्न होता है। तब जप अपने परीक्षण (टेस्ट) अथवा Proving को देख सकता है। क्योंकि उस समय वाक्-मन, और दोनों की सन्धि जहाँ है, वहाँ पर प्राण जपक्रिया के छन्द को स्वयं ग्रहण करता है। अब जप सत्यकार है। श्वास-श्वास में चल रहा है। जिस प्राणवृत्ति के कारण इच्छित अथवा अनच्छीत रूप से श्वास चल रही है, अनीच्छित रूप से वक्ष तथा नाड़ी समूह स्पन्दित हो रहे हैं, उसी प्राण के साथ अब जप संयुक्त हो चला है। अतः अब तो जप छूट नहीं सकता। कम्बल छोड़ दिया—परन्तु कम्बल मुझे नहीं छोड़ रहा है। 'जपो जागर्ति'।

तत्पश्चात् मध्यमा ओर पश्यन्ति की सन्धि पर उपस्थित होकर जप की प्रतिपत्ति (आपयिता-स्वर्धयिता) होती है। पश्यन्ति में सम्पत्ति और पश्यन्ति में उसकी—निष्पत्ति। सम्पत्ति में भी भय का बीज दूर नहीं होता। अतः सम्पत्ति भी 'आशनाया' है। निष्पत्ति में और कोई बाधा नहीं रह जाता !

ज्ञेय तथा मेय की अन्योन्य ऐषणा

जब 'ओङ्कार एवेदं सर्वम्' सत्य है, तब यह कहना ही होगा कि ॐ कार की पादमात्रा सर्वत्र अनुप्रविष्ट रहती है। अर्थात् पाद और मात्रा विश्व में सर्वत्र अनुस्यूत है। यह "कास्मिक फंक्शन" है।

पाद तथा मात्रा ही यथाक्रम से सम्परिष्वक्त 'ऋतञ्च-सत्यञ्च' रूप हैं। सत्य एवं ऋत की अभिव्यक्ति के कारण विश्व में वस्तुतः पाद तथा मात्रा की पारस्परिक

विधुरता अथवा अव्याप्ति नहीं है। हमारी अभिज्ञता में अव्याप्ति तथा विधुरता है, इसी कारण हम दृष्टान्त के द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं। जो सर्वविद् हैं, वे विश्व के सब कुछ में पाद तथा मात्रा को पारस्परिक रूप से ओतप्रोत मिथुन रूप में उपलब्ध कर लेते हैं। संगीत की राग को जानते हैं किन्तु ताल को नहीं जानते, अथवा ताल को जानते हैं परन्तु संगीत की राग नहीं जानते, ऐसा कैसे हो सकता है ? जो ताल जानता है, वह राग भी जानता है और राग जानने वाला ताल से अनभिज्ञ नहीं रह सकता।

सत्य (अस्ति) स्वयं की पाद रूप से तथा ऋत (ऋच्छति) स्वयं की मात्रा रूप में अभिव्यक्ति करता है। अतएव यदि सत्य को प्राप्त करना है तब पादाश्रय लेना ही होगा और ऋत को प्राप्त करने के लिये मात्रा की शरण में जाना ही होगा। पाद तथा मात्रा का मिलित रूप है छन्दः। एक खिला हुआ पुष्प ! पुष्प के अवयवों के विकास में जो छन्दः है (स्टक्चरल साईमेट्री) वह एक दिशा है और पुष्प के खिलने में जो छन्द रूपायित हो रहा है (Functional Congruity है), वह है उसकी अन्य दिशा।

हमारी अभिज्ञता में इन दोनों की आंशिक समव्याप्ति रहती है। तथापि ऐसा सर्वतः सभी स्थिति में नहीं होता। पुष्प का स्थूल तथा सूक्ष्म संगठन तो मान योग्य है, किन्तु उसके गुण क्रियादि समग्र तथा मौलिक भाव नहीं हैं। इसके अतिरिक्त हमारे ज्ञान में मेयता तथा ज्ञेयता पारस्परिक रूप से दूर रहते हुए भी परस्परतः अभिन्न होने का प्रयास करती रहती है। मानों वे अलग रहने में प्रसन्नता का अनुभव नहीं करते। जैसे वे मूल में अभिन्न हैं, वैसे ही ज्ञान में भी अभिन्न हैं।

जिस स्तर में ज्ञेय यह उपलब्धि करता है कि यह तो ज्ञेय ही है. परिमेय नहीं है, वहाँ परिमेय छूटता जाता है। वह कहता है "क्या तुम मात्र ज्ञेय हो ? यह देखो ! तुम तो परिमेय भी हो।" विज्ञान में इसी प्रकार से ज्ञेय तथा मेय की लुकाछिपी की क्रीड़ा देख कर हम आवाक् से हो जाते हैं ! विज्ञान ने सूक्ष्म में एटम पर्यन्त पग संचार करके भय से कहना प्रारम्भ किया है "बस ! यहीं तक है तुम्हारी गति !"।

अब अविभाज्य एटम विभक्त हो चुका है। ऐलेक्ट्रान मिला। तब एटम में भीतर का भी माप लेने वाले नूतन विज्ञान की 'तैयारी' हुई। यह है :ऐटामिक फिजिक्स'। यद्यपि इलेक्ट्रान का अपना भी माप अवश्य है. तथापि वह माप की प्रान्त सीमा भी है। अब तो wave Mechanics इलेक्ट्रान आदि के आभ्यन्तरीण क्षेत्र में प्रवृत्त हो रहा है। परिणामतः अब इलेक्ट्रान एक उर्मिगुच्छ (वेव पैकेट) है। उर्मि भी कोई 'वास्तविक उर्मि' नहीं है, वह है सम्भावना की उर्मि (वेव आफ प्राबेबिलिटी) !

अर्थात् अब 'है' और 'नहीं है', यह दोनों सम्भावनायें हैं। इन दोनों सम्भावनाओं में जहाँ 'है' की सम्भावना विद्यमान रहती है, वहाँ 'है' का धनत्व अधिक है। मानों वहां 'क' नामक वस्तु अथवा धर्म विद्यमान है। वह ठीक-ठीक कहाँ पर है, यह नहीं ज्ञात है। फिर भी उसकी उर्मिगाढ़ता अथवा होने की सम्भावना 'O' स्थान पर अधिक है। अतः कहा जाता है कि 'क' पदार्थ P अथवा R विन्दु पर नहीं है। वह 'O' विन्दु पर है। ज्ञेय तथा परिमेय की इस प्रकार की अन्योन्य ऐषणा उचित भी है। कारण यह है कि ॐ कार में ज्ञेय तथा मेय का तादात्म्य रहता है।

अर्च्च तथा अर्च्चिः

इन दोनों धारा (संख्येय परिमेयता की) को मिलाने का प्रयास ही विज्ञान नहीं है, प्रत्युत समस्त साधन ही विज्ञान है। अतः जप साधना भी विज्ञान है। तपः में स्थूल संख्या और सूक्ष्म स्पन्दादिरूप से जो परिमेय है, वह प्रथमतः वाक् और मनः के मिथुनीभूत प्राणरूप में, अन्त में विज्ञान और संवेदन के मिथुनीभूत आनन्द रूप में संख्येय (सम्यक् ख्यातिभान) होगा। इस निगूढ़ 'फाल्गु क्रम' (फाल्गुनदी के समान अन्तर्निहित क्रम) की भावना करो। पूर्व-पूर्व मिथुन का पर-पर मिथुन में हवन करो !

'अर्चः' शब्द को पूजा कह देने से असली बात तो बिना कहे रह गयी ! अशनाश्वा जप 'महाग्रास है (श्रुति ने इस शब्द का प्रयोग किया है। यह मृत्यु को भी ग्रस लेता है 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्') यह किसी को नहीं बचने देता ! यज्ञ का जो अश्व है, वह तो अ+श्वः, इस समय है, कल नहीं रहेगा। इस का जो मेघ है, वह तो महाग्रास में जा पड़ा है, मा+इध् अर्थात् उसका ईन्धनत्व तिरोहित हो चुका है। जैसे भस्मीभूत ईन्धन होता है, वैसे ही ! उस विश्व में अथवा अश्व में ईन्धनत्व कैसे हो सकेगा पुनः ? मेघ किस प्रकार से मेघस् (मेधाः) होगा ? जो 'तपसा' एवं 'मेधसा' महाग्रास हो चुका है उससे पुनः सृष्टि यज्ञ कैसे प्रवर्तित हो रहा है ? यह 'स्' अथवा विसर्ग कैसा है ?

यह सब होता है इस विसर्ग के द्वारा। अर्च से अर्चिः एवं अर्क दोनों। अर्चः को प्राण की एक मुख्यवृत्ति के रूप में जानने की चेष्टा करो। तभी उससे द्वारा 'उपासना' होगी। आत्मन्वी, मनस्वी इत्यादि अस्ति प्रत्यय का प्रतियोगी जो सत्य है उसमें पाद तथा मात्रा प्रतिष्ठित हो ! वह महाग्रास के कवल से मुक्त हो !

अर्क, अप प्रभृति कतिपय शब्दों की विश्लेषण-व्यंजना
सभी कर्मों में अप् की अपेक्षा क्यों ?

'ऋ' का अर्थ है गति, व्यञ्जना, ऋतम्। ऋकार के गुण में अव् (अदेङ् गुणः)। इस गुण के फल से क्या हुआ ? ऋ मूर्धन्यमात्र था, वह कण्ठ्यमूर्धन्य हुआ।

अर्थात् जो चरम व्याहृति (सत्यम्) मूलतः अस्तिरूप में (अथवा नास्तिरूप में) आत्मसंवृत् थी, उसने स्वयं में सप्तव्याहृति (कण्ठ से मूर्धा पर्यन्त सभी भूमियों में) की सम्भावना प्रकट किया। संभावना ! किन्तु कार्यतः ? इस अर्च का 'च' तालव्य है। अर्थात् सम्भावना रूप से, अस्तिता रूप से सप्तख्याति की प्रसज्यमानता हो जाने पर भी वहाँ कार्यतः चरम व्याहृति मे निकटतम निम्नवर्त्ती (तपः) व्याहृति अथवा ख्याति का आगमन हुआ। वह क्या है ? तपः है। इस तपः में आकर अर्च का रूपान्तर होता है अर्चिरादि (वर्च्चः-तेजः-उर्जः) रूप से। 'कं' ? किसे यह अर्चिः वरण करती है ? आत्मसंवेदनरूप सुख का वरण करती है। यही वह मूल अर्क अथवा अग्नि है, जिसमें अश्व का मेध निखिल सृष्टि का मेधस् अथवा मेधा बन जाता है।

जब सुषुप्ति के अनन्तर जागृति का उन्मेष होता है, तब अश्व का मेधसमूह होता है अव्यक्त—अविविक्त संस्कारराशि ! किसी अर्चिः किंवा अर्क का वरण करने पर इस अनिन्धन मेध समूह को ईन्धन बनाकर अपने जागरण यज्ञ को आरम्भ करना चाहिये। इसे विचार कर समझो ! सुषुप्ति को भंग करते हुये आत्मन्वी बनो। मनस्वी कैसे बनना होगा ? आत्म संवेदन (जिसमें कं रूप से सुषुप्ति की घनप्रज्ञ अवस्था सम्पन्न होती है) की जागृति को अर्क रूप से कैसे उपलब्ध करोगे ?

यह एकबारगी नहीं पाया जाता ! मध्य में अप् है। यह इस घनीभूत कं को रसरूप से 'ऋतायित' करता है। क्या अप् जल है ? तेज के पश्चात् अप् की उत्पत्ति कही जाती है। तब ?

यह अप् पंचभूतोंवाला अप् नहीं है। व्याकरण के अनुसार इसका प्रयोग स्त्रीलिंग बहुवचन में करो, किन्तु यह भी वास्तव में रहस्य संकेत ही है।

अ+प=कण्ठ्य+ओष्ठ्य। वाक्रूप प्राणाग्नि जिस आधार से उत्थित होकर समन्तात् विस्तारित होती है, 'प' उसे संवृत् और रुद्ध करने में प्रवृत्त है। इसी के फलस्वरूप मंत्र-यंत्र-तंत्र की सृष्टि हुई है। जो शक्ति समन्तात् विकीर्ण होकर स्वयं को विस्तारित कर देती है अर्थात् 'गायब' कर देती है, मंत्र उससे कहता है "इस बीज में संहत हो जाओ। घनीभूत हो जाओ।"

यंत्र कहता है "तुम मुझमें गाढ़ और वेगवती हो जाओ।" तंत्र उससे कहता है "तुम मुझमें छन्दः रूप से शासित होकर स्थित रहो।" इस 'अप्' को पाये बिना कोई भी यंत्र कार्य नहीं करता, कोई भी मंत्र सिद्धिप्रद नहीं होता, कोई भी तंत्र कुशली नहीं हो सकता !

अतः इस अप् को पाकर ही अश्वमेध के अर्क का अर्कत्व सिद्ध होता है !

'तपः तथा सत्यं' व्याहृति के भान से ख्याति के जिस ग्राम में अथवा भूमि में स्थिति होती है, वह भूमि भी महासमन्वयी छन्द के अधिकार में है। यही है महा

एवं चरम की सीमा। सीमा की परिभाषा का अस्तित्व ही नहीं मिलता। 'सत्यं' महासमन्वयी का स्थान है, अतः वहाँ समस्त भेद तथा द्वन्द्व अविरोधी हैं—परस्परतः संधि करके विद्यमान हैं। (अस्ति)! अथच, वहाँ इन सबका पूर्ण एवं शुद्धरूप भी विद्यमान रहता है। पूर्णता एवं शुद्धता के ही कारण वहां पर समस्त भेद तथा द्वन्द्व का सन्धि समन्वय भी है। निम्नभूमिगत असंगति तथा विरोध का कारण यह है कि वहाँ पर किसी का भी पूर्ण अथवा शुद्धरूप उसकी ख्याति से समरूपता में नहीं रहता। हमें गुलाब प्रिय है, परन्तु उसका कांटा अप्रिय है। काल वैशाखी का वर्षण हमें अच्छा लगता है, फिर भी आंधी को अच्छा नहीं मानता। इन सबको सम्यक् रूप से समझना होगा।

वृत्तिरूप तथा स्मृतिरूप

विश्वव्यापार का स्थिरलेखरूप आधार तो अवश्य है। 'सर्वं क्षणिकं मानने से भी छुटकारा नहीं है। तभी वे छायारूपेण संस्थिता भी हैं। वृत्तिरूपेण संस्थितता के साथ आधाररूपी 'शक्तिरूपेण संस्थिता' भी हैं। 'शक्तिरूपेण संस्थिता' के साथ 'स्मृति रूपेण संस्थिता'! विज्ञान तथा प्रज्ञान, दोनों के दृष्टिकोण से अतीत-अनागत विश्व के ध्रुवलक्षणरूप 'सत्यलोक' की स्थिति आवश्यक है। अन्यथा दोनों में से किसी की सम्यक् उत्पत्ति नहीं हो सकती। विज्ञान के 'प्रिंसपल आफ कन्जरवेशन' का मूल भी यही है। जड़ की मूलवस्तु में 'मेमोरी' अथवा स्मृति के समान कुछ न कुछ अवश्य है।

यहीं प्रज्ञान के महान्, सूक्ष्म, समूर्द्ध और समकालिक अथवा अक्रमिक ज्ञान की भूमि भी है। यह 'ईश्वर' तो अवश्य नहीं है। इसे 'लोक अथवा ख्याति' कहा जा सकता है। गणित के 'Locus' के साथ इसको तुलना करो। मान लो कि दो विन्दु हैं। एक ध्रुव (स्थिर) है दूसरा चलायमान है। यदि वह ऐसे चलता रहे जिससे ध्रुवबिन्दु से उसका दूरत्व बराबर बना रहे, तब उसके चलनशील बिन्दु का गतिपथ क्या होगा? वह होगा वृत्त रूपी गतिपथ, जिसके केन्द्र में यह ध्रुवबिन्दु है। यदि कहें कि "अच्छा! यह सचल बिन्दु एक ध्रुवबिन्दु और एक ध्रुवरेखा के साथ बराबर दूरत्व रखकर चलेगा, उस स्थिति में उसका गतिपथ वृत्त न होकर 'पेराबोला' होगा।

यहाँ इस Locus के भाव को काष्ठा में ले जाओ। प्रश्न करो—विश्व का सब कुछ चलता है, आता है, जाता है, तब ऐसा कुछ है क्या जिसके सम्पर्क में ये सब हैं? क्या रवीन्द्रनाथ की उक्ति 'कणाटूकू येथा ना हाराय' के अनुरूप क्या कोई विपुल अव्यय धाम है?' इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक 'हाँ' में देना ही होगा। अन्यथा विश्व व्यवस्था अचल कही जायेगी!

सत्यलोकख्याति

और वे किस प्रकार से हैं ? बीज, संस्कार Potential, यह सब संज्ञा दी जाती है, क्योंकि हमारी ख्याति (Experience) वहां तक नहीं पहुँचती ! बीज को बीज ही क्यों कहा जाता है ? बीज के पादरूप से आकृति, शक्ति, छन्द तथा सत्य किसी का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, तभी उसे बीज कहते हैं। प्रत्यक्ष होने पर उसे बीज नहीं कहा जाता। निखिल विश्व के बीज आधाररूप से जनिप्रत्यय के विषय हैं। यह हमने पहले भी देखा है। किन्तु 'अस्ति' रूपी ख्याति (एक्चुअल एक्सपीरियेन्स) रूप से 'सत्यम्' ही पूर्वकथित 'ध्रुवलेखाधार' है। 'लेख' शब्द का व्यापक अर्थ (आकृति-छन्द प्रभृति) ग्रहण करना होगा। हम अपने अनुभव द्वारा (ख्याति द्वारा) जिसका अनुमान करते हैं, उर्ध्वतन ख्याति में उसे पूर्ण-पूर्णतर रूप से प्रत्यक्ष करते हैं। जो सत्यलोकात्मक ख्याति से अधीष्ठित हैं, उनके 'लोक' में मात्र बीज प्रभृति ही नहीं है, प्रत्युत बीज-अंकुर-प्ररोह-पादप प्रभृति सब कुछ वहाँ पर है।

लोक तथा लोकस-दृष्टान्त

अब विचार करो 'अस्ति प्रत्यय का प्रतियोगी' कहने से क्या विदित होता है ? मानो कि इस समय कोई अनुभव हुआ। अगले क्षण वह नहीं रहा ! जो अस्ति था, वह अब नास्ति है ! नास्ति है, परन्तु उसे भी कभी भी स्मरण किया जा सकता है कि वह कभी था ! अतः वह पूर्णतः एकान्तिकरूप से तिरोहित नहीं हो गया, चला नहीं गया। वह किसी न किसी प्रकार से 'अस्ति' है। इसे संस्कार आदि जो चाहे कहें। प्रश्न है कि वह कहाँ है, कहाँ 'अस्ति' है ? क्या वह मस्तिष्क के उपादान में 'अस्ति' है ? ब्रेन सबस्टेन्स में है ? ऐसा कहने पर अनेक मारात्मक दोष लग जाते हैं। जन्मान्तर स्मृति की तो कोई भी उपपत्ति नहीं होती।

योगोक्त 'संयम' द्वारा पूर्वजातिस्मरण, प्रकृत्यापूरण प्रभृति अनेक कुछ हो सकता है। अतः यह 'मस्तिष्कवाद' भी विवाद का विषय हो जाता है। यह भी मानना ही होगा कि कोई एक महाविपुल लोक (Locus) और ख्याति (ग्राउण्ड-एक्सपीरियेन्स) है। वहाँ समस्त घटना, अनुभूति, कल्पना अपने-अपने बीज अथवा संस्कार संरक्षित रखते हैं। मन में अथवा बाहर जो कुछ घटित होता था, घटित हो रहा है अथवा घटित होगा (सत्य हो अथवा मिथ्यारूप हो), वह सब इस महा-विपुल लोक में 'अस्ति' है। जैसे सिनेमा की रील। आकाशकुसुम, बन्ध्यापुत्र, लोक, वर्ग, त्रिकोण इत्यादि भी वहाँ 'अस्ति' हैं। क्योंकि यह सब भी कल्पना अथवा कथा में आते हैं, आ सकते हैं। इस लोक को महाविपुल कहने का कारण है। सृष्टि के आदि में भी 'यथापूर्वं अकल्पयत्' जैसे पहले था. वैसे ही सृष्टि कल्पित हुई।

यह कहाँ थी, जहाँ से वह स्मृति में तथा ध्यान में पुनः आ रही है ? यह है 'अस्ति' के कारण। अर्थात् जो सब कुछ चला गया उसे भी कहीं न कहीं स्थिर रहने का आधार चाहिये ही। अतः ऐसी एक पृष्ठभूमि मानना ही होगा। पहले के वैज्ञानिक एक 'परफेक्टली इलैस्टिक ईथर, को मानते थे। ऐसा ईथर वर्त्तमान में प्रायः अचल है किन्तु हम जिस लोक का वर्णन कर रहे हैं उसकी ईलैस्टिसिटी अथवा स्थितिस्थापकता अशुद्ध है। ऐसा कुछ भी सम्भव-असम्भवरुप नहीं है जो अपना स्थिर-लेख इस अत्यद्मुद् आधार पट पर अंकित न रखता हो ! यहाँ पर वास्तविक-अवास्तविक, सम्भव-असम्भव का द्वन्द्व नहीं है। मन में, कल्पना में, बाहर अथवा वाक्य में जो कुछ भी है, वह सब यहाँ 'अस्ति' है। विश्व तो अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान रुप से चलता रहता है, किन्तु उसका इस प्रकार का एक स्थिर समग्र लेख इस 'अस्तिता' के लोक में है, जिसे कहे बिना नहीं रहा जा सकता ! यदि ऐसा स्थान नहीं होता, तब नियत परिणामिनी विश्वपरम्परा अपना 'काठकबाड़' कहाँ बचाकर रखती, कैसे रखती ? वह अपने अन्तर्गत होने वाले घटनापुंज (इवेंटस) की छाप (रेकर्ड इम्प्रेशन) आदि को कहाँ बचाकर रखती ? कर्म संस्कार अपूर्व स्थिति प्रभृति की सम्भावना कैसे होती ! सिनेमा की रील में छवि रहती है, रेकार्डमशीन में गाना रहता है। इसी प्रकार जीवकोष (जर्मोप्लाजम) में संस्कार संचित रहते हैं। यह सब इस अस्तिता लोक के ही दृष्टान्त हैं।

जप-अनुध्यानादि का समग्र लेख

जपानुध्यानादि क्रिया का समग्र लेख (कम्पलीट पिक्चर) हम नहीं देख सकते। तभी तो हताशा (Despondent) आ जाती है। अथवा हम मूढ़ांश (Complacent) या स्फीतांश (Over Confident) हो जाते हैं। जप कर्म का समग्र चित्र दृष्टिगोचर हो जाने पर यह ज्ञात होता कि एक भी अक्षर अथवा एक भी छुद्र स्पन्दन लुप्त नहीं हुआ है। सभी संचित तथा रक्षित है। संचय का स्थान है यही सत्यलोक। वहां केवल एक Eternal Now है, जिसकी कुक्षि में अतीत तथा अनागत सम्प्रविष्ट हैं। अच्छा ! यह नहीं है, तब भी इस विपुल अस्तिता के उदर में भाल-मन्द, मित्र-वैरी, कल्पना-जल्पना, असंभव-'अजायबी', सव कुछ तो है ! सत्य-लोक में देखता हूँ एक निरपेक्ष 'अस्ति' अथवा 'है' का देश। यह देश Neutral है। यहां जाने से क्या लाभ ? हम अपने जपकर्म का पूरा 'चेहरा' वहां देख सकते हैं। अन्तरात्मा कहती है कि इतने दिन जप में न बैठकर क्या पाप नहीं किया ! (वह पाप वहां संचित है।) उस पाप भरे नरक को (मन को) देखने से क्या लाभ ?

समग्र लेख की प्राप्ति से क्या लाभ ?

'मां भैः' आश्वस्त हो जाओ ! यह न भूलो कि सत्यलोक तो व्याहृति की चरम भूमि है। तभी श्री श्री धूमावती ने अपने हाथ का सूप वहां नहीं फेका ! वरन्

उनके सूपकर्म ने वहां सामर्थ्य की काष्ठा को प्राप्त किया। अर्थात् यद्यपि वहां दाना भी है और भूंसा भी है, किन्तु मिलित नहीं है। वहां दाना शुद्ध अविमिश्र रूप से व्याहृत है। वहां दाना और भूंसा के 'तालमेल' का कोई अवसर ही नहीं है। अर्थात् जो संकट है, जो संकर 'नरकायैव' है, उसकी निष्पत्ति हो चुकी है।

संकर होने से ही इतना 'गोलमाल' इतनी विपत्ति है! सत्य ख्याति में पहुँचकर देखा-वहां हमारे जप का नाम है 'अस्ति'। शुद्ध स्वमहिमा में 'अस्ति'। मेरा अपराध (पाप) भी वहां 'अस्ति' ही है। वह महाबल असुर विक्रमयुक्त? नहीं, उसका विक्रम तथा महाबल इस संकर में है। 'अस्ति' में संकर दूरीभूत हो गया है। Completely Isolated हो चुका है। शुद्ध में वह अपास्त है। भागने से वह बच जाता, परन्तु 'अस्ति' की कुक्षि से भागने का कोई उपाय नहीं है! पहले इस लोक के लिये दो निरूपक विशेषण कहे गये हैं। स्थिर तथा समग्र। एक और विशेषण दो—अमिश्र अथवा तन्मात्र!

जो अद्भुद् वस्तु अविमिश्र के नाम से प्रसिद्ध है, नामाक्षर उन पर्वत के समान व्यापक अशुभ संस्कारों को तृण के समान दग्ध कर देने में समर्थ है। श्री भगवान के नामाष्टक में एक नाम है सत्य। इस नाम की कृपा होने से यह विदित होने लगता है कि नाम ही सत्य है। विरोधी जो कुछ भी है, वह सब स्थित होने पर भी असत्य है। वास्तव में इस ख्याति की प्राप्ति न होने तक न तो कुछ शुद्धतः सत्य है और न कुछ शुद्धतः मिथ्या ही है। अतएव सत्य एक ऐसी ख्याति (अनुभव है) है, जहां सब कुछ अपने शुद्ध तथा पूर्णरूप में ध्रुव (अस्ति) है। ध्रुव का लक्षण तथा प्रकारभेद समझना ही होगा। तब भी अस्ति प्रत्यय" पद को लक्ष्य करो प्रति+इ धातु से प्रत्यय गठित हुआ है। अतः अस्तिता में जो है और जो अस्तिता में जा रहा है, इन दोनों का अन्तर्भाव उसमें है। सत्यलोक Static है, अथवा Dynamic? इस समस्या का विचार भी प्रसंगक्रम से करना होगा।

'सत्यलोक स्थिर है', का क्या अर्थ है?

Basic Brain : Cosmic memory

"सत्यलोक में जो 'चित्रलेख' है, वह है स्थिर" इस मन्तव्य से जो 'रेखापात' हुआ है, वह रेखा स्थिर रह जाती है, कभी भी नहीं मिटती। यह है एक 'कास्मिक रिसीवर आफ पिक्चर्स एण्ड पैटर्नस्। इम्प्रेशन्स एण्ड वेस्टिजेस, सीड्स एण्ड पोटैन्शियल्स इक्सपीरियेन्स्ड एज् इक्जिस्टेन्ट'। हमारा मस्तिष्क इसी प्रकार का है। अतः इसे एक प्रकार से कास्मिक ब्रेन अथवा बेसिक ब्रेन कहा जा सकता है। हमारा ब्रेन तो स्टैटिक नहीं है। उसमें नवीन 'रेखापात' सदैव होता रहता है। सत्यलोक के सन्दर्भ में भी यही भावना होना स्वाभाविक है।

यह है शेषहीन, अन्तहीन, नित्य नूतन को भी आश्रय देने वाला ! यह एक अद्भुत् रहस्य है। एक साधारण व्यक्ति तथा एक महापण्डित के मस्तिष्क के Brain की तुलना करो। दोनों के वजन तथा आकृति में अतिसामान्य अन्तर परिलक्षित होगा। किन्तु महापण्डित के ब्रेन में कितने विशाल विद्यावैभव ने स्थान बनाया है ! चतुर्थ व्याहृति 'मह:' तक उन्नीत होते ही शक्ति, क्रिया तथा धारणा प्रभृति सब कुछ परिवर्त्तित होने लगता है। तब उसे हम सामान्य 'फारमूला' से आकलित नहीं कर सकते। यहां आकर हम एक वेसिक डायनेमिक्स में उपनीत हो जाते हैं, एक मौलिक छन्दोविन्यास में विन्यस्त हो जाते हैं।

व्यञ्जना कहां तक ले जाती है ? 'Basic'

इसकी व्यञ्जना कहां तक हैं, इसका विचार एक दृष्टान्त के द्वारा करो। मान लो कि 'ओम', हरिबोल अथवा अल्लाह प्रभृति भगवान के किसी भी नाम का जप किया जा रहा है। जप का जो भाव अथवा ध्वनि है, वह स्थूलतः क्षणस्थायी है। यह ध्वनि कण्ठयंत्र (Larynx) प्रभृति किसी एक विशेष स्पन्दन के कारण हो रही है। स्पन्दन रुक जानें पर ध्वनि भी नहीं रह जाती। इस प्रकार के क्षणस्थायी स्पन्दन तथा तज्जन्य क्षणस्थायी ध्वनि के द्वारा शब्द की जो अमोध शक्ति है, उसे कैसे प्राप्त किया जा सकेगा ?

इस स्थिति में यह मानना ही होगा कि यह क्षणस्थायी स्पन्दन कदापि विरत नहीं होता और तत्जनित ध्वनि भी पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाती। स्पन्दन तथा ध्वनि की सूक्ष्मता एक ऐसे स्तर पर जा पहुँचती है, जहां हमारी अनुभूति किसी भी प्रकार से नहीं पहुँच सकती। अर्थात् स्पन्द भी धारारूपेण सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है, और ध्वनि भी उसी का अनुसरण करते हुये सूक्ष्मतर होती जाती है। यदि हम अपने साधारण यंत्र (एपरेटस) को 'क' कहें, तब A2, A3, A4......... रूप से क्रमिक सूक्ष्मग्राम वाले अनेक एपरेटस के अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा। जब A1 का स्पन्दन वास्तव में निवृत्त होता है, तब A2 का स्पन्दन प्रारंभ हो जाता है। अर्थात् जब प्रथम स्पन्दन सूक्ष्मता के किसी एक ग्राम में आता है, तब वह उसे छोड़ने के लिये बाध्य है और उसी के साथ द्वितीय ग्राम उसके लिये प्रस्तुत रहता है, जहां प्रथम स्पन्दन संचरित हो जाता है।

सूक्ष्मग्राम में प्रतिपूरण आपूरणादि

वह केवल दूसरे ग्राम में जाने के लिये प्रस्तुत ही नहीं रहता, प्रत्युत् वह स्पन्दन को Resonance effect आदि के द्वारा वर्धित तथा समृद्ध करने के लिये भी प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जब द्वितीय यंत्र का कर्म समाप्त होता है, तब तृतीय यंत्र अथवा A_3 उद्बुद्ध होकर अनुरूप स्थिति में क्रिया को प्रारम्भ करता है। इस प्रकार की क्रमविन्यस्त परम्परा के द्वारा जो साधारण स्पन्दन द्वारा उच्चरित ध्वनि

रूपी शब्द मात्र था, वह एक अत्यन्त सूक्ष्मग्राम में परिणत होकर महाशक्ति युक्त स्पन्दन तथा ध्वनि (साईलेन्ट साउण्ड आफ ट्रिमेण्डस पोटैन्सी) का रूप धारण कर लेता है।

इस स्थिति में साधारण ध्वनि अथवा साउण्ड भी सुपरसानिक स्थिति (पर्याय) में उपनीत हो जाती है। ऐसी ध्वनि को हमनें महाराव रूप से प्रत्यक्ष किया है। महर्लोक का सिंहद्वार उन्मुक्त हुये बिना इस 'हत दैत्य महाबले महारावे' का सन्धान ही नहीं मिलता। इस विश्लेषण से विदित होगा कि हमारे इस व्यावहारिक स्थूलयंत्र के आभ्यन्तर में सूक्ष्मतर तथा महत्तर यंत्र परम्परा की अवस्थिति है। रहस्य विज्ञान में इन्हे षट्चक्र कहा जाता है। फिर भी इस सूक्ष्म तथा समर्थ आन्तर यंत्र (इनर-एपरेटस) की स्थिति उद्बुद्ध अवस्था में विद्यमान नहीं है। जिस मार्ग (चैनल) का अवलम्बन लेकर शक्ति इन यंत्रों को उद्बुद्ध करती है यदि हम उसे सुषुम्ना कहें, उस स्थिति में जीव के साधारण व्यवहार और अनुभूति में इस सुषुम्ना का मुख एक प्रबल रोधिका शक्ति के द्वारा अवरुद्ध सा रहता है। जब साधना के लिये इस रोधिका शक्ति को प्रसन्न किया जाता है, तब यह साधिका शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है।

आन्तर यंत्रों का अपना छन्दः

यही परम्परा समस्त सूक्ष्मग्रामों (A_1, A_2, A_3......) में केवल किसी क्रिया को धारा रूप से, अविच्छेद रूप से ही नहीं चालित करती, परन्तु यह क्रिया को शक्तिगत, भावगत तथा व्यञ्जनागत गरीयसी तथा महीयसी बनाती रहती है। इसमें साधक की आस्पृहा और प्रयास आवश्यक है। इसी से आन्तर यंत्रों की जागृति और प्रस्तुति का संसाधन होता है। ये यंत्र जिस नियम के द्वारा पारस्परिक शक्ति विनिमय और आपूरण कर्म करते हैं, उसे हम साधारण डायनामिक्स के फारमूला में पूरित नहीं कर सकते, प्रत्युत् यह निश्चित है कि इनका भी एक निजस्व डाइनेमिक्स है, जिसे हम बेसिक डायनामिक्स कहते हैं। वर्त्तमान आणविक विज्ञान के द्वारा हम इस बेसिक डायनामिक्स का किंचित् आभास प्राप्त करने में समर्थ हो रहे हैं। स्थूल भूत विज्ञान के सूत्र और छन्दः का प्रयोजन आणविक विज्ञान में एक प्रकार से नहीं है।

विश्वक्षेम का महाभाण्डार

पूर्वोक्त आलोचना द्वारा यह विदित होता है कि कोई भी स्पदन और तत्-जनित ध्वनि-भाव क्षणिकवत् प्रतीत होने पर भी क्षणिक नहीं हैं। ऐसा एक लोक किंवा भूमि अवश्य है, जहाँ विश्व के प्रत्येक स्पन्दन (इस स्तर पर अन्तर्हित प्रतीत होने पर भी) अविनाशी होकर अपनी रक्षा करते रहते हैं। केवल यही नहीं, ये सब

यदि किसी क्रमविन्यस्त यंत्र परम्परा के कारण सूक्ष्मतर-महत्तर अथवा वीर्यवत्तर हो जाते हैं, तब उनका समस्त फल (एफेक्ट) उनमें संचित एवं रक्षित हो जाता है। यह स्थान विश्व के समस्त पदार्थ, घटना समूह के Conservation, Summation और Accumulation को अपने में अंकित रखता है। यदि यह Plane न रहता, तब विश्व का सबकुछ क्षणिक, चपल, तुच्छ तथा असार हो जाता। यदि सब कुछ का अनुरक्षण तथा संचय करने वाला यह महाभाण्डारागार नहीं है, तब जीवन क्या, साधना क्या और सिद्धि ही क्या ? यही है सत्यलोक अथवा सत्यख्याति।

सत्यलोक को विश्व की 'समग्रा स्मृति' स्थान कहना उचित नहीं है। "यह एक विशाल, विराट 'जादूघर' है, जहाँ समस्त वस्तु समूह और घटनाओं का संस्कार (relics, Fosils) प्रभृति रक्षित रहता है" ऐसा कहना भी उचित नहीं हैं। यह है प्राण तथा चेतनाभिव्यक्ति की उर्ध्वतम ख्याति ! अतः केवल मात्र निखिल (सत्य-मिथ्या, वास्तविक-अवास्तविक) संस्कार (फिल्म की रील) ही नहीं, प्रत्युत् स्मृति (समग्र छवि, बीज से लेकर पादप पर्यन्त की समस्त परिणति) भी इसमें संरक्षित रहती है। अतएव समग्र स्मृति तथा ज्ञान इस भूमि में सिद्ध रहता है। इस भूमि में भी परिणिति का अस्तित्व रहता है। चित्रपट और रील में क्षेम (रक्षा-कन्सर-वेशन) तथा योग (एडीशन और आल्ट्रेशन) की सत्ता रहती है। अतः इस समग्रा स्मृति ज्ञान को ध्रुवास्मृति तथा पूर्ण ज्ञान की भूमि नहीं कहा जा सकता। अतएव यहाँ जो विश्वबोध का लेख विद्यमान है (Picture है,) उसे (पूर्वोक्त अर्थ में) स्थिर तो कहा जा सकता है, परन्तु वह ध्रुव नहीं है। ज्ञान भी समग्र है, तथापि पूर्ण नहीं है। यहाँ पर सत्य-मिथ्यादि संकीर्ण (कनफ्यूज्ड) नहीं हैं, फिर भी वे तत्वतः निरुपित और व्यवस्थित नहीं हो सके हैं। (यहाँ Validity और Value का परिपूर्ण समाधान नहीं हुआ है)। इसलिये इस लोक को शुद्ध लोक नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर ध्रुव, पूर्ण तथा शुद्ध लक्षण अपनी पूर्ण स्थिति (Final) में परिसमाप्त नहीं हो सके। अतः यहाँ पहुँचने पर भी 'अतः किम्' रूपी शंका रह आती है।

विषय, सम्बन्ध, भाव (व्यंजना), सत्व तथा तथा तत्व (कन्टेक्ट, रिलेशन मीनिंग, रीयैलिटी, एब्सल्यूटनेस) के पंचपाद में ज्ञान पूर्ण तथा शुद्ध होता है। यद्यपि सत्यलोक में यह पंचपाद लक्ष्य के निकट (एप्राक्सिमेट) है, तथापि उसमें अभीतक आपूर्यमाणाता, तथा स्वयं को पूर्ण करने, सिद्ध करने की आंकाक्षा विद्यमान सी रह जाती है। एक Dynamic Series स्वयं को workout करती चलती है। यहाँ तक उसकी समग्र आकृति को देखा जा सका है, नियामक छन्दः का भी कथंचित् ज्ञान प्राप्त हो सका है, जिस परिपूर्ण तथा शुद्ध फल से (कान्स्टेन्ट परफेक्ट

वैल्यू) परम प्राप्तव्य का आश्रय मिलता है चरम विश्रान्ति मिलती हैं, उसका भी आभास प्राप्त हो सका है, तथापि वह ध्रुव-परिपूर्ण फल अभीतक प्राप्त नहीं हो सका है। अतः चरमविश्रान्ति नहीं मिलती।

सत्यलोक की ख्याति (अनुभव) में पहुँचकर भी इस पंच पाद के अंतिम दो पाद (सत्व एवं तत्व) के सम्बन्ध में जिज्ञासा शेष रह जाती है। जो सत्यलोक के सिद्ध हैं उनमें भी इस चरम तथा परम साधना की अपेक्षा शेष रह जाती है। वह जिज्ञासा है कि ध्रुव, शुद्ध तथा पूर्ण सत् (रीऐलिटी) क्या है ? जो सर्वतोभावेन स्वतंत्र और अपर अपेक्षाहीन वस्तु (Absolute) है, वह कौन सा पदार्थ है ? इसी लिये सत्यलोक में प्रतिष्ठित साधक का साधन है "ॐ तत्सत्" ब्रह्ममंत्र तथा परम भाव का साधन। साधना की चरम भूमि अभी भी अधिगत नहीं है, तथापि यह निश्चित है कि जो साधक सत्यख्याति में अधिष्ठित हैं उनमें स्मृति ज्ञान, मेधा, तपः वीर्य और तुष्टिरूपी समस्त ऐश्वर्य का एक विपुल तथा महान् विकास अवश्य होता रहता है। सत्यख्याति को व्याहृति सप्तक की अन्तिम ख्याति कहा गया है। अतः इस ख्याति का अभ्युदय संघटित होते ही पूर्व-पूर्व ख्याति की जो भी दैवी सम्पदा है, वह सब एकत्र (gathered) और संहृत् (इन्टिग्रेटेड) हो जाती है।

पहले जिस डायनेमिक सिरीज का उल्लेख किया गया है, यदि वह कछुये के अंग के समान एक बार प्रसरत् (डाईवरजेन्ट) तथा अन्य बार संकुचत् (कनवरजेन्ट) हो, तब वह समग्ररूप से प्रकृति की ही आकृति है। अतः जो सत्यलोक में अधीष्टित हैं, वे प्रकृत जिगीषु हैं, वे प्रतिष्ठित होने के साथ ही अन्त में प्रकृतिजयी भी हो जाते हैं। सत्यलोक से पूर्व-पूर्व की ख्यातियों में अस्मिता आदि पर विजय प्राप्त हो जाती है। रसाश्रित साधन में सत्यख्याति अलसित-उल्लसित-विलसित रस के समग्र लेख को प्रदर्शित करने को उद्यत रहती है, किन्तु अलसित रस (भूमा) में स्वयं प्रविष्ट नहीं होती। सत्यख्याति में भेदाभेद अन्वित्य होकर भी विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार उसमें ख्याति भी स्थित रहती है।

भूरादिभिरनन्तवत्वम् ।।

अवच्छेद—परिच्छेद—समुच्छेदाद्यसम्भवात् ।

आनन्त्यं ब्रह्मणि स्याद्ध्यानन्तवत्त्वं तु सप्तसु ।।

अर्चिरादिभि ज्योतिष्मत्वम् ।।

अग्नौज्योतिष्ठ्वमस्त्येव कृष्णवर्त्मापि स तथा ।

उर्ध्वगेन तेजसाग्नि निर्धूमः सोऽर्चिरेवतु ।

अस्मादभ्युदयादग्नि र्यात्यर्चिरादिमार्गताम् ।।

अक्षादिग्रहणभूयस्त्वेन प्रकाशमत्वम् ।।

समीक्षा च परीक्षा चान्वीक्षेति लौकिकादृशिः ।

बोधिश्चर्तम्भरा प्रज्ञा सम्बोधिश्चापि योगजा ।
आध्यात्मिका इमाः सर्व्वाः सन्त्याधिभौतिकादयः ।
हेयोपादेयताहीना स्वतःसिद्धा दृशिर्मता ।।
कायादिभिरायतनवत्वम् ।।
आयतनानि सत्यस्य सप्तकायादिषु क्रमात् ।
निखिलानि हि वस्तूनि सप्तायतनतामिषुः ।
कति व्यक्तानि भूतेषु कत्यव्यक्तानि चासते ।।
जीवेषु पञ्चकोषा ये तेऽप्येवं समवस्थिताः ।
ते च सप्तविधाः सन्ति वागजीवाभ्यां समन्विताः ।।

चातुर्मात्रिक विश्लेषण

नव पदार्थ विज्ञान में किसी घटना (फिजिकल इवेन्ट) का विश्लेषण करने के लिये एक चातुर्मात्रिक आधार बना लिया जाता है । स्पेस के सर्वविदित तीन डाईमेन्शन और उसके साथ वाले चतुर्थ डाईमेन्शन के रूप में टाईम को मिलाकर यह चातुर्मात्रिक विश्लेषण (फोर डाईमेन्शनल एनेलसिस) निर्वाहित होता है । इस प्रकार के विश्लेषण के द्वारा वाह्यघटना की वर्तमान विवृत्ति अधिकतर वास्तविक और स्पष्ट हो जाती है । न्यूटन युग में विज्ञान (क्लासिकल फिजिक्स) में अत्यावश्यक समाहार और समन्वित धारणा का प्रकाशन नहीं हो सका था, तभी उस समय विश्लेषण और विवृत्ति विशेष रूप से अवान्तर (एबस्ट्रैक्ट) और नैकटिक (एप्राक्सिमेन्ट) ही हो सकी है । यहाँ स्मरण रखना होगा कि विश्व की कोई भी घटना पूर्णतः स्थूल अथवा वाह्य घटनाक्रम कदापि नहीं है !

वृक्ष से एक पत्ता गिरा, शरीर में एक सिहरन हो रही है, यह सब केवल बहिरंग रूप से देखने पर वास्तविक 'देखना' नहीं कहा जा सकता । अतः विश्व की प्रत्येक घटना के अन्तः तथा बाह्य को देखने के लिये एक सत्य और जीवन्त आधार (ए लिविंग कम्पलीट फ्रेम आफ रिफरेन्स) की धारणा करना आवश्यक है । नव विज्ञान के अनुसार हमारा यह विपुल प्राण और चेतना का आधार भी चतुःमात्रिक है । यहाँ जो भी घटना धटित होती है, उसे चारों आयामों में ही देखना होगा । प्रथमतः—इस स्थान और इस मुहूर्त्त में जो घटना घटी है (इवेन्ट एज हीयर एण्ड नाऊ), उसके आगे और बाद में क्या है ? उसमें कितनी उर्ध्वगामिता और अधःगामिता है ? सभी घटनाओं के सम्बन्ध में अवधि तथा सीमा का प्रश्न है । हमारे विश्लेषण के अनुसार इसे 'कोआर्डिनेट आफ कन्टिन्युईटी' (जिसे सूत्र में अनन्तवत्व कहा गया) कहते हैं ।

द्वितीयतः—इस घटना के पीछे कौन सी शक्ति अथवा आवेग विद्यमान है ? (आवेग = इनर्जी अथवा urge) । इस शक्ति का उत्तरोत्तर समर्थ और यथार्थ

रूप क्या है ? ऐसी कोई वाह्य घटना, जिसमें शक्ति को स्थूलत: कार्यरत देखते हैं, ताप अथवा चुम्बकीय शक्ति है। जबतक गम्भीर और व्यापक दृष्टि में उस शक्ति का संधान नहीं मिलता, तब तक इस अन्वेषण से अव्याहति नहीं प्राप्त हो सकती। जड़ विज्ञान के मत Inscrutable Power से क्या समाधान प्राप्त हो सकेगा ? हमारे विश्लेषण के अनुसार यह है ज्योतिष्मत्त्व (कोआर्डिनेट आफ इनर्जी वैल्यू)।

तृतीयत:—जिस घटना को अनन्तवत्व तथा ज्योतिष्मत्व के दृष्टिकोण से विश्लेषण करने का प्रयास किया जाता है, वह स्वयं का प्रकाशन इन-इन प्रकार से करेगी कैसे और किससे ? अर्थात् उसे बृहत्तर और महत्तर रूप से प्रकाशन करने के लिये तदनुरूप दृष्टि तथा अनुभूति की भूमि को भी अवश्य स्वीकार करना ही होगा। हमारे विश्लेषण में यही है प्रकाशमत्व (को-आर्डिनेट आफ एप्रिहेन्शन एण्ड कम्प्रिहेन्शन-रियलाईजेशन)।

चतुर्थत: यह घटना किस काया-अवयव अथवा आकृति मैग्निटचूड-फार्म पैटर्न के माध्यम से आ रही है और वह कब किस प्रकार से परिवर्तित अथवा अपरिवर्तित है, इसे भी हमें लक्ष्य करना होगा। प्रत्यक्ष में जिस रुप में आ रही है नेपथ्य में जाकर वह रुप है अथवा नहीं है ? यह प्रश्न भी हमें करना होगा और यह अन्वेषण करना होगा कि उस घटना का कोई एक ध्रुव, पूर्ण एवं शुद्ध लेख (पिक्चर) है अथवा नहीं है ? यदि है तब कहाँ किस भूमि में है ? हमारे विश्लेषण में यही है आयतनवत्व। (दि कोआर्डिनेट आफ मैग्निटचूड एण्ड पैटर्न)।

उक्त अनन्तत्वादि मंत्रों का अवयव, प्रयोग और यह उपलब्धि में कैसे उदाहृत है ?

हमने इससे पहले पाद, मात्रा, कला, काष्ठा, मन्त्र, ऋषि, देवता, विनियोग, अर्धमात्रा, मात्रातीत, पूर्णमात्रा इत्यादि अनेक विश्लेषण सूत्र का प्रयोग किया है। किन्तु यहाँ छान्दोग्य श्रुति में प्रसिद्ध जिन अनन्तवत्वादि चतु:प्रसंग का अंकन किया गया है, वे विश्लेषण के मौलिक सूत्र (प्रिंसपल्स आफ बेसिक एनेलासिस) हैं। अन्य सूत्र इन्हीं चारों के अन्तर्गत हैं। वे इन्हीं चारों के विशेषावयव कहे जा सकते हैं। जैसे कोई मंत्र अथवा नाम है। प्रथमत: उसे अनन्तवत्व रूप में देखना और पाना होगा। यहीं विदित होती है साधारण शब्द की तुलना में मन्त्र अथवा नाम की विलक्षणता। किसी भी शब्द को इस मुहूर्त्त में कोई घटना मात्र (इवेन्ट एज हीयर एण्ड नाऊ) माना जा सकता है, किन्तु मंत्र के संबंध में इस प्रकार की परिच्छिन्न दृष्टि पूर्णतः अचल है। तत्पश्चात् मंत्र के वाच्य देवता होते हैं। यह देवता कौन सी वस्तु हैं ? लीला अथवा ज्योति: की किसी उर्ध्वतन भूमि और ख्याति को ही देवता माना जा सकता है।

अतः ज्योतिष्मत्व लक्षण को किसी एक काष्ठा में न ले जाने पर किसी देवता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। तदनन्तर ऋषि ! ऋषि है प्रकाशमत्व अथवा दिव्य अनुभूति की एक स्वेच्छोज्वल अवस्था, जहाँ भ्रम प्रमाद आदि सर्वविध कुण्ठा-कार्पण्य की संभावना अपगत हो जाती है। अन्त में यह जान लेना होगा कि मंत्र का कोई निश्चित अवयव, तनु अथवा काया अवश्य है और किसी एक निर्दिष्ट छन्द एवं आकृति में मन्त्र के विनियोग की स्थिति को भी मानना ही होगा। मंत्र के अवयव और विनियोग को जिस दृष्टि से देखते हैं, उस दृष्टि का विषय है आयतनवत्व (मैग्निट्यूड, फार्म, पैटर्न)। दृष्टान्तस्वरूप प्रणव की प्रथममात्रा = अ कार। यह हुआ अनन्तवत्व। द्वितीय मात्रा = उ कार = आयतनवत्व। तृतीय मात्रा म कार = प्रकाशमत्व, नादविन्दु, ज्योतिष्मत्व। ह्रीं बीज का ह् = अनन्तवत्व। दीर्घ ई कार = आयतनवत्व, चन्द्रविन्दु = ज्योतिष्मत्व। इस निर्देशानुसार मंत्राक्षर समूह में गंभीरता से प्रविष्ट होकर उसका सम्यक् अनुधावन करे। प्रणव में अ को तथा ह्रीं बीज में ह् को अनन्तवत्व क्यों कहा गया ? पुनश्च इन दोनों बीजमंत्रों मे यथाक्रम से उ तथा ई को आयतनवत्व क्यों माना गया ? इन सभी प्रश्नों का समाधान करते समय इन-इन अक्षरों को और इनके मूलभूत मुख्य प्राणव्यापार को दृष्टि में रखना ही होगा। अन्यथा अव्यवस्था की आशंका हो जाती है।

जपसूत्र में किसी परवर्त्ती स्थल पर तल, लम्ब, वेध और इन तीनों के समन्वय-समाहार के विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है। इन चारों को भी अनन्तवत्व आदि के साथ मिला लेना आवश्यक सा है। जैसे तल अथवा आधार है अनंतवत्व, लम्ब अथवा उर्ध्वंग वृत्ति = आयतनवत्व, वेध अथवा डेप्थ डाईमेंशन = प्रकाशमत्व। इन तीनों के समाहार और संगति से ज्योतिष्मत्व की स्थिति होती है।

गायत्रीशिरः—रस को प्रकाशमत्व क्यों माना गया ?

यह लक्ष्य करो कि देश-काल-वस्तु तथा सम्बन्ध, किंवा सत्ता-शक्ति-छन्दः एवं आकृति। इस प्रकार से सबके विश्लेषण का जो चतुःसूत्री दृष्टिकोण हमने अपनाया है, उनमें भी गंभीर दृष्टिकोणानुसार अनन्तवत्वादि को 'शामिल' किया जा सकता है, जैसे—देश = आयतनवत्व, काल = अनन्तवत्व, छन्दः = प्रकाशमत्व तथा वस्तु = ज्योतिष्मत्व। इसके अन्दर छंदः के प्रकाशक की भूमि को लाया गया है। यह इसलिये है कि छन्द ही प्रकाश के प्रतिकूल जो कुछ भी है, उसे आच्छादित करता है और प्रकाश के विकासार्थ जो कुछ अनुकूल है, उसे निरुपद्रव और सावकाश बना लेता है। इस प्रकार से सत्ता = अनन्तवत्व, आकृति = आयतनवत्व, छन्दः = प्रकाशमत्व और शक्ति = ज्योतिष्मत्व। पूर्व समीकरण में हमने जिस ज्योतिष्मत्व की उपलब्धि वस्तुरूपेण (ऐस सबस्टेन्स) किया है, अन्त वाले समीकरणों में हम उसे पुनः शक्ति-

रूपेण (ऐस पावर) उपलब्ध कर रहे हैं। गायत्री मंत्र के "आपोज्योतिरसोऽमृतम्" को शिरः कहा जाता है।

गायत्री के शिरोभाव में जो चतुःतत्व विद्यमान हैं, उसे हम यथाक्रम से आकृतिमत्वादि प्रभृति चारों के साथ मिला सकते हैं। जैसे आपः = आयतनवत्व, ज्योतिः = ज्योतिष्मत्व, रस = प्रकाशमत्व और अमृत = अनंन्तवत्व। इस समीकरण में रस को प्रकाशक की भूमिका में लाया गया है। इसलिये वास्तविक रस बोध अथवा आनन्द स्पर्श के बिना अन्तर्बहिः विश्व में प्रकाश के विकास की अनुभूति संभव नहीं होती। कोई भी समृद्ध समुज्वला अनुभूति पाने के लिये अनुभविता को अपने प्राणों में रस चेतना अथवा आनन्द संविद का उन्मेष करना ही होगा। अतएव कहा जा सकता है कि किसी भी वस्तु को पूर्ण अथवा प्राणवन्त रूप में देखने के लिये वाह्य-दृष्टि अथवा मनन को आधार बनाना उचित नहीं है। इसके लिये भाव चाहिये। भाव वेदना और सहानुभूति एवं सामरस्य की दृष्टि चाहिये।

घटना का वामन एवं त्रिश्वरूप

एक ओर वैज्ञानिक और दार्शनिक हैं, दूसरी ओर हैं कवि तथा ऋषि। इन दोनों में दृष्टि, उपलब्धि और आस्वादन की विलक्षणता का यही कारण है। विगत शताब्दी में एक फल भूतल पर गिरा। उसकी कैफियत देने के लिये वैज्ञानिकों को अपने हिसाब के खाते में एक छोटा कल्पित नक्शा (डाईग्राम) अंकित करना पड़ा, तब हिसाब आगे बढ़ा। उस समय आलोच्य घटना को यथासंभव परिच्छिन्न और खण्डित करने की परम्परा प्रचलित थी। इस व्यापार का पारिभाषिक नाम है 'लिमिटेशन आफ डाटा) इसके अभाव में हिसाब जटिल हो जाता था। अतः गन्तव्य तक पहुँचने के लिये इसके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था। इसके कारण हमारा हिसाब अत्यधिक संकीर्ण और अवास्तविक (रिस्टिक्टेड एण्ड ऐब्स्ट्रैक्ट) हो चला है। वर्त्तमान युग के दृष्टिकोण से द्वारा हम इस कृत्रिम अवरोध को एक परिमाण में भग्न करने में समर्थ हो सके हैं। पृथ्वी और उस फल की आपसी 'खींचातानी' के स्थान पर हम वर्त्तमान में देश अथवा विराट की संस्थिति को एक अद्भुद ज्यामितीय आकृति (इनट्रिन्सिक ज्योमेट्रिकल पैटर्न) में सजाते जा रहे हैं। अर्थात् जिस आधार पर जागतिक घटनापुंज घटित हो रहे हैं, उस आधार के निजस्व आयतनवत्व को हमें स्वीकार करना ही पड़ता है।

किन्तु अखिल विश्व का आयतन जो यह स्पेस है, उसे हम अनन्त अथवा असीम माननें में हिचकिचाते हैं। अर्थात् स्पेस तो अनबाउन्डेड होने पर भी अनलिमिटेड नहीं है। यह एक परिमित अथवा परिमेय वस्तु है। इसके साथ हम काल अथवा टाईम को युक्त करके अनन्त अथवा असीम का अन्वेषण कर रहे हैं।

स्पेस के दृष्टिकोण से जो परिमित है, टाईम के दृष्टिकोणानुसार क्या वह परिमित है ? स्पेस और टाईम को एक करके उसकी एक साधारण संज्ञा मानी गयी है Continuum । क्या इसमें अनन्तवत्व का लक्षण पूर्णत: प्रतिफलित होता है ? यह विदित होता है कि इस प्रश्न का नि:संदिग्ध उत्तर देने के लिये विज्ञान प्रस्तुत ही नहीं है । मैं द्रष्टा हूं । सामने एक शिशिर विन्दु देख रहा हूं । इस शिशिर विन्दु की सत्ता और शक्ति प्रभृति हमारे सामने के स्थान में और हमारे मनोयोग के इसी क्षण में परिसमाप्त हो जायेगी ? ऐसा विज्ञान नहीं मानता !

यह विराट विश्व समग्ररूप से और समसूत्रवत् प्रतिनियत स्पन्दित होता रहता है । यदि हम इस स्पन्दन को उर्मिरूप मानें, उस स्थिति में यह स्पष्ट है कि किसी भी काल अथवा देश में उस उर्मि का परिच्छेद अथवा अन्त नहीं है । यह अवश्य है कि किसी दर्शक विशेष के अभिनिवेष में अथवा सम्पर्क में वह सीमाहीन उर्मि किसी एक स्थान (हीयर) पर अथवा किसी एक मुहूर्त (नाऊ) में स्वयं को घनीभूत रूप से (कन्डेन्सड्) प्रकाशित करती है । उसके इस प्रकार की प्रदर्शन चेष्टा के द्वारा हमारे सम्मुख वह छोटा सा शिशिर विन्दु परिदृश्यमान होने लगता है । हमारा व्यवहार अथवा कार्य चलाने के लिये विश्वरूप ही हमारे सम्मुख छोटे से वामन रूप में प्रकट होने लगता है । जो स्वयं सीमाहीन और अगाध सिन्धु है, वही इस प्रकार से हमारे लिये वर्षा का जल, नदी, ह्लद इत्यादि में रूप सम्मुखीन होने लगता है ।

प्रकाश अथवा अनुभूति का उच्चतर ग्राम वह किसके निकट उन्मुक्त होगा, किस दृष्टि से ? विज्ञान की प्रांतभूमि में (एट दी बाउण्ड्री लाइन) किस संकट के सम्मुखीन होना है ?

यह सत्य है कि वर्त्तमान युग में विज्ञान शक्ति को एक प्रकार से जड़ मान्यता के पाश से उन्मुक्त करने में समर्थ हो सका है । अर्थात् वर्त्तमान में Energy केवल मात्र Brute Blind Force हो नहीं है, जिसके सम्बन्ध में न्यूटन के युग में इसी चित्ताभ्रान्त वृत्ति को लेकर इक्वेशन और फारमूला प्रचलित थे । यदि जड़ विज्ञान की मूल वस्तु इलेक्ट्रिसिटी नहीं है, तब हम उसे स्वरूपत: नहीं जानते और समग्ररूपेण भी नहीं जानते ! अब हम लोगों से यह नहीं कह सकते कि वह वस्तुत: प्राण अथवा चेतना की एक सार्वभौम अभिव्यक्ति नहीं है । अत: यह कहा जा सकता है कि ज्योतिष्मत्व का महत्तर एवं उज्वलतर रूप अब अन्वेषण का विषय हो रहा है । यह अब अत्यन्त गंभीर रूप से अन्वेषित हो रहा है । अर्थात् अब विज्ञान भले ही मुख से न कहे तथापि अन्तरतम रूप से माननें को विवश है कि अभी तक उसने शक्ति

का जो भी परिचय दिया है; वह उसका सत्य परिचय कदापि नहीं है। वह उसके बहि:प्रकोष्ठ का बहिरंग परिचय मात्र है।

हम ज्योतिष्मत्व की प्रान्त सीमा में आकर खड़े हैं, परन्तु उस ज्योतिष्मत्व का वह दिशा प्रदर्शक कौन है जो हमें इस अर्धजड़ता और अर्धचेतना के संकट से त्राण दिलाकर परिपूर्ण आलोक में, द्विधाद्वन्द के पार ले जायेगा? विज्ञान का जो यह अभिसार ज्योतिष्मत्व की ओर का है, उसका पुरोगामी और पुरोहित कौन होगा? विज्ञान अपने यंत्रों तथा मननादि के द्वारा जितनी अनुभूति एकत्र कर सकता है, मात्र उतनी अनुभूतियों द्वारा विज्ञान की कुण्ठा तथा कार्पण्य दूरीभूत नहीं हो सकता। अतएव आवश्यक अनुभूति के उच्चतम ग्राम में उन्मेष होना आवश्यक है। यही है ऋषि की दृष्टि, जिसके द्वारा वह आवरण हमारे सामने से हट जा सकता है।

भूरादि सप्त व्याहृति अथवा सप्तख्याति के द्वारा अनन्तवत्
लक्षित हो जाता है।

अनन्तवत् से क्या ज्ञात होता है? सब कुछ की अपने सीमा के पार जाने के लिये चिरन्तन आस्पृहा

यह पहले कहा जा चुका है कि सत्य स्वरूप ब्रह्म एक परमाश्चर्य तत्व है। इसके सम्बन्ध में अवच्छेद आदि पंच प्रकार की बाधाओं अथवा लिमिटेशन का कोई महत्व ही नहीं है। यदि तत्वत: ब्रह्मवस्तु ऐसी होती, उस स्थिति में सत्यम् तथा अनन्तम् रूप स्वरूपलक्षण पूर्णत: व्यवहृत होता। उससे न्यून किसी भी वस्तु से उसका सम्बन्ध ही नहीं रहता। इसीलिये कारिका में कहा गया है कि ब्रह्मवस्तु का निजस्व धर्म है आनन्त्यम्। किम्बहुना यदि इसे ब्रह्म का धर्म कहें, तब धर्म और धर्मी में कोई भेद ही नहीं रह सकता। अर्थात् ब्रह्म और अनन्त तत्वत: एक ही हैं। केवल बोलचाल की भाषा में इन्हें दो समझा जाता है। ब्रह्म का स्वरूपगत् जो आनन्त्य अथवा भूमत्व है, उसके साथ भूरादि सप्त व्याहृति के अनन्तवत्व का भेद प्रदर्शन करने के लिये कारिका में उक्त है 'अनन्तवत्वं तु सप्तसु'। अर्थात् अनन्तवत्व शब्द से जो सूचित होता है, वह किसी का अन्त अथवा सीमा है (अन्तवत्), किन्तु वह क्रमागत अन्त अथवा सीमा के पार भी ले जाता है।

अर्थात् मानों वह कह रहा है—"तुमने इसके भीतर प्रवेश करके इतना देखा और पाया है, किन्तु देखो हम इस सीमा को भंग करके बहिर्गत् हो रहे हैं, हम बृहत्तर और महत्तर हो रहे हैं। क्रमश: 'ज्यायान्—वरीयान्' हो रहे हैं। यदि हो सके तब तुम भी अपनी दृष्टि को उत्तरोत्तर विशाल करो, तुम अपनी प्राप्ति को भी हमारे साथ-साथ उत्तरोत्तर 'महीयान तथा वरीयान्' करो।" भू: रूपी प्रथम व्याहृति कहती है "यह देखो! मैं तुम्हारे सामने हूं। तुम मुझे निजस्व करो, अपना

बना लो" इसी के साथ-साथ वह किसी उर्ध्वतम धाम की ओर अंगुलिनिर्देश करते हुये कहती है "यह देखो"।

इस धाम को जिसे 'भूः' व्याहृति प्रदर्शित कर रही है, हमने 'स्वः' के रूप में उसका वर्णन किया है। अतः प्रथम व्याहृति अपनी कुछ सम्पदा हमें देते हुये कहती है "अन्तवत् परिमित सामग्री लेकर पड़े रहने से कोई लाभ नहीं होगा। यह जो असीम सम्पदा का भण्डार तुमसे अगोचर है, उसके सन्धान के लिये प्रवृत्त होना पड़ेगा।" इसी अन्तवत् की सीमा को पार करने के लिये जो चिरन्तन आकूति है, उसी के लिये वेद ने उदात्त कण्ठ से कहा है "अमृतस्य पुत्रा अमृता अभूम"। इसी आकूति ने ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी के प्राणों से उठते हुये यह आकांक्षा व्यक्त किया था 'येनाहम् नामृतस्याम् किमहं तेन कुर्याम्"। अतएव हम देखते हैं कि अनन्तवत्व के मूल में यही गम्भीरतम आस्पृहा है। अनन्त कभी भी किसी सीमा में बंधकर नहीं रह सकता। ब्रह्मस्वरूप में जो अनन्तवत्व ध्रुव तथा परिनिष्ठित है, वही सृष्टि के प्रत्येक रेणु में स्वयं को खोकर मानो पुनः अपने को खोजने के प्रयास में उदग्रीव और व्याकुल है। यह भी है ब्रह्म का अपनी सृष्टि में एक अभावीनय रूप से अनुप्रवेश "तत् सृष्ट्वा तदेवाणु प्राविशत्"।

अर्चिच प्रभृति के द्वारा ज्योतिष्मत्व लक्षित होता है।

अग्नि शुक्लवर्त्मा, कृष्णवर्त्मा है। ज्योतिः तथा रस का पारस्परिक साहचर्य तथा एकात्मता की भूमि

पूर्व सूत्र में हमने अनन्त तथा भूमा का सन्धान प्राप्त किया है। वर्तमान सूत्र में उसी भूमा को ज्योतिः और रस की परिपूर्णता तथा अभेद पराकाष्ठा के रूप में खोजना होगा। हमारे साधारण अनुभव में ज्योति को अग्नि, तेजः, तड़ित इत्यादि व्यक्त एवं अव्यक्त रूप से जाना गया है। जो विज्ञान में प्रत्यक्ष है, उसे उसने सूक्ष्मता एवं विपुलता की ओर भी गम्भीर भूमि में ले जाने का प्रयत्न किया है। बहिर्विश्व की क्रिया के मूल में जो शक्ति है, उसे विज्ञान ने न्यूक्लियर एनर्जी पर्यन्त पहुँचा दिया है। प्राण और चेतनारूप से परिचित शक्ति के सम्बन्ध में आज तक विज्ञान कोई सम्यक् समाचार दे सकने में अक्षम रहा है। शक्ति की इस प्रकार की त्रिधा अथवा बहुधा अभिव्यक्ति के मूल में समता अथवा सामञ्जस्य का कोई आधार अथवा उत्स है अथवा नहीं है; इस सम्बन्ध में भी विज्ञान निरूत्तर है।

इतने पर भी यह सत्य है कि वह सर्वविध समीक्षा और परीक्षा की प्रकाश रेखा में ही अग्रगामी और गतिशील होता जा रहा है। यहाँ कठिनाई यह है कि विज्ञान जिस आलोक में अनुसन्धान कर रहा है, वह कभी-कभी बुझ जाता है।

यही नहीं, वह अनुसन्धान की प्रान्तभूमि में पहुँचते-पहुँचते स्वयं को एक गाढ़तर तमस् के क्रोड़ (Inscrutable unknown) में खो देता है। यह सत्य है कि आत्मानुभूति और विश्वानुभूति का सबसे अन्तरंगतम वाह्यताप, तड़ित, आलोक आदि तो है ही नहीं। वह है प्राण तथा चेतना। दोनों को जितने साक्षात् रूप से हम जानते हैं, उतनी गाढ़ता से हम बहिर्विश्व में कुछ को भी नहीं जानते। अथ—च, इन दोनों के बारे में विज्ञान का संशय अत्यन्त प्रगाढ़ है और अज्ञता भी अपरिसीम है। अतएव यह प्रतीत होता है कि विज्ञान ने जिस अग्नि को अपनी गवेषणा वेदी पर प्रदीप्त किया है, वह अग्नि वास्तव में कृष्णवर्त्मा है, धूम्र से समावृत है।

इस कृष्णवर्त्मा अग्नि की दीप्ति दृष्टि को जितना अधिक स्वच्छ करती है, उससे भी अधिक धूम्र और ज्वाला से आकुल भी कर दे रही है। अतएव प्रश्न उत्थित होता है कि निर्धूम, धूम्रहीन अग्नि कहाँ है? उस अग्नि को कैसे प्रज्वलित करूँ? वह अग्नि कृष्णवर्त्मा नहीं है, शुक्लवर्त्मा है। इसकी साधारण संज्ञा है ज्योतिः। हमारे परिचय वाला अग्नि, तेजः, आलोक आदि इसी ज्योति का ही कुण्ठित, लुण्ठित तथा गुण्ठित रूप है। इसी कुण्ठा आदि के कारण कार्पण्य होता है। इस कार्पण्य के दूर होने पर ही हमारे सम्मुख ज्योति का पथ उन्मोचित हो सकेगा। यदि किसी उपाय से यह कार्पण्य दूर हो सके, तब हम जिस पथ को देखते हैं, वही है 'अर्चिरादि पथ'। जो योगवल से शरीर त्याग करते हैं, वे इसी मार्ग का इसी पथ का वरण करते हैं। "शुक्लकृष्णे गत्तिह्येते" गीतोक्त इस द्विविधा गति में शुक्लागति की ही प्रशंसा की जाती है। केवल प्रयाण काल की ही नहीं, जीवन की जो साधना है, उसे भी इसी शुक्लागति के अनुसरण द्वारा व्यापृत कर देना होगा।

इस शुक्लवर्त्म में जितनी ही अग्रगामिता आयेगी, उससे यह स्पष्ट होता जायेगा कि हममें तथा विश्व में अभिव्यक्त समस्त शक्तियां (अर्थात् जड़, प्राण तथा चेतना) हमें एक अभिन्न परमरसोज्वल मूल की ओर ले जा रही हैं। अब जड़-प्राण तथा चेतना में जो दुस्तर व्यवधान है और विरोध है, वह सब परिलक्षित होने लगता है। क्रमशः यह परिलक्षित होगा कि हमारे आलोक के अभिसार पथ का व्यवधान दूरीभूत हो रहा है और वह विरोध एक अभिन्न सत्यच्छन्दः और मधुच्छन्दः के शासन में आकर परम समन्वय तथा अच्छेद्य मैत्री में परिणत होता जा रहा है।

अतः ज्योतिष्मत्व का पथ है "दि वे आफ सुप्रीम इन्टिग्रल योगा"। हमारी साधारण, अयुक्त, युञ्जान अवस्था में भी ज्योति तथा रस, आलोक तथा पुलक की 'हाथ पकड़ने' वाली अवस्था उन्मिषित हो जाती है, तब भी वह मिलन परिपूर्ण और

स्थायी नहीं होता। अतः प्रश्न होता है कि क्या उपलब्धि का कोई ऐसा परमस्थान है जहाँ ज्योति यह कहे कि 'मैं ही रस हूँ। रस के अभाव में मेरी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती।' जहाँ आलोक यह कहे कि 'पुलक मेरा साथी है। मैं और पुलक एकात्मा हैं, एक ही वस्तु हैं।' यहाँ तक उन्नीत हुये बिना ज्योतिष्मत्व का सन्धान नहीं मिल सकता।

शुक्लवर्त्म अभ्यारोह में पर-पर अनभूति और सब के जप-ध्यानादि का क्रम

हमारी नित्यपरिचय की पार्थिव अग्नि से प्रारंभ करते हुये विज्ञान की तैजस वस्तु (रेडियेन्ट मैटर अथवा एनर्जी), ध्यान के (धीमहि) वरणीय भर्गः और अन्त में तुरीय भाव अथवा 'ज्योतिषां ज्योतिः यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' पर्यन्त भास्वर और भास्वान की एक क्रमोर्ध्वगामी धारा चल रही है। इस धारा की विश्रान्ति है 'ज्योतिषां ज्योतिः' रूपी पदार्थ में। क्योंकि वहां ज्योति निरतिशय और निरपेक्ष (लाईट एज् एब्सोल्यूट) है। हमने पहली विवेचना में इन सभी क्रमोन्नत भूमि परम्पराओं को सप्तार्चि अग्नि के रूप में पहचाना है। विभिन्न भूमियों में इनकी संज्ञा अथवा नाम भिन्न हैं, फिर भी इनकी साधारण संज्ञा है 'अर्चिः' (ऋक् तथा अर्चिः, इन दोनों के मूलगत सादृश्य को देखो)।

इस अर्चिः के पथ पर अग्रगामी होने के लिये हम जिस मंत्र का प्रथमतः जपध्यान करते हैं, वह है वही अभ्यारोह मंत्र "ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय"। जब हम इस योग में आरूढ़ हो जाते हैं, तब हमारी उपलब्धि जिस मंत्र तथा वाणी को अभिव्यक्त करना चाहती है, वह है प्रसिद्ध वेदवाणी "अगस्म ज्योतिरविदाम देवान्" हम ज्योति के लोक में उपनीत हो गये हैं और उस लोक की दैवीशक्ति और विभूति का साक्षात् कर सके हैं। तत्पश्चात् इस भूमि में आरूढ़ होकर जब अपनी सत्ता की ज्योति तथा रस के साथ परिपूर्ण अभेदावस्था का अनुभव करते हैं, तब वाणी "ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा विमृत्युः विशोकः" का स्मरण करने लगती है। मैं स्वयं ज्योति स्वरूप हूं। मुझमें रजः एवं पाप्मा का लेश भी नहीं है। अतः मैं शोक और मृत्यु के पार जा पहुँचा हूं।

विज्ञान के दृष्टिकोण से वस्तु तथा शक्ति के विश्लेषण का समीकरण। इसकी काष्ठा कहां मिलेगी ?

आधुनिक जड़विज्ञान वस्तु तथा शक्ति (मास एण्ड एनर्जी) का समीकरण करने में समर्थ हो गया है। उसने एक सीमा तक शक्ति को जड़ता से मुक्त करके तैजस कलेवर पहनानें का उपक्रम भी किया है। विज्ञान की दृष्टि में पदार्थ की नाभि में स्थित शक्ति परच्छन्दा न होकर स्वच्छंदता धारण कर चुकी है। इसे

'इनडिटरमिनेसी प्रिंसपल' कहा गया है। इतने पर भी यह प्रश्न दिनोंदिन उद्ग्रीव होता जा रहा है कि हमारे अन्तरतम का परिचय देनेवाली जो प्राण तथा चेतना है, उसके साथ इन सभी इक्वेशन और फारमूला का शक्तिसम्पर्क कितना है ? किम्बहुना जिस अर्चिः के पथ का सन्धान चल रहा है, उसके संधान में किसी भी प्रकार से प्राण तथा चेतना को छोड़ा नहीं जा सकता। साथ ही साथ यह उपलब्धि भी हो रही है कि यदि कहीं शक्ति के वास्तविक सत्य स्वरूप और आकृति को खोजना है, 'रियैलिटी तथा पैटर्न' को पाना है, तब उसके लिये चैतन्य तथा प्राण को गम्भीरतर तथा विपुलतर प्रकाश में ही पाना होगा। अर्थात् शक्ति विश्व में ओतप्रोत है, और विश्व के आधार तथा नियामक रूप में प्राण तथा चैतन्य हैं। इनमें ही खोज करनी होगी।

इसी को लक्ष्य करते हुये गीता में श्री भगवान ने कहा है "प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्"। वैज्ञानिक की शक्ति इसी भागवती शक्ति का ही एक पाद है। उसकी एक मात्रा अथवा एक कला है। काष्ठा अथवा सीमा की खोज चल रही है। विगत शतक का विज्ञान एक बिलियर्ड टेबुल पर कतिपय वामनाकार बिलियर्ड सजाते हुये, उसी की परस्पर कीं 'ठोकाठोकी-धक्काधुक्की' के द्वारा विराट विश्व की समस्या को खोज रहा था। आज वह इन सबको हटाकर, इन्हें चूर्ण विचूर्ण करके, उसके स्थान पर अनेक तैजस आकृति (एनर्जी पैटर्न) को सजा रहा है। परन्तु आज भी विज्ञान यह नहीं जान सका है कि यह सब तैजस आकृतियां किसकी हैं ? उसने आणविक शक्ति के आकार में उस आसुरी मूर्त्ति को ही पाया एवं देखा है। किन्तु वह वास्तव में क्या है ? क्या हम किसी दिन विज्ञान के कण्ठ से इस प्राचीन वेदवाणी को सुन सकेंगे "अगस्म् ज्योतिरविदाम देवान्"।

प्रकाश और प्रकाशयिता

नित्य हवन के "ॐ अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहा" इस भाव से गोचर तथा अगोचर सर्वविध अग्नि की ज्योतिः के साथ अभेदभावना करते हुये, जिस मंत्र का विनियोग होता है वहाँ से प्रारम्भ करते हुये "ॐ ज्योतिरहं" इत्यादि त्रिविदिषा सन्यास के विरजा होम तक अपनी आत्मा और परम ज्योति की साक्षात् अभेद भावना द्वारा एक उर्ध्वविशाल ज्योतिर्धाम हमारी अनुभूति में प्रकट हो जाता है। भुर्भुव स्वः प्रभृति सप्तव्याहृति अथवा ख्याति को उर्ध्वविशाल असीम ज्योतिर्मय की एक प्रान्तभूमि (लीडिंग स्टेज) कहा जा सकता है। अब इस विशाल से विशालतर, उज्वल से उज्वलतर प्रकाश के लिये हमारे अन्तर में जो प्रकाशक अथवा अवभासक है, उसकी भी अनेक क्रमविन्यस्त परम्परा को स्वीकार करना ही होगा। इस प्रकाशयिता का वर्णन अगले सूत्र में किया जायेगा।

अक्ष अथवा इन्द्रिय से प्रारम्भ करते हुये हमारे विषय ग्रहण की जो वस्तु है तथा ग्रहण का जो उपाय है, उसके उत्तरोतर उत्कर्ष (भूयस्त्व) के द्वारा प्रकाश मत्व लक्षित होता है।

ग्रहण किसे कहते हैं और उसके भूयस्त्व से क्या तात्पर्य है ?

जिसके द्वारा किसी विषय को हम अपने बोध अथवा ज्ञान में ग्रहण करते हैं, उसका साधारण नाम है ग्रहण। इस ग्रहण का विषय हुआ ग्राह्य। जो ग्रहण करता है, वह है ग्रहीता। वाह्यरूप रस आदि विषय सम्बन्ध से इन्द्रियों को ग्रहण कहते हैं। मन: को षष्ट इन्द्रिय स्वीकार करने पर सुख-दु:ख आदि आन्तर विषय समूह को भी इन्द्रियग्राह्य कहा जाता है। इन्द्रिय का एक अन्य नाम है अक्ष। (जैसे भगवान का एक नाम है अधोक्षज)। अक्ष तथा ग्रहण, इन दोनों शब्दों में व्याप्य-व्यापक संबंध हो जाता है। अर्थात् ग्रहण व्यापक है, अक्ष उसका व्याप्य कहा गया है। इससे यह विदित होता है कि हम चक्षुकर्ण प्रभृति वाह्य इन्द्रियों के द्वारा, यहाँ तक कि अन्तःकरण के भी द्वारा जिन विषयों को जान लेते हैं, हमारा बोध, अनुभव, ज्ञान केवल उतने में ही सीमावद्ध नहीं है। उतने में ही परिसमाप्त नहीं है।

हमारे साधारण इन्द्रियज्ञान और मानव संज्ञान से भी अतीत तथा उर्ध्व अन्य ज्ञान की भी सत्ता है। ऐसे ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान अथवा अतिमानस ज्ञान कहते हैं। ऐसे Super-Sensuous और Superamantal Experience के लिये हमें निश्चय ही अन्य विधि का प्रकाशन करते हुये इनकी सत्ता संभावना को अंगीकार करना होगा। यदि इस प्रकाश व्यापार को हम ग्रहण (Owing an acceptence of what has been disowned and ignored) कहें, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्धतन प्रकाश की जो भूमि है, उसके सम्बन्ध में केवल हमारी अभिज्ञता ही नहीं, प्रत्युत् विज्ञान की अभिज्ञता भी एक अंश मात्र ही है। उसका जो ऋत् एवं छन्द है, वह निम्न भूमिस्थ छन्दः का आनुगत्य नही करता। वह नीचे के निम्न भूमिस्थ छन्दः को अपने अनुगत कर लेता है, अपने साथ मिला लेता है। इसे कहते हैं Integral Senthesis। इस समय ऊपर नीचे एवं मध्य की भूमियों को आक्रान्त करके जो समग्र प्रकाश का राज्य स्थित है, उसके प्रकाशक का सामान्य नाम है दृशि—"जो दिखलाता है।"

हमने यह उपलब्ध किया कि यह दृशि कोई सीमित अथवा बन्धनयुक्त वस्तु विशेष नही है। यह है मुख्य प्राण तथा विराट चेतना धर्म का धर्मी। यह अवश्य Dynamic है। अतएव इसके लिये "ततोभूय:", 'तत: किम्' रूपी प्रश्न तथा प्रयास स्वभावतः ही उपस्थित होने लगते हैं। इसी के लिये सूत्र में कहा गया है "अक्षादिग्रहण भूयस्तेन"। अक्षादिग्रहण रूप प्रकाश धर्म है भूय:, ततोभुव:, ततो-

ऽपि भूयः। इस प्रकार से एक असीम सत्य-शिव-सुन्दर को पराकाष्ठा प्राप्त करने के लिये अग्रसर हो रहा है।

आधिभौतिकादि भिन्न प्रकार की दृष्टि
दृष्टांत

श्रुतिप्रसिद्ध आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक रूपी त्रिविध दृष्टि से ग्रहण अथवा दृशि को देखा जाता है। जैसे चक्षुः एक ग्रहण है। आधिभौतिक दृष्टि के अनुसार यह दिखलाता है बाह्यरूप से स्थित स्थूल-सूक्ष्मादि पदार्थों को। हम इसी में यंत्रों के माध्यम से जो देखा जाता है, उसे भी 'शामिल' कर लेते हैं। हममें यह जो देखने का व्यापार (क्रिया) घटित हो रहा है, वह वास्तव में हमारे अन्दर सीमाबद्ध किसी शक्ति से ही घटित हो रहा है, यह तथ्य विचार में नहीं आता ! इसके आधार, अधिष्ठान में नियामक रूप से किसी विपुलतर शक्ति की विद्यमानता रहती है। वह शक्ति चेतना तथा प्राण की ही श्रेणी में आयेगी। उसे जड़ की श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता। अर्थात् उसे कोई Cosmic Material Agency कहना उचित नहीं होगा।

इसलिये इस 'देखने' की प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में नियंत्रक रूप से जो विश्वजनीन प्राण तथा चेतना शक्ति विद्यमान रहती है, उसे देवता कहते हैं। इसी के अनुसार चक्षु के अभिमानी देवता का नाम है आदित्य। आदित्य का अन्य नाम है प्राण। प्राण तो ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। यह हुआ आधिदैविक रूप से इस व्यापार को देखना। किन्तु इस प्रकार से 'देखना' ही 'देखने' का अन्त नहीं है। क्योंकि पहले के दो प्रकार के 'देखने' में ही मैं खोजता हूँ अपने से बाहर की (मानों) किसी एक अनात्मीय सत्ता अथवा शक्ति को (अनात्मीय अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त, आत्मा में न खोजकर बाहर खोजता हूँ)। एक बार अपनी ओर दृष्टि फेरकर अपनी आत्मा में इन सब की मूल तथा प्रतिष्ठारूप परिणति को खोजकर पाना ही होगा। यही है आध्यात्मिक दृष्टि के द्वारा देखना।

आधिभौतिक दृष्टि की सीमा एवं उसके निमित्त वैज्ञानिकों का संकोच

भूत और भौतिक पदार्थ के अधिकार में जो दृष्टि आना चाहती है, वह है अधिभौतिक दृष्टि। विज्ञान इसी दृष्टि के अनुशीलन और सम्प्रदान में व्यापृत रहता है। समीक्षा, परीक्षा, अन्वीक्षा (Observation, Experiment, ratiocination) ही विज्ञान की शिष्टसम्मत गवेषणा का पथ है। यथेष्ठ सावधानता का अवलम्बन लेकर गवेषणा के उपाय और पद्धतियों को यथासम्भव उन्नत तथा मार्जित करने के उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि विज्ञान के द्वारा निरूपित कोई तथ्य अथवा

तत्व पूर्णतः निर्भरयोग्य नहीं है। समीक्षण तथा परीक्षण के लिये विज्ञान ने उत्तरोत्तर उत्कृष्ट यन्त्र और उसकी प्रयोग प्रणाली का आविष्कार किया है।

जो यथार्थ, समग्र तथा पूर्ण है, वह अभी भी अत्यन्त दूर है। हम देखते हैं कि सत्यख्याति में उपनीत हुये बिना कोई भी लेख स्थिर, समग्र और अविमिश्र रूप से उपलब्ध नहीं हो सकता। विज्ञान भी जिन चार आयतनों की खोज में व्यापृत है, उन चारों का अतिक्रमण करके, अथच उन चारों के साथ और भी तीन आयतनों को मिलाना ही होगा। इस मिश्रण द्वारा सप्त संख्या सम्पन्न हो सकेगी। यदि आयतन को 'तनु' कहा जाता है, उस स्थिति में त्रितनु की सत्ता स्पष्ट होने लगती है—जैसे मान्त्री, शाक्ती तथा ब्राह्मी तनु। जब तक प्रकाशमत्व के समुन्नत स्तरों का उन्मेष नहीं हो जाता, तब तक इन त्रिविध महीयसी तनु समूह का सन्धान मिल सकना असंभव सा है। पूर्वोक्त नारायणी स्तव में 'चेतना तथा श्रद्धा रूपी' शब्दद्वय के माध्यम से मांत्री तनु को, 'शक्ति' शब्द के द्वारा शाक्ती तनु को और 'मातृ-व्याप्ति तथा चिति' रूप शब्दत्रय के द्वारा ब्राह्मी तनु को लक्षित किया गया है।

काष्ठा अथवा सीमा को चार प्रकार से देखना। अध्यात्म जीवन में सब चाहनेवाला जो मर्मीप्रश्न है, उसके साथ इसका सम्बन्ध

आयतनवत्व की उपलब्धि और उसके यथार्थ में अवगाहन करने पर (इन रिसपेक्ट आफ वैलिडिटी एण्ड वैल्यू) सप्त सोपान अथवा पर्व की अन्वीक्षा तथा विचार के लिये विज्ञान ने जिस विशेष टेक्निक् की सहायता ली है, उससे भ्रम-प्रमाद की संभावना यथासंभव निरस्त होती जा रही है और हमारे सम्मुख तथ्य-समूह स्पष्टतः प्रकट होते जा रहे हैं, फिर भी इन उपाय समूह की एक सीमा (लिमिटेशन) है। उस सीमा के प्रति विज्ञान जितना सजाग है, हमारे साधारण सूचना-प्रदाता उतने सजाग नहीं हैं। इसीलिये हम विज्ञान के तथ्यों को जितनी निष्ठा के साथ पकड़े रहते हैं, विज्ञान स्वयं उतनी निष्ठा तथा उत्साह के साथ स्वयं अपने अन्वेषित तथ्यों एवं तत्वों के प्रति आबद्ध नहीं हैं।

योग का मार्ग, परिपूर्णता और निर्व्यूढ़ता से इस पर अभिमुख होना चाहिये

अतः ज्ञान एवं अनुभूति के अभिनव उन्मेष-विकास का पथ हमें खोजना ही होगा। उस पथ का सामान्य नाम है योग। इस योगज दृष्टि के द्वारा आधिदैविक तथा आध्यात्मिक राज्य में हम क्रमोन्नत रूप से इसकी भूमियों को (अपने ज्ञान तथा परिचय में) प्रकाशित कर सकते हैं। यहाँ हम 'आध्यात्मिक' शब्द का व्यवहार विशेष गंभीर अर्थ में कर रहे हैं। शास्त्र ने अनेक स्थानों पर साधारण शरीर एवं मानस व्यापार को भी 'आध्यात्मिक' की श्रेणी में ला छोड़ा है। जैसे

आध्यात्मिक दुःख। किन्तु वर्तमान में हम अध्यात्म राज्य की उर्ध्वतन भूमि तथा स्तरों के सम्बन्ध में ही विशेष रूप से विवेचना करने में प्रवृत्त हो रहे हैं। (Realms of Higher Psychie and Spiritual Phenomenon)।

इस सूत्र की कारिका में कतिपय योगज भूमियों का मात्र नाम ही दिया गया है, जैसे बोधि-सम्बोधि-ऋतम्भरा आदि। कारिका के अन्त में यह कहा गया है कि जो दृशि अथवा द्रष्टा हैं, जो स्वप्रकाश होने के कारण सब को प्रकाशित कर रहे हैं, उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार के साधन अथवा सिद्धि की Proving का प्रसंग उठ ही नहीं सकता। वे स्वरूपगत हान (इलिमिनेशन अथवा सबट्रैकशन) और उपादान (एडीशन अथवा एसिमिलेशन), दोनों से ही अतीत हैं, अर्थात् उनमें से ऋणात्मक रूप से कुछ निकाल सकना अथवा उनमें घनात्मक रूप से कुछ जोड़ सकना सम्भव ही नहीं है। सिद्धि-साधन, योग-वियोग अथवा हरण-पूरण प्रभृति समस्त प्रक्रिया जहाँ सावकाश है, वहाँ (विज्ञान में) वास्तविक परिपूर्णता अथवा निर्व्यूढ़ता (परफेक्टनेस और एवसोल्यूटनेस) नहीं रहती।

कायादि के द्वारा विशेषरूपेण निरूपित अथवा निरूपण योग्य होना ही आयतनवत्व का लक्षण है।

कोषपंचक किस प्रकार से कोषसप्तक रूप से गण्य होता है ?

सप्तरूपी मूलसंख्यान के द्वारा जिस प्रकार भूरादि व्याहृति, अर्चिरादि अग्नि प्रभृति सप्तविध होती है, उसी प्रकार काया के द्वारा लक्षित आयतन भी सप्तविध हो जाता है। यह कारिका में कहा गया है। यह सप्तविध आयतन सभी स्थलों में व्यक्त अथवा प्रकटरूप नहीं है। इनमें से अनेक अव्यक्त किंवा सम्पुटित रूपेण (इनफोल्ड) विद्यमान रहते हैं। अतएव इनमें से कतिपय के साथ हमारा साक्षात् परिचय हो जाता है, परन्तु अनेक के साथ हमारा साक्षात् परिचय नहीं रहता। साक्षात् परिचय न रहने पर भी ये प्रभावहीन नहीं हो जाते, प्रत्युत जो अगोचर तथा अव्यक्त (असौ वा स्वः) है, उसी के द्वारा सम्मुखीन एवं गोचर का लालन-पालन होता रहता है।

जीव में साधारणतः पंचकोष की स्थिति मानी गयी है। पंचकोष + जीव + वाक् मिला देने पर = कोषसप्तक हो जाते हैं। यहाँ जीव का तात्पर्यार्थ है—कोषसप्तक की नाभिनिष्ठ केन्द्रीण सत्ता तथा शक्ति (Nuclear Substance or Power manifesting itself as 'अहम्' अथवा The Self) सूचित होती है। इस नाभि अथवा केन्द्र से सत्तान्वित होने के ही कारण कोष समूह भी स्वयं को एक विशेषरूप से सजा (आर्गेनाईज्ड) लेते हैं। इसी केन्द्र की सत्ता के कारण कोष रूपी विशेष यन्त्र (एपरेटस) स्वयं को एक विशेष नियम तथा छन्दः के अन्तर्गत् क्रियाशील

रखते हैं। अत: जीव को छोड़ देने पर कोष समूह में पारस्परिक सन्धि संयोग नहीं रह जाता। जीव एक प्रकार से 'ययेदं धार्यते जगत्' है (Coordinating and Controlling Principle) है। तदनन्तर 'वाक्' को भी इस यन्त्र (आर्गेनिज्म) के एक मुख्य स्थान में स्थित करना ही होगा। 'वाक्' केवलमात्र उत्पाद्य फल (Evolved resultant of other Factors) नहीं है। वह स्वयं भी उत्पादक (इवाल्विंग एजेन्सी) है। अतएव जीव एवं वाक् का अन्तर्भाव करने, मिलाने से कोष पंचक की उपलब्धि कोषसप्तक के रूप में हो जाती है।

सप्तविध आयतन के अन्तिम तीन क्या हैं ? वे कैसे मिलते हैं ?

सूत्र में 'कायादि' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'काय' शब्द का केवल स्थूल गोचर अर्थ स्वीकार करने से विवेचना नहीं हो सकेगी। इसे विभिन्न 'ग्राम' में समझना ही होगा। इसे उपलब्धि में भी पाना होगा। जैसे श्री चण्डी में प्रसिद्ध नारायणी स्तव है। उसमें भगवती के विभिन्न रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। उन सभी रूपों को बारम्बार नमस्कार किया गया है। 'कायादि' की विवेचना करने में प्रवृत्त होने पर हमें इन रूपों में से सात की विशेष रूप से ध्यानपूर्ण धारणा करना होगा।

प्रथम = छायारूपेण संस्थिता = What is Apparent.
द्वितीय = शक्तिरूपेण संस्थिता = What is manifesting as Power.
तृतीय = जातिरूपेण संस्थिता = What is evolved as Type or Pattern.
चतुर्थ = वृत्तिरूपेण संस्थिता = What manifests as function.
पंचम = स्मृतिरूपेण संस्थिता = What is at the Back as potency or predisposition.
षष्ठ = व्याप्तिरूपेण संस्थिता = What prevades as the continum.
सप्तम = चितिरूपेण संस्थिता = What sustains as Divine Life and Consciousness.

इस प्रकार से हमने चण्डी में अंकित इस नारायणी स्तव में काय अथवा आयतन के सप्त पर्याय को देखा। साधारण बोध के दृष्टिकोण से हम आयतन की उपलब्धि ४ प्रकार से करते हैं, यथा—दैशिक, कालिक, वास्तव तथा छान्दस। जो विज्ञान अधिभौतिक रूप से सब कुछ को देखता जा रहा है, वह विज्ञान भी इस चतुर्विध आयतन की खोज में रहता है। इसमें 'छान्दस्' से यह व्यक्त होता है कि वह आयतन अथवा आकृति, जो छन्द: को विशेष रूप से अधिकार में रखती है। आधुनिक विज्ञान ने विश्व के इस छान्दस आयतन को कतिपय मौलिक समीकरण सूत्रों

(इक्वेशन्स) के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है। "वास्तव" से क्या प्रतीत होता है ? विश्व की जो 'असली' वस्तु है, वहाँ तक आधिभौतिक दृष्टि अवश्य ही नहीं पहुँचती। अतः उसके सम्बन्ध में विज्ञान द्वारा कुछ भी कह सकना संभव ही नहीं है।

विज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में जिसे 'Mass' कहा जाता है, वह अब 'Energy' के रूप में रूपायित होता जा रहा है। अर्थात् विज्ञानोक्त Mass और Energy में शक्ति (Energy) ही मौलिक है। Mass (वस्तु) उसका एक विशेष संस्थान और अवस्थान ही है। इन दोनों के बीच परिमाणगत अनुपात भी स्थिर रहा करता है। अतः जिसे हम 'वास्तव' कहते हैं, यदि उसे 'शाक्त' कहें, तब यह भी विज्ञान सम्मत ही है। विज्ञान की गवेषणा उपर्युक्त चार आयतनों के माध्यम से शनैः-शनैः सूक्ष्म तथा कारण भूमि की ओर अग्रसर होती जा रही है। हमारे सम्मुख जिस किसी पदार्थ का आयतन अथवा रूप प्रकट होता है, वह किस परिमाण में यथार्थ है, वह समग्र से कितना निकट है, पूर्ण के कितने पास में है, इस समस्या के समाधानार्थ विज्ञान भी किंचित गवेषणा करता जा रहा है।

जो यथार्थ है, जो समग्र तथा पूर्ण है, वह अत्यन्त दूर है। हम देखते हैं कि जब तक सत्यख्याति में स्थिति नहीं हो जाती, तब तक कोई भी लेख स्थिर-समग्र तथा अविमिश्ररूपेण प्राप्त नहीं हो सकता। विज्ञान जिन चतुर्धा आयतन के अन्वेषण में व्यापृत है, उन चारों का अतिक्रमण करके, अथच उन चारों को प्राप्त करने के अनन्तर और भी त्रिविध आयतनों को उनमें मिलाना ही होगा। तभी सप्त संख्या पूर्ण होती है। यदि हम आयतन को एक अन्य संज्ञा 'तनु' प्रदान करें उस स्थिति में इन तीनों तनु को क्रमशः मान्त्री, शाक्त और ब्राह्मी तनु कहा जा सकेगा। जब तक प्रकाशमत्व के समुन्नत स्तरों का उन्मेष नहीं हो जाता, तब तक इन त्रिविध महीयसी तनु का सन्धान नहीं मिल सकता। पूर्वोक्त नारायणी स्तव के चेतना तथा श्रद्धा को मान्त्री तनु, शक्ति को शाक्तीतनु और मातृ-व्याप्ति तथा चिति को ब्राह्मी तनु कहा जा सकता है।

काष्ठा तथा सीमा को चतुर्धा देखना अध्यात्म जीवन में जो सब कुछ चाहनेवाले मर्मी हैं, उनके साथ इसका सम्बंध

आयतनत्व की उपलब्धि तथा उनके यथार्थ का अवगाहन (इन रिसपेक्ट आफ वैलिडिटी एण्ड वैल्यू) करने पर हम सप्त सोपान अथवा पर्वों की धारणा करते है। वे हैं—

(१) स्थूल गोचरता

(२) सूक्ष्म गोचरता

(३) परिसंख्येयता (Measurability)

(४) **परिकल्पनीयता** (As Scientific Theory)
(५) **निदिध्यासितव्यता** (Validity and Value as revealed in yogic Experiment)
(६) **परिनिष्ठितता** (As finally ascertained and Established)
(७) **अपरोक्षता** (As perfect and direct Realisation)

इन सभी पर्वों की विवृत्ति तथा विवेचना इसी पुस्तक के अन्य खण्ड में कभी जायेगी। यहाँ यह लक्ष्य करो कि यदि पाद, मात्रा, कला और काष्ठा को आयतन के लक्षण में सम्मिलित किया जाये, उस स्थिति में भी जब तक काष्ठादि को भिन्नतः नहीं देखा जायेगा, तब तक उसकी परिपूर्णता नही हो सकेगी। इसकी चार दृष्टि-भंगी इस प्रकार से है :—

(१) **क्या काष्ठा अथवा सीमा को समग्र रूप से ग्रहण किया गया है ?**
(२) **क्या उसे अखण्डरूपेण ग्रहण किया गया है ?**
(३) **क्या उसे विशुद्धरूपेण आयत्त किया है ?**
(४) **क्या उसे पूर्ण समन्वयीरूपेण ग्रहण किया है ?**

जब तक इन चारो का उत्तर नहीं मिल जाता, तबतक मानो कुछ ही दूर जाते-जाते काष्ठा भी काष्ठवत् पंगु हो जाती है। ऐसी पंगु काष्ठा में हमारी पूर्ण निष्ठा सम्भव ही नहीं होती। जैसे तुम हमें जड़ के क्षेत्र में जिस काष्ठा में ले जा रहे हो, क्या वह काष्ठा प्राण तथा चेतन के क्षेत्र में भी काष्ठारूपेण स्थित रहेगी ? प्रकृति के प्राङ्गण में (इन दि डोमिनियन आफ नेचर) किसी व्यापार को एक सीमा तक पहुँचाकर, उसे वहीं स्थिर 'खड़ा' कर दिया। अब प्रश्न उत्थित होता है कि क्या प्रकृति क्षेत्र के उस पार कोई अप्राकृत अमायिक धाम है, अथवा नही है ?

प्रकृति के इस पार कार्य-कारण आदि के जो नियम कार्यरत रहते हैं, क्या प्रकृति के उस पार भी वे कार्यरत हैं ? क्या कोई ऐसा उर्ध्वलोक नहीं है, ऐसा स्वतंत्र लोक नहीं है जो प्राकृतिक क्षेत्र के नियमों से स्वतन्त्र हैं और प्राकृतिक क्षेत्र पर अध्यक्षता कर रहा है ? क्या वहाँ प्राकृतिक क्षेत्र में कार्यरत तुल्यबल घात-प्रतिघात के स्थान पर एकान्त शरणागति तथा अहैतुक कृपा का सन्धान प्राप्त होता है ? अध्यात्म जीवन में इससे अधिक मर्मी प्रश्न और कोई भी नहीं है।

साधक के आयतन की पर-पर रूपान्तरावस्था उसी फल की उपलब्धि की पर-पर भूमि का उन्मेष

अन्त में यह विवेचित करना है कि साधक अपने जीवन के आयतन के को कैसे क्रमशः रूपान्तरित (Reform or transform) करता है ? हम अपने

इस साधारण कार्यरत यन्त्र (शरीर) को भोगायतन कहते हैं। यह कोई स्थिर सामग्री नहीं है। शुभाशुभ कर्म के द्वारा इसका नियत परिवर्तन होता रहता है। प्राकृत धर्म के अनुसार भी यह नियत परिवर्तनात्मक ही है। यहाँ यह प्रश्न उत्थित होता है कि अपने आयतन में होनेवाले इस सतत् परित्र्तन को हम किस प्रकार से साधना के अनुकूल कर सकते हैं ? हमें जप साधना प्रभृति क्रिया के द्वारा अभीष्ठ (desired Tramsformation) परिवर्तन संघटित करना पड़ता है। जब हम अपने स्व प्रयास तथा निष्ठा के द्वारा कियत् परिमाण में अग्रसर होने की चेष्टा करते हैं, तब पूर्वोक्त उर्ध्वधाम की परमाश्चर्यमयी प्रेरणा तथा सहायता हमें मिलने लगती हैं। यही है साधक के लिये अत्यन्त 'भरोसे की स्थिति)।

ऐसा दृष्टान्त बाह्य प्रकृति में भी प्रत्यक्षगोचर होता है। जैसे जल को ठण्डा करते-करते बर्फ बनाने का प्रयत्न हो रहा है। जब शैत्य एक निश्चित मात्रा में आ जाता है, तब जलीय मालिक्यूलों में सहसा एक परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। फलत: जल में कतिपय नूतन धर्म प्रकाशित हो उठते हैं। केवल यही नहीं, नूतन व्यूहरचना के कारण जो शक्ति कार्यकारी होती है (मालीक्यूलर एनर्जी) वह इतनी प्रचुर मात्रा में स्थिर रहती है कि उसे देखकर अवाक् हो जाना पड़ता है। एक मजबूत इस्पात के खोखले गोले में जल भरो। उसका तापक्रम शून्य डिग्री सेन्टिग्रेट करो। वह जल बर्फ बनकर उस इस्पात के गोले को चिटका देता है। वह गोला बर्फ के दबाव से फट जाता है। प्रकृति के विशाल राज्य में इसी प्रकार से न जाने कितने सुदृढ़ प्रस्तर खण्ड तथा स्तर विशीर्ण होते रहते हैं। इसी प्रकार जब जल प्रबल उत्ताप के कारण वायवीय आकृति लेता है, तब केवल उसके मालीक्यूल ही नवीन रूप विन्यास नहीं करते, प्रत्युत् वहाँ भी हम एक प्रचण्ड शक्ति को आविर्भूत तथा कार्यकारी होते देखते हैं।

यह सर्वविदित है कि इसी शक्ति से वाष्पचालित यन्त्र चला करते हैं। मालिक्यूल के स्थान पर और भी सूक्ष्म पर्याय को देखने से विदित होता है कि वस्तुसमूह का रूपान्तरग जिस अभावनीय रूप से होता है, उसी अनुपात में शक्ति उद्रेक और उसकी अभावनीय स्थिति का भी ज्ञान होने लगता है। इस प्रसंग में एटामिक एनर्जी की सत्ता का स्मरण करो। इन सभी बाह्य दृष्टान्तों से यह विदित होता है कि जपादि साधना के ऋत् और मित्रच्छन्द; के द्वारा जब हमारे इस आयतन का रूपांतरण होता है, तब केवल इसकी आकृति-प्रकृति ही परिवर्तित नहीं होती, अपितु इसके द्वारा एक अतर्कित महाशक्ति का उत्स हमारे सम्मुख उन्मुक्त होने लगता है। उर्ध्वतन लोक की अतर्कित सहायता=(अनफारसीन एड एण्ड ऐसिस्टेन्स फ्राम एबव)।

इस अतर्कित सहायता की कृपा से से हमारे आयतन का परिवर्तन अत्यन्त

द्रुत एवं विपुलरूपेण होने लगता है। मन में विचार उठता है "हमारा भी कोई है। हे स्वामिन्! तुम्हारी कृपा और प्रसाद से ऐसा हो सका है।" इस रूपान्तरण को ही साधक समाज में साधनदेह, दिव्यदेह, सिद्धदेह, अप्राकृत चिन्मय देह की रहस्यमयी संज्ञा प्रदान की गयी है। भक्त वैष्णवों की दृष्टि में यह प्राकृत मायिक भौमदेह भजन के प्रभाव से परिवर्तित होकर प्रथमत: प्राकृत स्थिति की सीमान्त रेखा पर जा उपस्थित होता है, वहाँ पर साधक विरजा स्नान कर लेते हैं। उस समय उनमें अप्राकृत चिन्मय लोक का अधिवासी होने की योग्यता आ जाती है। वैष्णवों के अनुसार विरजा के उस पार के उर्ध्वतन अमायिक धाम को वैकुण्ठ, व्रज अथवा गोलोक कहा जाता है। इन सब का अपना-अपना उपयोगी आयतन रहता है। अर्थात् वैकुण्ठ का जो आयतन है, उसे गोलोक में जाने के लिये स्वयं को तदनुसार रूपान्तरित करना पड़ता है। व्रज के आयतन को समस्त रस के आस्वादन की पराकाष्ठा भूमि कहते हैं। इस दृष्टिकोण से आयतन के छन्द की पञ्चधा धारणा की जा सकती है। जैसे भौमच्छन्द:, विरजाच्छन्द:, वैकुण्ठच्छन्द:, गोलोकच्छन्द: तथा व्रजच्छन्द:। इनके अवांतर भेद भी हैं।

इस आयतनतत्व के प्रसंग में मातङ्ग रहस्य भी प्राणिधान योग्य है। मातङ्ग है आयतन क्रम परिवर्तन का रूप।

> कृष्णं मूढं मतङ्गं मनति बहुबलं पातित भिन्नतुण्डं
> सिंहेनान्यञ्च घोरं मदचलितमिभं चाङ्कुशाच्छोणशुन्डम्।
> पीयूषस्नापनार्थं सितकरियुगलं हेमकुम्भञ्चविभ्रन्
> मन्दाकिन्यां मदारं गजवदनगजं दिग्गजं वा गजेन्द्रम्॥
> जात्यं मन्त्राक्षराणां सपदि परिहरे दाद्यमातङ्गमुण्डं
> हिङ्कारात् व्याजविघ्नावपिच विजयातां छन्दसां वाग्भवेन॥
> सोमस्नाने दधीत प्रणवकरियुगोत्तलितं रुक्मरेत
> उग्रं व्यग्रं च दुर्गं हरति परतरं श्रीगणेशेभतुंडम्॥

वेदागमादि अम्नाय एक कृष्णवर्ण महाबलि मूढ़ मातङ्ग का वर्णन करते हैं। इस मातङ्ग को मातङ्गी जगद्धात्री प्रभृतिदेवी के ध्यान में छिन्नमुण्ड होकर पड़ा देखता हूँ (पातितं छिन्नमुण्डं)। यह सिंह वीर्य के द्वारा निपातित और विमथित होता है। इसे केवल मूढ़ रूप में ही नहीं (Not only as static massive Brute Force), परन्तु घोर (राजस) रूप में भी देखता हूँ। उस रूप में वह मदमत्त होकर इत:स्तत: प्रधावित होता है (मदचलित मिभं)। इस घोररूपी मातङ्ग का शासन होता है अंकुश के द्वारा। इसी के प्रभाव से वह शुभ्र शोणित वर्ण धारण कर लेता है। (अंकुशोच्छ्रोणशुण्डम)। इसके शासन का उपाय है अंकुश। इसे हम देवी के हाथ में आयुध के रूप में देख सकते है। इसकी जो वास्तविकता है, उसे

विचार कर समझो ! हम अन्यत्र यह देखते हैं कि देवी एक प्रस्फुटित शतदल में महामहिमामयी होकर समासीना हैं और उनके दोनों ओर दो श्वेतवर्ण हस्ति (हाथी) सुधासिन्धु से हेमकुम्भ भरकर देवी को पीयूष से नहला रहे हैं ! ये दोनों श्वेत करियुगल (हस्तिद्वय) कौन हैं, पीयूष स्नान का क्या रहस्य है ?

पुनश्च, जो ऐरावत इन्द्राणी शक्ति का वाहन है; उसने एक बार मदमत्तावस्था में मन्दाकिनी की पावन धारा को रोकने की स्पर्धा किया था; किन्तु उसकी यह स्पर्धा न जाने कहाँ डूब गई । (मन्दाकिन्यां मदारं) ।

तदनन्तर मातङ्ग को हम अन्य भयत्रय में लक्षित करते हैं; प्रथम है उसका दिग्गजभय, द्वितीय है उसका गजेन्द्रोपाख्यान में वर्णित आर्त्तविह्वल रूप । तृतीय है स्वयं गजवदन गणेश जिनका शुन्ड गज के शुण्ड के समान है । इन तीन रूप का क्या तात्पर्यार्थ है ?

पूर्व श्लोक में जिस कृष्णवर्ण का वर्णन किया गया है, वह गाढ़ पुंजीभूत तामस शक्ति का प्रतीक है । अतः वह मन्त्राक्षर में रहते हुये मन्त्रशक्ति के पूर्ण उद्धार तथा मन्त्रचैतन्य में बाधक है । इसी कारण मन्त्राक्षर में एक प्रकार का जाड्य अथवा जड़ता परिलक्षित होती है । सिंह है प्राणशक्ति का समर्थतम रूप । वर्ण समूहस्थ 'ह' कार को ही वास्तव में सिंहवीर्य के द्वारा अनुगृहीत समझो । अतएव हिंकार हुंकार प्रभृति हकार प्रधान मन्त्र शक्ति के द्वारा इस आदिम कृष्ण मातङ्ग को निपतित तथा विमथित करना ही होगा ।

तदनन्तर मातङ्ग का जो घोररूप है वह है; उग्र राजसरूप । इसके कारण साधना में विघ्न आदि होते रहते हैं । इसके निरसन के लिये अंकुश का प्रयोग किया जाता है । यह अंकुश क्या है ? यह है वाग्भव 'ऐं' बीज मन्त्र (देवी के ध्यान में जिन आयुधों को उनके हाथ में हम देखते हैं, उनको मंत्राक्षर के दृष्टिकोण से हमें देखना होगा । जैसे धनुः प्रणव आदि) । महासरस्वती का बीज हैं 'ऐं' । अतः रजोगुण के तिरोभाव के अनन्तर सत्वगुण का उद्रेक कराना ही इस बीज की विशेष शक्ति है । सत्वगुण का उद्रेक होने और उसमें विशालत्व का संचार हो जानें से वह निरुपद्रव शुद्ध नहीं हो सकता । वह जब तक प्राकृतिक नियम के क्षेत्र में रहता है, तब तक उसकी यही अवस्था रहती है है । अर्थात् वह 'मर' रहता है 'अमर' नहीं हो सकता !

अतः 'ऐं' प्रभृति समस्त बीजमंत्र का अमृत स्नान होना आवश्यक है । दशमहाविद्या में अंतिम महाविद्या श्री श्री कमला के ध्यान में इसी अमृतस्नान को दिखलाया गया है । वहाँ के दोनों हाथी ही दो प्रणव हैं । दोनों ओर से दो प्रणव साधक के बीजमन्त्र के ऊपर श्रुतिप्रसिद्ध हिरण्यरेतः का वर्षण करते रहते हैं । इसका फल यह होता है कि बीजमन्त्र में से अमृतशक्ति (नाद) जागरित, उद्‌बुद्ध हो

उठती है (दुहानां अमृतस्य धाराम्) । अमृतत्व प्राप्त करके तथा अमृत स्थान से उद्‌बुद्ध बीजमन्त्र समस्त प्राकृत बाधा और अन्तराय का, मृत्यु और तमस का लंघन करते हुये उनके पार स्वयं चला जाता है और साधक को भी पार ले जाता है। अब सत्व-गुण की स्थिति स्वच्छ एवं स्व छन्द में होती है ।

इन श्लोकद्वय में मातंग के प्रसंग में कृष्ण, रक्त तथा शुभ्र वर्ण का प्रसंग अंकित है । इसे भी लक्ष्य करो ! इन तीन वर्णों का रहस्य गम्भीर रूप से चिन्तना का विषय है । वर्ण की शुभ्रता परिलक्षित होने मात्र से निरापद स्थिति की प्राप्ति नहीं होती । यही सत्य स्पष्ट करने के लिये उग्र, व्यग्र तथा दुर्ग रूप अन्य स्थितित्रय का भी अंकन किया गया है । इनमें से श्वेत ऐरावत उग्र है । दिग्गज समूह व्यग्र हैं और गजेन्द्र उपाख्यान वाला गज दुर्ग रूप है । शुद्ध सत्व में स्व छन्द स्थिति होने पर इन तीन प्रकार का उपद्रव नहीं रह जाता । यद्यपि साधन मार्ग में जो उपद्रव आते हैं उन्हें साधारणतः विघ्न कहा जाता है, परन्तु विघ्नविनाशन श्री गणेश स्वयं शुभ्र गजमुण्ड से सुशोभित होकर इन त्रिविध मातंगरूपी तथा अन्य सभी प्रकार के विघ्नों का नाश करने का भार ले लेते हैं । इन सब से परे जो गुणातीत भूमि है, (जिसे गीता ने निस्त्रैगुण्य कहा है) वहाँ भी ले जाने वाले भाव को श्री गणेश के द्वारा व्यक्त किया गया है । गणेश हैं ब्रह्म के साक्षात् वाचक प्रणव की परिपूर्णतम मूर्त्ति (नाद-बिन्दु-कलात्मकरूप और नाद-विन्दु-कला से अतीत) ।

इस प्रसंग में यह भी लक्ष्य करना होगा कि हमारी साधना के क्षेत्र में अशुभ रूप कृष्ण-रक्त आदि जो-जो वर्ण परिलक्षित होते हैं, उन्हें निवारित तथा विवर्त्तित करने के लिये उर्ध्वतन ध्यान के लोक से कैसे-कैसे वर्ण प्रभाव का अवतरण होता है । जैसे प्राकृत रज का वर्ण है रक्त, किन्तु भागवती शक्ति उस रक्त को भी आत्मसात् करने के लिये रक्तवस्त्र परिधाना हो रही हैं । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्राकृत रजः का जो रक्तवर्ण है और जो रक्तवर्ण ध्यान में आविर्भूता देवी के आसन वसन आदि में परिलक्षित होता है, दोनों एक जातीय नहीं है । हम साधना में जिस वर्ण का अनुभव करते हैं, उस वर्ण समूह की तुलना हमारे जगत् के काले-लाल-शुभ्र रंगों से हो ही नहीं सकती । ध्यानगोचर वर्णसमूह अतुलनीय होते हैं । इसी प्रकार जागतिक ध्वनि तथा ध्यानावस्था की ध्वनि में भी भेद होता है । इसे स्मरण रखना चाहिये ।

हानोपदान-विरह-प्रतियोगिकत्वाभाववत्वंतत्त्वम्

न किञ्चिद्धीयते यत्र न चोपादीयतेऽपिवा ।
अनावृति-परामृष्टि सांमग्र्यं तत्वमुच्यते ।।
प्रत्ययरूपवृत्तित्वे सत्यंमिथ्येत्य विकल्पितम् ।
अंशांशित्वाद्यख्यातञ्च साक्षाच्चाप्य परोक्षकम् ।।
भातीति भानरूपेण सामग्री हि विराजते ।

भानस्य भासतापत्तिर्भाणतापत्तिरेव च ।
प्रथमा भेदजन्या च द्वितीया स्याद् विकल्पजा ॥
देशकालौ च छन्दश्च वस्त्विति भेदकैः पुनः ।
शिथिलश्चपलो भाणो कुटिलो जटिलस्तथा ।
दैशिकः कालिकश्चेमे छान्दसो वास्तवः क्रमात् ॥
किंवा भाति न भाति विश्वमखिलं भात्येव भासा भृशं
किंवाऽभात्यवभासते खलु पुनर्भात्येव निर्व्यूढभाः ।
किंवा प्रत्यवभासते धियि न वा भात्येव साक्षी धियां
किंवा पूर्वमिदं परं विलसितं भात्येव भानुः सनात् ॥
प्रतिभासः परामर्शादवभासोऽवमर्शनात् ।
आभासश्चाप्यपामर्शादनुभासोऽनुमर्शनात् ।
भासः प्रपञ्चितश्चैवं विमर्शात् प्रत्यवादिकः ॥
यो विशिनष्टि लिङ्गेन परामर्शः स उच्यते ।
विश्लेषयति च संश्लिष्टं विश्लिष्टं संयुनक्ति यः ।
बौद्धव्यापारमूलत्वाद् विमर्शः स प्रकीर्तितः ॥
निराकुर्वन्नधिष्ठान मप कुर्वंश्च कल्पितम् ।
अनिरुक्तं नियुङ्क्ते यः सोऽपामर्शो निगद्यते ॥
प्रतिमर्शानुमर्शौ द्वौ संङ्कल्पस्मरणात्मकौ ।
निश्चिनोत्यवपूर्वो यो विद्धयेवं मर्शपञ्चकम् ॥
अविमर्शाद्धि नैष्कल्यं साकल्यञ्च विमर्शनात् ।
तयोर्द्वन्द्वे मृशत् सर्वमद्वन्द्वे मर्शनं कुतः ॥
सदिति परनैर्द्वन्द्यं सामग्र्यं परमञ्च तत् ।
मूल विमर्श भावश्च विद्धीति प्रणवः परः ॥
नादविन्दुकलात्मा स नादविन्दुकलातीतः ।
तयोः सेतुरर्द्धमात्रा याऽप्यं सकल निष्कला ॥
ॐ तत्सदिति जानीयाद् तनुर्मान्त्री हि ब्रह्मणः ।
शाक्ती तनुर्महामायोपरिष्ठात् सूत्र्यते च या ॥

इसके पश्चात् तत्वसूत्र के अन्तर्गत इन कारिकाओं का भाष्य किया गया है। इसमें प्रतिपाद्य विषय की पहले भी आलोचना की जा चुकी है और आगे भी की जायेगी।

हान (सबट्रैक्शन), उपादान (एडीशन) के पारस्परिक विरह अभाव का अप्रतियोगी होना (अर्थात् हान-उपादान से रहित होना ही) तत्व है।

तत्व स्वरुपतः अव्यवहार्य है किन्तु वह प्रत्ययरुपेण व्यवहार योग्य हो जाता है

प्रथम कारिका के सूत्र में लक्षित तत्वपदार्थ का विश्लेषण करते समय यह कहा गया है कि जिस सामग्री अथवा समग्रत्व में (एज एब्सोल्यूट होलनेस) कुछ भी कम अथवा न्यून कर सकने का अवसर ही नहीं है, जो आवृति (veiling) तथा परामृष्टि (stressing) से मुक्त है, वही तत्व है (Thing in itself absolute Thatness)। पहले जिस सामग्र्य का विश्लेषण किया गया है (wholeness unveiled and unconditioned), वह स्वयं ही साक्षात् तथा अपरोक्ष है (Direct self revealed)। व्यवहारिक प्रत्यय में वही वृत्तिमत हो जाता है। अर्थात् जो स्वयं अव्यवहार्य है, वह प्रत्ययरूपेण हमारे व्यवहार में आता है। प्रत्यय-रूप = as usable experienced। इस प्रकार से हमारे व्यवहार में आने के कारण (जो स्वयं सत्य मिथ्यादि द्वन्द्व से अतीत है) उसमें भी 'यह सत्य है', यह मिथ्या है' इस प्रकार की विकल्पना आ जाती है। जो स्वयं अखण्ड सामग्री है, उसमें 'यह अंश और यह अंशी' इस प्रकार की नानाविध सम्बन्ध कल्पना की अभिव्यक्ति होने लगती है। अतः जिसे हम प्रत्यक्षरूपेण उपलब्ध करते हैं, जानते हैं—वह है वस्तुतः साक्षात् अपरोक्ष तत्व में हमारे व्यवहारानुरूप निरुपण का एक रूप।

भान-भास तथा भाण का लक्षण सम्बन्ध

जो तत्वरूप सामग्री 'भाति अथवा प्रकाश' रूप से देखी जाती है, वह है भान ! पहले 'अद्वैताद्वैतदशकम' प्रभृति प्रसंग में कई स्थानों पर यह भान वस्तु हमारे परिचय में आ चुकी है। इस भान वस्तु में तत्व का समग्रत्व तथा अखण्डत्व प्रभृति लक्षण सन्निहित रहता है। यह हमने दृष्टान्त के द्वारा समझने का प्रयत्न किया है कि यही भान वस्तु स्वय को कभी भास रूप से और कभी भाण रूप से प्रदर्शित करती रहती है। भास तब परिलक्षित होता है जब द्वैताद्वैत वर्जित (एलाजिकल) भान सामग्री में किसी प्रकार का 'अहम्-इदम्' रूपी भेद अथवा द्वैत प्रकट हो जाता है। अर्थात् भास ही भान का वह रूप हैं जहाँ 'अहम्-इदम्' का द्वैतसम्बन्ध परिस्फुट हो जाता है और इस प्रकार से समग्र बोध में विभाग की स्थिति होने लगती है।

'भाण' विकल्प से जात है। जहाँ विकल्प है, वहाँ वस्तु का सुस्थिर किंवा निश्चित भाव नहीं रहता। अतएव उस सम्बन्ध में संशय एवं अनिश्चय (डाउट एण्ड अनसरटेनिटी) विद्यमान रहते हैं। जो भेद 'भासतापत्ति' के मूल में है, रिफरिन्शियेशन है, उसे हमने अहम्, इदम् रूप से देखा, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि देश-काल-वस्तु तथा छन्दः ही सब कुछ के भेदक (कैटेगोरीज आफ डिफरेन्शियेशन) हैं। जो विकल्पजन्य भाणरूपता (Doubt, uncertanity, Misapprehension,

Misrepresentation) घटित होती है, उसे भी चतुर्धा देखना होगा, यथा-शिथिल, चपल, कुटिल तथा जटिल। यदि इन चारों में से जो विकल्प (उक्त अनसर्टेनिटी प्रभृति) देश सम्बन्ध से (As regards spatil Relation) होता है, उसे "शिथिल" (इनकम्पैक्ट, Incoherent) कहते हैं। यदि विकल्प कालसम्बन्ध जनित है, तब वह है चपल (unabaiding, Arbitrarily variable)। यदि वह छन्द: सम्पर्क से आता है, तब उसे कुटिल (unrhythmic, unharmonic) कहते हैं। यदि वह विकल्प वस्तु सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ है, तब वह है जटिल (complicated, confused)।

भान, भास एवं भाण रूपी प्रसंगत्रय यहाँ पर संक्षेप में कहे गये हैं। केवल मन:स्तत्व के विश्लेषणानुसार ही नहीं, प्रत्युत् अध्यात्मसाधना का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के लिये भी इन तीनों को जान लेना आवश्यक है। भान ही है अखण्ड समग्र बोध। यह साक्षात् अपरोक्ष है और इसके बारे में बुद्धि अथवा वाक्य (categories or predieables) का पूर्णत: प्रयोग किया ही नहीं जा सकता। It is undivided alogical whole of experience. तथापि सूत्र में तत्व का जो लक्षण प्रदत्त है, उसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि इस भान का उससे वैलक्षण्य भी है। तत्व अर्थात् हानोपादान रहित। किन्तु हमारी अनुभूति में जो कुछ भानरूपेण आविर्भूत होता है, वह इस लक्षण के अनुसार नहीं है। अर्थात् हम भान को एक Moving Continum रूप से ही प्राप्त करते हैं। इसमें अनेक कुछ समाता जा रहा है और अनेक कुछ ऐसा भी इसमें संयुक्त होता जा रहा है, जो इसमें अप्रकट है। अर्थात् यह कहते नही बनता कि वह (सम्वन्ध रुप से) हान और उपादान नही है।

इस स्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि जो किसी व्यक्ति का) भान है, उसकी पराकाष्ठा कहीं न कहीं अवश्य है। वह पराकाष्ठा है ज्ञानरूप ब्रह्म, जहाँ पर बोध स्वत:सिद्ध और नित्यपूर्ण (etarnally realised and perfect) है। भास को भान का वह रूप कहा जाता है जिसमें बुद्धि केसाथ-साथ वाक्य का व्यवहार (विमर्श आदि) भी युक्त रहता है। (Logically appreciated Experience) अब 'भाण' का विश्लेषण करते हैं। इसका तात्पर्य Conscious or unconscious Sophistication of Fact ही नहीं है। इसे Cosmically और Basically समझना ही होगा। जहाँ मूल में द्विधा अथवा संशय रहने के कारण बोध स्वयं को ऋजु, यथार्थ निश्चित रूप से स्फुरित करने में अक्षम रह जाता है, वहीं भाण का क्षेत्र है, देशकाल प्रभृति दृष्टिकोण के कारण हम भाण को चार प्रकार से उपलब्ध करते हैं, यथा—शिथिल, चपल इत्यादि। केवलमात्र व्यावहारिक बोध ही नहीं आध्यात्मसाधन की अनुभूति में भाण का स्वरूप उसके चार विभागों के अनुसार खोजना होगा। इसे खोजकर बोध का शोधन और संस्कार भी करना ही होगा। यहां इस 'भाण' के

प्रसंग के साथ नारायणी स्तव के "लज्जारूपेण संस्थिता" और लज्जा की तुलना की जा सकती है। हम यहाँ लज्जा का साधारण अर्थ करते हैं, जो कि उचित नहीं है।

श्री श्री चण्डी में देवी के "जाति" रूप की प्रार्थना करने के अनन्तर तब 'लज्जा' रूप को नमस्कार किया गया है। तदनन्तर 'श्रद्धा' रूप की वन्दना अंकित है। इस पर्याय की एक निगूढ़ अर्थव्यञ्जना है। प्राचीन प्लेटों प्रभृति दार्शनिकों के अनुसार हमारी लौकिक अनुभूति में प्रत्येक वस्तु अथवा विषय का एक शुद्धभाव (Pure Archetypal form) विद्यमान रहता है। इसे हम 'जाति' कहते हैं। यहाँ किसी एक 'जाति' के ही सम्पर्क से जैसे स्वजातीय कुछ है, उसी प्रकार विजातीय भी है। जब यह वैजात्य के द्वारा विद्ध तथा अभिभूत हो जाती है, तब जो शुद्ध (Pure Type) जाति है, वही जाति बन जाती है। इसे ही गीता में "संकरो नरकायैव" कहा जाता है।

जब स्वयं को वैजात्य (what is in Compatible, incongruent) के स्पर्श तथा वेध से बचाने के लिये प्रत्येक जाति में स्वाभाविक क्षेत्र प्रवणता का (Tendency to Self Presrvation) उदय होता है, तब उसे लज्जा कहते हैं। इसी प्रकार से लज्जा का विचार करते हुए इसे नारी का भूषण कहा गया है। भगवती की जिन विभिन्न शक्तियों की अभिव्यक्ति का वर्णन श्री श्री चण्डी के नारायणी स्तव में अङ्कित है, उनमें से 'ह्रीं' अथवा लज्जा शक्ति अन्यतमा है। इस ह्री के के साथ चन्द्रविन्दु का योग करने पर हम जिस मूलबीज की उपलब्धि करते हैं, वह है 'ह्रीं'। यही लज्जाबीज है।

मूल तथा नित्य प्रकाशमानता कहाँ है ?

यह अखिल विश्व बोध में उदित हो अथवा न हो, जो तत् तथा सत् वस्तु है वह अपनी ज्योति से (भासा) सम्यक् रूप से प्रकाशमान तो है ही (भात्येव)। जो विश्वबोध का अखण्ड भूमा आधार है, उसमें कोई छाया चित्र प्रतिच्छवित हो अथवा न हो, वह आधार स्वयं अपनी निःसंशय महिमा से महिमान्वित और ज्योतिष्मान् होकर (भात्येव निव्यूढ़भाः) विद्यमान है। हमारी बुद्धि में और समष्टि मानस (हिरण्यगर्भ) में विमर्श आदि के कारण जो सब प्रत्यय उदित होते हैं, अथवा उदित हो सकते हैं, वे सभी शुद्ध निरंजन साक्षीरूप में भी विराजमान हैं। (भात्येव साक्षी धियां)। कालसम्बन्ध के कारण यह बोध विश्व (विश्व बोध) पहले प्रकाशित हो अथवा पश्चात् काल में प्रकाशित हो, वह शुद्धचैतन्य स्वरूप भानु पूर्वापर सम्बन्ध से रहित होने पर भी इन सभी सम्बन्धों का प्रकाशक होकर विद्यमान है (भात्येव भानः सनात्)।

पञ्च प्रकाश का मर्म तथा भास उनका पारस्परिक सम्बन्ध

इसके अनंतर परामर्श प्रभृति मर्श पंचकादि के साथ-साथ प्रतिभासादि भास पंचक के सम्बन्ध में कारिका में कहा गया है। परामर्श (लिमिटिंग एण्ड कण्डीशनिंग आफ ह्वाट इज अदरवाईज अनलिमिटेड एण्ड अनकण्डीशन्ड) रूप धी वृत्ति से (पूर्व में आलोचित) भास जिस आकृति को ग्रहण करता है, उसे प्रतिभास (इक्सपीरियेन्स्ड एज रिलेटेड टू ए गिवेन फ्रेम आफ रिफरेन्स) कहते हैं। (समस्त संशय, विकल्प का निरसन करते हुये) बुद्धि की स्वाभाविकी निश्चयात्मिका वृत्ति जब उदित होती है, तब बुद्धि के उस रूप को हम अवमर्श कहते हैं। (अव = अवधारण)। इस अवमर्श के कारण भास (Experience) जिस आकार को ग्रहण करता है, उसे कहते हैं अवभास। लक्ष्य करो कि यहाँ 'अव' उपसर्ग अवधारण के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। उसका अन्य अर्थ यहाँ पर नहीं है। तत्पश्चात् अपामर्श का अर्थ विचारो। अपामर्श — बुद्धि का वह व्यवहार जिसके द्वारा आवृत्ति तथा आक्षेप (सप्रेसिंग एण्ड एसक्राईबिंग) घटित होता है और परिणामतः हमारे बोध में जिस आकार का उदय होता है उसे अवभास (What appears) कहा जाता है।

बुद्धि का एक और व्यापार होता रहता है, वह है जात अथवा अनुभूत वस्तु के सम्बन्ध में अनुध्यान (Recollection)। इसके कारण हमारे बोध में जिस आकार का उदय होता है, उसे अनुभास कहते हैं। पहले बुद्धि के जिन चतुर्धा व्यापार (फंक्शन) की चर्चा की गयी है; उन सबके मूल में विमर्श (Discussing Analytically or otherwise) की सत्ता रहती है। इस विमर्श की चर्चा की जा चुकी है। इस विमर्श के मौलिक फंक्शन के कारण ही स्वरूप भान हमारे समक्ष तथा व्यवहार में (इन एप्रिसियेशन एण्ड usage) भास रूप से परिलक्षित होने लगता है। अतः विमर्श के अभाव में भास (Experience not indeed as actually given but as understood aud appreciated by us) की संभावना ही नहीं रहती। अतः जैसे इस विमर्श के कारण ही एक ओर बुद्धि की परामर्श आदि पंचविधा का अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर विमर्श सम्बन्ध से हमारे बोध में भास-प्रतिभासादि पंच आकार का प्रतिफलन होने लगता है।

मर्श पंचक का लक्षण प्रणव। परब्रह्म का मांत्री तथा शाक्ती तनु

जो लिंग किसी हेतु अथवा सूचक (इन्डेक्स) के द्वारा किसी वस्तु अथवा विषय को विशेषित (क्वालिफाई) करता है, उसका नाम है परामर्श। परामर्श के अभाव में ज्ञान अथवा बोध के सम्पर्क से कोई भी अनुमान नही किया जा सकता। अर्थात् इन प्रश्नों का कोई समाधान ही नहीं मिलता कि यह सम्बन्ध कैसे, क्यों और कहां से हो रहा है। परामर्श-अनुमर्श आदि बौद्ध व्यापार (प्रोसेस आफ रीजनिंग) के मूल

में बीजक्रिया रूप से विमर्श व्यापार अवस्थित रहता है। जो संश्लिष्ट है, उसका विश्लेषण होता है। (संश्लिष्ट = अनडिफरेनशियेटेड । विश्लेषण = एनेलिसिस, रिफरेन्शियेशन)। जो पुनः विश्लिष्ट (डिसक्रीट, Manifold)है, वह नाना प्रकार से संश्लिष्ट (इन्टिग्रेटेड, यूनिफाईड) किया जाता है। यह सब जिस मौलिक क्रिया द्वारा सम्पन्न होता है, उसे विमर्श कहते हैं।

जो अधिष्ठान (Ground Consciousness-Being) है, वह स्वरूपावरण के लिये (निराकुर्व्वन्) कल्पित रूप-गुण-सम्बन्धादि का आरोप (अपाकुर्वम्) करता है। और जो इस प्रकार से अनिरुक्त, अलक्षण, अव्यवहार्य तत्व को भी स्वकल्पित व्यवहार में ले आता है (नियुंङ्क्ते), उसे अपामर्श कहते हैं। प्रतिमर्श, अनुमर्श और अवमर्श का लक्षण कहा जा चुका है। प्रतिमर्श के मूल में संकल्प है। द्वितीय के मूल में है संस्कार तथा स्मरण। तृतीय का मूल है "यह अन्य कुछ भी नहीं है" इस प्रकार की अवधारणा। अथवा निश्चय। अतएव इन सब को एकत्र करने पर पांच प्रकार के 'मर्श' कहे जाते हैं। जहां किसी प्रकार के विमर्श का लेश भी नहीं है (अविमर्शात्) वहां कलारहित भाव (नैष्कल्य) है। विमर्श का प्रत्यक्ष होते ही समस्त भाव (साकल्य) प्रत्यक्ष होने लगते हैं। आगमोक्त निष्कल तथा सकल शिवतत्व को इन्ही विमर्शसूत्र के माध्यम से उपलब्ध करना होगा। जबतक विमर्श का लेशमात्र भी नहीं होता, तबतक परमवस्तु को शिव-शक्तिरूप भावद्वय से (पृथक्तः) उपलब्ध नहीं किया जा सकता। यही है शिवशक्ति का द्वैताद्वैत विवर्जित सामरस्य। (अतः विमर्शरहित स्थिति में शिवशक्ति अद्वयरूप से विद्यमान रहते हैं)

यह विमर्श का ही चमत्कार है, जिसके कारण परम तुरीय (अद्वय तथा द्वय रहित स्थिति) में भी प्रथमतः निष्कल तथा सकलरूपी द्वन्द्व (Polarity कलाशक्ति) परिलक्षित होने लगते हैं। इस द्वन्द्व अथवा Polarity को आधार बनाकर ही समस्त भास-प्रतिभास इत्यादि रूप से सब कुछ सक्रिय हो रहा है। (मृशत् सर्वम्)। किन्तु जो द्वन्द्वातीत परमभूमि है, वहां इस मर्शन को कहां स्थान मिल सकेगा (अद्वन्द्वे मर्शनं कुतः) ? अतएव जो 'ॐ तत्सत्' रूपी परम मंत्र है, वही प्रसंग क्रम से प्रकाशित हो रहा है। द्वन्द्वातीत परम भूमि (परनैर्द्वन्दम्) ही सत् है। उस भूमि की सामग्र्य (अखण्डत्व एवं भूमात्व) स्थिति ही तत् है और इस अखण्ड द्वन्दातीत भूमा के अधिष्ठान में ही निखिल विश्व की उदय-स्थिति तथा लय घटित हो रहा है।

देश कालादि समस्त निर्वचन के मूल में यही आदिम विमर्श रूपी प्रणव विद्यमान है। अतः इस ॐ कार को आगे रखकर ही 'तत्सत्' रूपी परमसत्व तथा तत्व मे जाना होगा ! प्रणव को विशेषतः 'नादविन्दुकलात्मक' कहते हैं (क्योंकि

इसी क्रम से विमर्श का उन्मेष होता है), किन्तु प्रणवता 'नादविन्दुकलात्मक' होने पर भी इनसे अतीत है। प्रणव में सेतुस्वरूपा है अर्धमात्रा। इसे सकला और निष्कला, दोनों ही नहीं कहा जा सकता। (याऽप्य सकल निष्कला)। इसके एक ओर तो जो कुछ भी सकल अथवा कलाविशिष्ट है, वह विराजित है। इसके दूसरी ओर निष्कल स्थित है। इन दोनों के मध्य सेतुरूपा अर्धमात्रा विराजिता है, जो कि अनिर्वाच्या भी है। (अनुच्चार्या विशेषतः)। अब उपसंहार में यह कहा जा रहा है कि जो 'ॐ तत्सत है', उसे ब्रह्म का मान्त्री तनु समझना चाहिये और जो परब्रह्म का शाक्ती तनु है, वह है महामाया। आगे वाले सूत्र में यही महामाया वर्णित हैं।

आगे वाले सूत्र में मर्शपंचक तथा भास पंचक का वर्णन किया गया है। इसे केवलमात्र बौद्धव्यापार विश्लेषण (Analysis of Logical Process) मानना उचित नहीं है। जपध्यानादि अनुष्ठान के साथ इनका सम्पर्कसूत्र अत्यन्त घनिष्ठ है। मानों जप अथवा ध्यान के समय किसी प्रकार के ज्योतिदर्शन के स्थान पर अश्रुतपूर्व शब्द का आविर्भाव होता है! शंका होती है कि क्या यह मात्र आभास, Mere Appearance है? इस प्रश्न का समाधान खोजने का प्रयत्न करने पर पूर्वोक्त भासपंचक और उसके मूलीभूत मर्शपंचक का विशद परिचय प्राप्त करना ही होगा। आभास किसे कहते हैं? हमारी इस कार्यकारी चेतना में और हमारे आधार में जितने चित्र प्रतिच्छवित हो रहे हैं, उनमें से अधिकांश तो आभास ही हैं।

इन आभास समूह की पृष्ठभूमि में जो 'तत् सत्' रूप परमसत्य विद्यमान है, उसी की दिशा में हमें क्रमशः अग्रसर होना चाहिये। अर्थात् जप अथवा ध्यान के द्वारा इस सामान्य आभास को एक समर्थ प्रक्रिया के माध्यम से रूपान्तरित करना ही होगा। इसे शोधित करते हुये इसमें पूर्णभान (परफेक्ट एक्सपीरियेन्स) को विवर्त्तित (ट्रान्सफारम्ड, सब्लिमेंटेड) करना ही होगा। इस अत्यावश्यक विवर्त्तन के पर-पर सोपान तथा उपाय का प्रदर्शन कराने के लिये पूर्वोक्त भास तथा मर्शपंचक का विस्तृत विश्लेषण कारिकाओं द्वारा किया गया है। हम जिन सब जप-ध्यान प्रभृति का अनुष्ठान करते हैं, उसका अधिक भाग तो इस आभास विश्व (एपरेन्ट युनिवर्स) में ही रह जाता है। यदि कभी किसी प्रकार से आलोक-पुलक आदि की किंचित अनुभूति प्राप्त हो जाती है, उसे भी हम एक प्रक्षेप (Interpolation) ही मान लेते हैं। यहां यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि श्रद्धापूर्वक साधना करते रहने से यह विदित होने लगता है कि आभास विश्वरूपी यह विराट बुद्बुद् अब फूटने का उपक्रम कर रहा है। तब मानों हमारी साधनक्रिया में से एक अभिनव शक्ति की बाहु का प्रसारण होने लगता है। यही है प्रत्यक् प्रवणता।

इस प्रत्यक् प्रवणता के कारण जो वास्तविक भास (इक्सपिरियेन्स एज रीयल) है, उसके प्रति एक प्रकार की प्रियोन्मुखता का उन्मेष प्रतीत होने लगता

है। यह सूचना है प्रतिभास। इस प्रतिभास के उन्मेष के उपरान्त यह लक्ष्य करना होगा कि वह किस प्रकार से और किस पथ से अग्रसर हो रहा है? उसकी गति तीन ओर हो सकती है। यथा—

(१) समस्त संशय के परे परम निश्चय की ओर (Realm of Absolute Certainity)।

(२) अवचेतना की संस्कार भूमि में जो शुभ मिश्र संस्कार सुयोग की प्रतीक्षा में अब तक पड़े थे, उनके साथ सन्धि स्थापना की ओर।

(३) यह तृतीय गति है 'प्रत्यवभास'। यह वांञ्छनीय गति नहीं है। साधक को इससे सतर्क रहना चाहिये। इसमें यथार्थ भास के सन्निकट नहीं हो रहा हूँ, परन्तु जो भास का अपलाप, विभ्रम अथवा अवान्तर कल्पना है, उसमें अनजाने रूप से बढ़ता जा रहा हूँ। डूब रहा हूँ। अनेक साधकों के जीवन में इसी अप-परिणाम को घटित होते देखा जाता है।

प्रथम में गति का मुख (प्रवाह) उर्ध्व की ओर रहता है। द्वितीय में गति का प्रवाह गंभीरता की ओर जा रहा है। प्रथम की क्रमपरिणति का फल है प्रत्यव-भास, अवभास, विज्ञान तथा प्रज्ञान। द्वितीय की क्रमपरिणति का परिणाम है शरण, अनुसरण (अनुभास) तथा ध्रुवास्मृति। गीता में इसी को लक्ष्य करके कहा है "व्यहरन् मा अनुस्मरन्"। वस्तुतः जब तक साधारण जप अभ्यास की परिधि से मुक्त होकर प्रतिभास के क्षेत्र में उन्नीत नहीं हो जाता, तब तक उसे 'व्यहरन्' नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जब तक ध्यान भी प्रतिभास के क्षेत्र में स्थित नहीं हो जाता, तब तक उसे अनुध्यान अथवा अनुस्मरण नहीं कह सकते।

पहले एक सूत्र में सप्त व्याहृति की अंतिम व्याहृति सत्य का लक्षण वर्णित है। इसके पश्चात् "ॐ तत्सत्" "सत्यम् ज्ञानमनन्तम्' अथवा सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्व-रूपलक्षणरूप जो 'सत्' है, वह सत्यव्याहृति वाले 'सत्यलोक-सत्यम्' से अलग है, प्रद-शित करते हुये यह सूत्र कहा गया।

बाधमात्रविरहप्रतियोगिकत्वाभाववत्वं सत्वमिति

बाधमात्र रहित, अर्थात् जिसमें किसी भी बाध की संभावना नहीं है, उस सत्य को सत् कहते हैं।

सत्य किंवा मिथ्या ?
यह प्रश्न कैसे आता है ?

सत्य तथा सत्यत्व में जो पार्थक्य है, उसे विशेष प्रणिधान द्वारा जानना होगा। जो कुछ "अस्ति" अथवा "है" रूप से प्रतिभात हो रहा है उसे ही हम एक प्रकार से सत्य कहते हैं। चाहे वह भ्रम हो, प्रमा हो, तब भी "अस्ति अथवा है" इस प्रकार के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं रहता। अन्धकार में परिदृष्ट रज्जु में सर्पभ्रम

(प्रकाश आते ही) अगले ही क्षण मिथ्या प्रतीत होने लगता है। यहाँ पर रज्जु में जो सर्परूपता परिदृष्ट होती है उसके सम्बन्ध में तब (प्रकाश आने पर) कोई प्रश्न ही उत्थित नहीं होता। इसी प्रकार से जब आकाश कुसुम अथवा बन्ध्यापुत्र की कल्पना की जाती है (यद्यपि कल्पना के बाहर उनके अस्तित्व की कोई संभावना न रहने पर भी) तब वे कल्पना जगत् में विद्यमान से प्रतीत होते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि आकाशकुसुम अथवा वन्ध्यापुत्र का कल्पना में अभाव है।

वृत्त तथा चतुष्कोणरूपी परस्परतः विरोधीभाव कल्पना में भी एक साथ नहीं मिल सकते, परन्तु वाक् इस असाध्यसाधन को भी सम्पन्न कर देती है। हम जब इस प्रश्न का उत्थापन करते हैं कि कौन अनुभूति सत्य है और कौन मिथ्या है, तब वहाँ यह नहीं देखा जाता कि यह प्रश्न अनुभूति में है अथवा नहीं। इसका कारण यह है कि अनुभूति में जो है उसके सम्बन्ध में कोई भी संशय नहीं रहता। रज्जुसर्प की भ्रान्ति से भ्रमित होने पर यह प्रश्न करो "क्या जो देखा वह सत्य है?" यदि कुछ भी न देखता अर्थात् यदि कोई भी अनुभूति न होती, तब इस प्रश्न के लिये कोई स्थान ही नहीं था। अनुभूति को अन्य की अपेक्षा से रहित करना चाहिये। उसे केवल मात्र अनुभूति के ही रूप में ग्रहण करने पर वह है "अस्ति"। अतः सत्य है।

जब किसी अनुभूति को किसी अन्य की अपेक्षा से जड़ित किया जाता है, तभी उस अनुभूति के सम्बन्ध में सत्य-मिथ्या प्रभृति अनेक प्रश्न संभव हो जाते हैं। जैसे उक्त रज्जु सर्प के स्थान पर अपनी देह की अनुभूति अथवा हाथ में स्थित छड़ी की अनुभूति के साथ जब हम रज्जुसर्प वाली अनुभूति की तुलना करने लगते हैं, तभी उसे मिथ्या अथवा प्रातिभासिक मानना पड़ता है (तब रज्जुसर्प वाली अनुभूति प्रातिभासिक प्रतीत हो जाती है)। क्योंकि हमारी देह अथवा हाथों की छड़ी जैसे प्रत्यक्षतः स्थित अनुभूति है, रज्जुसर्प की अनुभूति उस प्रकार की नहीं है।

असाधारण अनुभूति का दृष्टान्त

गाढ़तर जप अथवा ध्यान करते-करते अन्दर कोई एक विशेष अनुभूति होती है। किसी ज्योति अथवा मूर्ति का दर्शन मिला। कोई अपरूप ध्वनि श्रुतिगोचर हुई किंवा किसी गन्ध अथवा स्पर्श का अनुभव हो रहा है! जो अनुभूति हो रही है उसके सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं है। वह 'अस्ति' 'है', अतएव सत्य है। किन्तु अनुभूति होते समय अथवा हो जाने के पश्चात् मन में यह प्रश्न उत्थित होता है कि जिसे देखा अथवा सुना, क्या वह सत्य है, क्या वह कल्पना है अथवा केवल अलीक मात्र है? किम्बहुना इस प्रकार का प्रश्न उठने के साथ-साथ मन को सत्य-मिथ्या का लक्षण अथवा मापदण्ड ग्रहण करना ही पड़ता है। जैसे मैंने नेत्र खुलते ही सामने जैसा प्रदीपालोक देखा, नेत्रों को बन्द करने पर जिस आलोक को देखता

हूं, उसके सम्बन्ध में विचार आता है कि क्या वह आलोक जैसा ही कुछ है ? यह प्रश्न उठते ही हमें वास्तविक आलोक के लक्षण का मन में चिन्तन करना ही होगा। यदि हम वास्तविक का यह लक्षण मानते हैं कि इन नेत्रों को खोलने पर जो देखा, वह वास्तविक है; तब हमने आखों को बन्द करने पर जो देखा उसे तो अवास्तविक मानना ही पड़ेगा !

यदि यह कहें कि जिसे मेरी ही तरह अन्य १०-२० लोगों ने देखा वही वास्तविक है, उस स्थिति में हमें अपनी आन्तर अनुभूतियों को अवास्तविक मानना ही होगा (उन आन्तर अनुभूतियों को केवल मैं ही देखता हूँ, अन्य कोई नहीं देखता)। तब क्या आन्तर अनुभूतियां अवास्तविक हैं ? वास्तविक तथा अवास्तविक का यह लौकिक "कारबारी हिसाब" तो अतिसामान्य आकलन है। अत्यन्त स्थूल 'हिसाब' है। सूक्ष्म का आकलन करने के लिये अथवा विशेष-विशेष क्षेत्र में मान-दण्ड निर्धारित करने के लिये यह 'कारबारी हिसाब' छोड़ दिया जाता है। जैसे विज्ञान की अनेक गवेषणाओं में। विज्ञान के क्षेत्र में नूतन परीक्षण में प्रवृत्त होने पर हमने जो कुछ देखा, वह सब अणुवीक्षण यन्त्र से देखा। मात्र इन नेत्रों से नहीं देखा ! उसे जब तक देखा, उतने समय तक मैंने ही देखा। अन्य कोई भी वह नहीं देख सका। क्या केवल इसी कारण से उसे अवास्तविक अथवा मिथ्या कहा जायेगा ? हम इच्छा और चेष्टा द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में जिस उपाय और भाव से कुछ प्रत्यक्ष करते हैं, अन्य व्यक्ति भी उस उपाय तथा भाव के द्वारा उसे प्रत्यक्ष कर सकता है।

जब अवस्थापुंज एक प्रकार का है, तब उसका फल भी एक ही प्रकार का होगा। इस मूल सूत्र के ही द्वारा किसी परीक्षा में सत्यता अथवा असत्यता की व्यवस्था की जाती है। जो अनुभूतियाँ जपादि साधन में प्राप्त होती हैं, उनके सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। यद्यपि साधन पथ पर हमें अपनी साधारण दृष्टिशक्ति को अणु-वीक्षणादि यन्त्रों के द्वारा शक्तिमान करने और प्रसारित करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता, तथापि साधना द्वारा हम उसे शक्तिमान तथा प्रसारित करते हैं। जिस प्रकार के व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध में जान सकने का सुयोग विज्ञान के माध्यम से प्राप्त हो सका है, वैसा ही दर्शन योगोक्त संयमादि (ध्यान-धारणा-समाधि) के द्वारा सम्भावित हो जाता है। इस स्थिति में दृष्टि शक्ति की स्वच्छता हेतु तथा प्रसारणार्थ अन्य वाह्य यन्त्रों की कोई आवश्यकता ही नही रहती !

सर्वविध परीक्षण में त्रिविध दोष, उनका त्रिविध परिहार

वैज्ञानिक परीक्षण में भ्रम प्रमाद की आशंका रह जाती है और इनके हेतु का यत्नपूर्वक परिहार करना पड़ता है। दोषों को प्रधानतः श्रेणीत्रय में बाँटा जाता है। यथा:—

(१) जिस यंत्र या उपाय के द्वारा परीक्षा की जा रही है, उसमें दोष की संभावना है। अतएव यंत्रशुद्धि तथा उपायशुद्धि आवश्यक है।

(२) जिस अवस्थापुंज में परीक्षण किया जा रहता है, वह सुनियोजित तथा सुनिरुपित नहीं है। अर्थात् अवस्थाओं के सम्बन्ध में यह नि:सदिग्ध निरूपण नहीं है कि यह अवस्था ऐसी है अथवा वैसी है।

(३) जो परीक्षक है उसमें अपना संस्कारगत अथवा अनवधानादिरूप दोष विद्यमान है।

इन दोषत्रय की सम्भावना कहीं अधिक तो कहीं न्यून रहती है। इसी कारण किसी भी वैज्ञानिक परीक्षा में किसी दृष्टिफलक को यथायथ रूप से ग्रहण कर सकना संभव नहीं है। परीक्षण में अत्यधिक, यथासंभव सतर्कता के साथ-साथ परीक्षक को प्रधानतः तीन विषयों की अपेक्षा रखते हुये अग्रसर होना चाहिये :—

(१) जिस विषय के सम्बन्ध में परीक्षण चल रहा है; तत्सम्बन्धित प्रामाणिक शास्त्र का समर्थन है, किंवा नहीं है ?

(२) इस विषय में अथवा तदनुरूप अन्य विषयों में पूर्वाचार्यगण ने जो परीक्षण फल प्राप्त किया है, उसके साथ हमारे द्वारा प्राप्त फल का सामंञ्जस्य है, अथवा नहीं है ?

(३) यदि असंगति है, तब क्या उस असंगति का कोई यथेष्ट संगत हेतु है अथवा नहीं है ?

हम आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा जिन असाधारण अनुभूति को प्राप्त करते हैं, उनमें भ्रमप्रमाद की आशंका अवश्य रहती है। पूर्वोक्त त्रिविध कारणों से वैज्ञानिक परीक्षण में भ्रम प्रमाद होने में परीक्षक के बाह्यतः स्थित हेतु समूह (आब्जेक्टिव कन्डीशन्स) का प्राधान्य है। यद्यपि परीक्षक की अपनी आन्तर त्रुटियों के कारण भी भ्रम प्रमाद संभव हैं; तथापि बाह्यतः स्थित हेतु समूह की तुलना में आन्तर त्रुटि का स्थान अत्यन्त गौण हैं। आध्यात्मिक साधना में बाह्यतः किसी भी उपकरण की (एपरेटस की) आवश्यकता नहीं रहती। साधक के अपने शरीर तथा मानस अवस्था के ऊपर फलाफल प्रधानतः निर्भर करता है। देश-कालादि पारिपार्श्विक हेतु समूह की तनिक भी अपेक्षा नहीं हो, ऐसा नहीं होता, किन्तु प्रधानतः साधक के प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष की उपयुक्त स्थिति पर ही साधक की सफलता विशेषतः निर्भर करती है। अतः साधक को चाहिये कि वह सर्वप्रथम अपने प्राणमय कोष को साधनानुकूल अवस्था में ले आये। इसलिये आहारादि की शुद्धि और आसन, प्राणायाम आदि का प्रयोजन रहता है। देह और प्राण के प्रवाह की अनाविल और शान्त स्थिति में साधना की प्रथम भूमिका सुप्रतिष्ठ हो जाती है। यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम रूपी योगांग इस प्रकार के अनाविल एवं शान्त

प्राणप्रवाह के प्रवर्त्तन में सहायक सिद्ध होते हैं। तदनन्तर साधक को मनोमय कोष शुद्ध करना चाहिये। मन या चित्त का मल है रजः और तमः।

चित्तमल कैसे अपगत होता है ? साधना द्वारा कल्पना का क्रमिक शोधन एवं बोधन

दीर्घकाल पर्यन्त सत्कार से, सम्यक भाव से, साधन भजन करते रहने से चित्त के रजः एवं तमः रूपी मल अपगत हो जाते हैं और चित्त भी विशुद्ध रूप से सत्व-गुणोपेत हो जाता है। फलस्वरूप चित्त भी सातिशय प्रकाशशील हो जाता है। ऐसा चित्त जिस विषय को जिस प्रकार से ग्रहण करते है, वह विषय भी उसी प्रकार से वस्तुतः विद्यमान रहता है। अतएव ऐसे चित्त के द्वारा लब्ध ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान अथवा प्रमा है। मूढ़, क्षिप्त अथवा विक्षिप्त अवस्था में चित्त को जिस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे शुद्ध तथा यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इस मनोमय कोष तक की शुद्धि से ही कार्य नहीं होगा। विज्ञानमय कोष को भी मनोमय कोष, प्राणमयकोष तथा अन्नमयकोष के संस्कारपाश से मुक्त करना होगा। उसे उसके स्व-भाव में प्रतिष्ठित करने का यत्न करो।

साधारणतः जीव का विज्ञानमय कोष निम्नस्थ अन्नमय आदि कोषों के विचित्र भावप्रवण संस्कारों में बद्ध रहता है। बुद्धि भी स्वभावतः सत्वगुणात्मक है, तथापि वह सत्वगुण निम्नभूमिस्थ कामना-वासना आदि (सबकांशस के निगेटिव मोमेन्टा से) से समावृत्त होने के कारण विलुप्त सी प्रतीत होने लगती है। इस राहु-ग्रास से बुद्धि को मुक्त करना ही होगा, अन्यथा वह हमारे बन्धनपूर्ण संस्कारों को ही पुष्ट करती है। वह मोक्ष अथवा मुक्ति सम्बन्धित संस्कारों को वर्द्धित कर सकने में अक्षम सी हो जाती है।

हमारे साधारण ज्ञान में जो भी दैन्य अथवा कार्पण्य है, वह सब मुख्यतः बुद्धिदोष से ही घटित हो रहा है। अतः बुद्धि को निर्दोष करना होगा। तभी हमारी अनुभूति तथा ज्ञान यथार्थ विज्ञान रूप में परिणत हो सकेगा। हम स्वयं राग-द्वेष संस्कार से चालित होकर ही युक्ति की तथा विचारणा की स्थिति को उत्पन्न करते हैं। हम राग-द्वेष संस्कार से चालित होकर विचार एवं युक्ति के जिस सूत्र का अनुसरण करते हैं उससे हमें विज्ञान का सन्धान कैसे मिल सकता है ? वह सूत्र हमें आलोक का सन्धान देने के स्थान पर अन्धकार के पीछे ले जाता है। अतएव मोक्ष-साधनार्थ हमें शरीर एवं मानस यन्त्रों की अनुकूलता को प्राप्त करना ही होगा।

यन्त्रसमूह जिस परिमाण में अनुकूल तथा उपकारक होते हैं, उसी मात्रा में यन्त्रलब्ध फल (अर्थात् अनुभूति) सत्य हो जाता है। किम्बहुना उसमें एक क्रम की अपेक्षा रहती है। साधन की सफलता भी क्रम की अपेक्षा करती है। अर्थात् साधना में प्रवृत्त होकर हम जिस अनुभूति को प्रथमतः प्राप्त करते हैं, वह पूर्णतः

सत्य नहीं होती। प्राणमयादि उक्त त्रिविध यन्त्र (आभ्यन्तरीण यन्त्र) अनुकूल होने की ओर अग्रसर हैं, तथापि अभी भी वे सम्पूर्णरूप से अनुकूल नहीं हो सके हैं। विरोधी संस्कारों की बाधायें अभी भी प्रचुरता से विद्यमान हैं। अभी भी पातालादि निम्नतल की वृत्तियां स्व की उर्ध्वतलवृत्ति के साथ Congruent नहीं हो सकी हैं। अतएव इस प्रकार के यंत्र की सहायता से जिस फल की प्राप्ति हो रही है, उसका भी और शोधन करना आवश्यक है। अभी लब्ध अनुभूतियों के साथ अनेक मिथ्या कल्पना समूह अज्ञात रूप से जड़ीभूत हो रहे हैं। इनमें कितनी वास्तविक हैं, कितनी कल्पना प्रसूत् हैं, इसका नीरक्षीर विवेक नहीं हो रहा है। हम अज्ञातरूप से कल्पना को ही सत्यानुभूति मान लेते हैं। हम इस तथ्य का आगे विश्लेषण करेंगे कि जिसे हम साधारणतः कल्पनामात्र कहते हैं और जिस ब्रह्म-कल्पना द्वारा "ऋतञ्च सत्यञ्च" क्रम से यह निखिल विश्व सृष्ट हुआ है, इन दोनों में अनेक क्रमोन्नत स्तर हैं। सोपान हैं। इन सोपानों का क्रमशः अतिक्रमण करते हुये जब तक हमारी अनुभूति ब्रह्मकल्पना में उपनीत नहीं हो जाती, तब तक विश्व की सत्यता के सम्बन्ध में पूर्ण तथा अभ्रान्त ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता। इस पूर्ण अभ्रान्त ज्ञान को वेद कहते हैं। वेद नित्य तथा अपौरुषेय है। ऋषिगण के 'दर्शन' में यह प्रकाशित होता है। साधना द्वारा प्राप्त समस्त अनुभूतियों का चरम लक्ष्य है पूर्ण अभ्रान्त ज्ञान। जब लक्ष्य दूर रहता है, तब साधक को क्रमशः धीरे-धीरे लक्ष्य की ओर अग्रसर होना पड़ता है। यह उसी प्रकार है जैसे जप साधन प्रथमतः वैखरी से प्रारम्भ हो रहा है। अभी 'मध्यमा, पश्यन्ति तथा परा' का कोई सन्धान ही नहीं है! अतः अभी मन्त्रजप के शब्दों की आवृत्ति ही चल रही है। साथ ही साथ गुरु ने जिस भावना अथवा चिन्तना का आदेश दिया है, उसकी कल्पना अथवा चिन्तना का प्रयास यह मलिन मन कर रहा है।

जब जपक्रिया सम्यक् रूप से चलने लगती है, तब जैसे ही वैखरी जप मध्यमा सेतु में आ पहुँचता है और सेतु पार करके पश्यन्ति का स्पर्श प्राप्त कर लेता है, तभी से जपःशक्ति की असाधारणता का किंचित् परिचय मिलने लगता है। इस प्रकार मनः की कल्पना भी क्रमशः स्थिर तथा स्वच्छ होकर दृढ़ भावना के कारण स्वयं को घनीभूत कर लेती है। इस स्थिति में साधक की वाह्यसंज्ञा अल्पाधिक तिरोहित हो जाती है और साधक ध्यान-लोक में प्रविष्ट होने लगता है। इसी समय से ध्यानरस का आस्वादान साधक को मिलने लगता है। पूर्व भूमि में नाना विरोधी अरिच्छन्द के साथ संग्राम करते-करते साधक का जो अभ्युदय घटित होता है, उसे हम कृच्छ्रोदय कहते हैं। अब ध्यानरस का आस्वाद प्रारम्भ होने से इस कृच्छ्रोदय पर्व का अवसान हो जाता है।

जप की विभिन्न भूमि में विभिन्न
ख्याति तथा छन्दः
श्वास-श्वास में जपः

हमने सप्तव्याहृति आलोचना प्रसंग में यह कहा है कि उक्त सप्तव्याहृति विश्वजनीन सत्य है। अतएव विश्व अनुभूति के दृष्टिकोण से इसे सप्तख्याति कहते हैं। इसीलिये जपादि साधना में भी यही सप्तख्याति रहती है और प्रत्येक ख्याति में एक छन्दः रहता है। इस प्रसंग में सप्त-सप्त अथवा ७ ✣ ७ की आकृति की विवेचना की जायेगी। वैखरी जप में जो विशेष ख्याति तथा छन्दः विद्यमान रहता है, वह ख्याति तथा छन्दः उस समय परिवर्त्तित हो जाता है, जब जप की स्थिति मध्यमा में अथवा उससे उर्ध्व किसी ग्राम में हो जाती है। इस ख्याति अथवा छन्द के परिवर्त्तन के कारण जप का रूप तथा फल भी परिवर्तित हो जाता है। अर्थात् निम्नभूमि में जप जिस आकार अथवा प्रकार से चल रहा था, उच्चतर भूमि में जप का आकार और प्रकार वैसा नहीं रह जाता। निम्नभूमि में संख्या का स्मरण रखते हुये आयास पूर्वक जपाक्षर की आवृत्ति करते हैं, परन्तु उच्चतर भूमि में यत्नपूर्वक किसी संख्या को स्मरण रखते हुये जपाक्षर की आवृत्ति का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। तब जप हमारी चेष्टा से नही चलता, प्रत्युत् जप की कृपा से हम चलते हैं! उस स्थिति वह हमारे प्राण प्रवाह को अपने छन्द में निरूपित कर लेता है। उस समय श्वास-प्रश्वास देहयन्त्र की मांग पर अथवा हमारी जप-क्रिया चलाने के प्रयोजन से नही चलता। तब मानो स्व छन्द जप में श्वास-प्रश्वास लीन से हो जाते हैं। जैसे अच्छे संगीत के समय गीत-वाद्य का एक दूसरे में लय हो जाता है, उसी प्रकार! जप के छन्द तथा प्राण के छन्द का यही समीकरण है—श्वास-श्वास में जप। जब जप की कृपा से चित्त में गाढ़ तन्मयता आ जाती है, तब यह स्वाभाविक अजपा स्थिर कुम्भक के परिणत हो जाता है।

कल्पना तथा भावना के तीन-तीन स्तर
अन्त-समापत्ति
ख्याति तथा अनुभूति के दृष्टिकोण से देखने पर

ख्याति तथा अनुभूति के दृष्टिकोण से देखने पर हम जपभावना की उपलब्धि भूमिकात्रय में करते हैं। प्रथम है कल्पना की भूमिका। इसके भी स्तर-त्रय हैं, यथा—मलिन स्तब्ध कल्पना, चपल व्यस्त कल्पना और दृढ़ समग्र (समस्त) कल्पना। प्रथम में कल्पना अस्पष्ट रूपेण होती है। द्वितीय में कल्पना चन्चल होकर ध्येय वस्तु का कभी यहाँ तो कभी वहाँ अनुभव करती है। जैसे भ्रमर पुष्प के चतुर्दिक गुन्जन करता है, उसी प्रकार। कभी वह पुष्प को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। पहले हमने जिन वैलक्षण्य आदि दोषों को कहा है, वे सब इसी अवस्था

में ही अधिक परिलक्षित होते हैं। तत्पश्चात् कल्पना की दृढ़ अथवा शान्त अवस्था में जिस ध्येय वस्तु की समग्ररूपेण कल्पना की जाती है, वह भी कल्पना ही है।

अतः साधक को कल्पनाभूमि को उत्तीर्ण करते हुये उच्चतर भूमि में जाना ही होगा। यह भूमि है भावना। भाव की गाढ़ता के द्वारा ही भावना होती है। भावना प्राप्त होने पर ही रसबोध होता है। अब मधुकर इधर-उधर गुंजार करता नहीं घूमता। जिस फूल के मधु की गन्ध द्वारा आकृष्ट हुआ था, अब उसी का आस्वादन करता है। इस भावना भूमि के तीन स्तर हैं—यथा अयुक्त भावना, युञ्जान भावना, युक्त भावना। हम सामान्यतः युञ्जान तथा युक्त भावना को क्रमशः धारणा तथा ध्यान कह सकते हैं। फिर भी युञ्जान तथा युक्त कहना अधिक सुविधाजनक है।

युक्त भावना के अतिरिक्त भी एक भूमि है। उसे हम भावन-भावना कहते हैं। अथवा समापत्ति भी कह सकते हैं। इस सप्तक भूमिका में ध्येय साक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभूति होती है। जैसे 'क्रीं' कालीबीज का जप करते-करते जब इस सप्तम ख्याति में स्थिति होती है, तब मां काली मंत्राक्षररूपिणी, कल्पनारूपिणी अथवा ध्यानरूपिणी नहीं रह जातीं! वे साक्षात् प्रादुर्भूत हो जाती हैं। बालक ध्रुव ने नारद से द्वादशाक्षर मंत्र पाकर जप करते-करते प्रथमतः ध्यान में वासुदेव का प्रथम दर्शन अवश्य प्राप्त किया, परन्तु उसे पाकर सन्तुष्ट नहीं हो सके। शंख-चक्र-गदाधारी वासुदेव ने साक्षात् दर्शन दिया, ध्रुव का स्पर्श किया और उनके साथ वार्त्तालाप किया। इसी साक्षात्कार से साक्षात्कार की आन्तरानुभूति (सब्जेक्टिव इक्सपीरियेन्स) और वाह्यानुभूति (आब्जेक्टिव इक्सपीरियेन्स) के मध्य का व्यवधान तथा द्वन्द्व तिरोहित हो सका था।

साधक को आंतर अनुभूति में किन-किन प्रश्नों का उत्तर पाना होगा? सत्य अनुभूति के पंचलक्षण

जब तक बाह्य तथा आन्तरानुभूति का व्यवधान दूरीभूत नहीं हो पाता—, तब तक साधक को अपनी प्राप्त अनुभूति की परख कर लेना चाहिये। सामान्यतः तीन सूत्रों के आधार पर यह कार्य किया जाता है। प्रथमतः यह विश्लेषण करे कि हमारी जो यह अवस्था है, इसके सम्बन्ध में शास्त्र क्या कहते हैं? द्वितीयतः इस सम्बन्ध में सन्त तथा महाजनों ने क्या-क्या साक्ष्य दिया है? तृतीयतः इस संदर्भ में हमारे अपने गुरुदेव ने क्या कहा है? इस पर्यन्त वैज्ञानिक परीक्षण के साथ अध्यात्म जीवन की परीक्षा की विधि में एक समानरूपता परिलक्षित होती है, किन्तु साधना के समय इन तीनों सूत्रों के अतिरिक्त भी स्वलब्ध अनुभूति के आकार-प्रकार के सम्बन्ध में विशेष प्रकार से सावधान और सजग रहना चाहिये।

जैसे कभी स्वप्न के समय कतिपय लक्षणों को लक्ष्य करने पर उस स्वप्न को अलीक कहकर नहीं छोड़ देते, उसी प्रकार यदि आन्तरलब्ध अनुभूति अथवा अवस्था विशेष में कतिपय लक्षण हैं, उस स्थिति में उस अनुभूति को कदापि कल्पना नहीं कहा जा सकता। अभीष्ट लक्षण सामान्यतः पांच हैं, यथा—

(१) अनुभूति की सुस्पष्टता तथा उज्वलता
(२) अनुभूति की स्थिरता अथवा स्थायित्व
(३) अनुभूति की सुषमता अथवा संगति
(४) अनुभूति का उत्तरोत्तर उन्मेष-विकास
(५) जीवन की समस्त अनुभूति धाराओं पर उसका प्रभाव और शासन

इस पांचों लक्षणों के परिमाण पर कितना विश्वास होगा अथवा नहीं होगा, उसकी भी मात्रा साथ ही जड़ित सी रहती हैं। जो सत्यानुभूति है, उसके साथ ज्योति तथा आनन्द ओतप्रोत रूप से विद्यमान बने रहते हैं। अतः साधक को कोई आन्तरानुभूति होने पर उसे अपने आप से इन दो प्रश्नों को पूछना चाहिये :—

(१) क्या यह मुझे अजाना में तथा अज्ञात तमः के पार ज्ञान अथवा बोध में ले जा रही है? अब तक बिना कुछ पाये अन्धकार में इधर-उधर खोज रहा था, क्या उस अन्धकार में अब आलोक का उद्भासन हुआ है?

(२) अब तक जो न पाने और न जानने की अशान्ति थी, क्या वह विदूरित होने पर हमारा चित्त शान्त एवं स्वस्थ हो रहा है?

किम्बहुना, विज्ञानागार के समान साधना में भी जो अनुभूतियाँ आती हैं, वे सभी अभीष्ट अथवा वांछनीय नहीं हैं। उनमें कोई-कोई प्रेयस्कर हैं किन्तु श्रेयस्कर नहीं है। अनेक प्रेयस्कर भी नहीं हैं। यहां यह जानना होगा कि वहां केवल मित्र एवं मधुच्छन्द का निरुपद्रव साधन ही घटित नहीं हो रहा है, प्रत्युत् वहां अरिच्छन्द भी विद्यमान है। अरिच्छन्द की विद्यमानता के कारण अशुभ संस्कार भी विरोधीरूपेण सक्रिय हो पाते हैं। फलस्वरूप नाना अशुभ लक्षणों का प्रकाशन हो जाता है। जब तक अशुभ निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक साधक को मलिन संकर धारा से मुक्त होकर शुभ्र शंकरधारा में प्रवेश नहीं मिलता। अत्यन्त उर्ध्व पर्यन्त इन दोनों धाराओं का साथ-साथ प्रवाह बना रहता है।

सत्य अनुभूति की क्रमिकता

सत्यानुभूति के पंचलक्षण क्यों हैं? विचार करने पर ज्ञात होगा कि उनमें से प्रत्येक में क्रमिकता तथा तारतम्य की अपेक्षा बनी रहती है। मान लो कि कोई आन्तर अनुभूति अत्यन्त उज्वल तथा विस्पष्ट रूप से होती है। अब प्रश्न उत्थित होता है कि कहां, किस परिमाण में, किस भाव में, किस सम्बन्ध में, विस्पष्ट अथवा

उज्वल है? हम आखें खोलने पर किसी वस्तु को जिस उज्वल अथवा विस्पष्ट रूप से देखते हैं, क्या हमारे द्वारा ध्यान में गोचर वस्तु उतनी ही उज्वल एवं विस्पष्ट है? अथवा उसकी तुलना में अधिक किंवा न्यून है? संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन पंचलक्षणों में से प्रत्येक के प्रति पाद-मात्रा तथा कला विषयक प्रश्न उत्थित होता है। प्रश्न उठता है कि इसकी काष्ठा अथवा सीमा कहां है? अर्थात् किस मात्रा-पाद अथवा कला में स्फुरित होने पर अनुभूतियों का रूप निरतिशय तथा यथार्थ हो सकेगा? जिस उपाय से सत्यानुभूति होती है, उसे यदि बुद्धि कहें, उस स्थिति में यह प्रश्न अवश्य उदित होगा कि बुद्धि की किस विशारदी स्थिति में वह निरतिशय सत्य की उपलब्धि में समर्थ हो सकेगी?

सत्य चतुष्पात् है।
(सत्ता-शक्ति-आकृति तथा छन्द)

हमारे अनुभव के अनुसार सत्य चतुष्पात् रूप में विराजित है। इसे हम सत्ता + शक्ति—आकृति तथा छन्दः रूपी पाद कहते हैं। अतएव सत्य की उपलब्धि करने के लिये उसे इन चारों के दृष्टिकोणानुसार उन्नत करना होगा। निसंदिग्ध रूप से जीव की बुद्धि इसी चेष्टा में निरन्तर व्यापृत रहती है, किन्तु वह प्रायशः छाया द्वारा ही भ्रमित एवं विभ्रान्त होती रहती है। उसे 'काया' का सन्धान कदाचित् ही मिलता हो! ऐसी बुद्धि को सत्य के लिये 'अयुक्त' कहते हैं। जो बुद्धि छाया का विभ्रम काटकर 'काया' की 'सन्धानी' हो जाती है, और उसके सन्धान में प्रवृत्त होकर तदुपयोगी उपाय का आविष्कार करने के लिये प्रयत्नरत हो जाती है, उसे 'युञ्जान' बुद्धि कहा जाता है।

इस युञ्जान बुद्धि और सत्य के बीच व्यवधान बना रहता है, किन्तु वह व्यवधान क्रमशः ह्रस्व होता जाता है। इस व्यवधान का दूरीकरण ही सर्वविध विज्ञान तथा प्रज्ञान का लक्ष्य है। अन्त में देखो बुद्धि एक ऐसी विशारदी भूमि में आ गयी है, जहाँ अब सत्य के बीच का व्यवधान समाप्त हो गया है। यही है 'युक्त' अवस्था। क्या यहीं पर यात्रा का अवसान है? स्वयं गीता में श्री भगवान ने युक्त, युक्ततर तथा युक्ततम रूपी भूमित्रय का सन्धान दिया है। इसलिये हम युक्तभूमि में पहुँचकर भी तारतम्य के पार नहीं जा सके हैं। अतः अब बुद्धि से कहना होगा "मै तो सत्यतः युक्त गया हूँ, किन्तु युक्ततर कैसे होना होगा? अन्त में युक्ततम कैसे हो सकूँगा? क्या अन्ततक बिना रूके पथचारण करना होगा? क्या परिपूर्ण सत्य अन्ततक मुझसे छिपा रहेगा?" कतिपय दार्शनिक मत सत्य की प्राप्ति के इस ज्ञानाभियान को अन्तहीन मानते हैं। वे बुद्धि को क्रम रूप से तथा धारावाहिक रूप से कार्य करने वाली मानते हैं। अतः यह विदित होता है कि सत्य

के सम्बन्ध में बुद्धि की आकृति तथा अभियान किसी भी समय समाप्त होने वाला नहीं है।

बुद्धि-साधारणी, समञ्चसा तथा समर्था

तुरीयख्याति कहां से आरम्भ है !

हम यह मानने के लिये बाध्य हैं कि बुद्धि को हमने साधारण व्यवहार में "कारबारी" रूप से जाना है। बुद्धि भी स्वयं को साधारण व्यवहार में कतिपय सूत्रों (कैटेगरीज) के अनुसार चालित करती है। यद्यपि वह स्वयं को इन सूत्रों के अनुरूप चलने के लिये बाध्य करती है, तथापि वह स्वयं को इस बाध्यता के पाश से मुक्त करने के लिये एक वास्तविक आकृति एवं सम्भावना को स्वयं में छिपाये भी रहती है।

अत: हम जिसे साधारणी बुद्धिरूप मे एक अनन्त श्रेणी तथा धारारूप में उपलब्ध करते हैं, उसे बोधि अथवा सम्बोधि रूप में अक्रमिक, समग्र तथा पूर्णरूप में प्राप्त करने के लिये बाध्य नहीं हैं। हमने अपने एक पूर्व सूत्र में वनाभ्यन्तर में चलते-चलते टार्च की सहायता से पथ देखते चलने की स्थिति तथा विद्युत के प्रकाश में पथ देखने चलने की स्थिति का वर्णन किया है। साथ ही दोनों के पार्थक्य की भी विवेचना किया है। जब बुद्धि मह: रूपी तुरीयख्याति में उपनीत हो जाती है, तब उसका आकार-प्रकार पूर्णत: परिवर्तित हो जाता है

पहले हमें कितने ही प्रयास तथा संकोच के साथ एक-एक पैर बढ़ाते चलना पड़ता था। अब इस चतुर्थ ख्याति में पहुँच जाने पर यह विदित होने लगता है कि उसमें अब तक जो बामनरूपी पुरुष सोये हुये थे, वे अब साक्षात् उरुक्रम रूप से जाग्रत हो उठे हैं और "त्रेधा निदधे पदं" उनके एक ही पद के द्वारा स्वर्ग मर्त्य पातालादि का एक साथ अतिक्रमण हो चुका है। अब स्वयं अवाक् होकर कहना पड़ता है। "एतावानस्य महिमा"। हमारी जो बुद्धि अब तक सामान्य 'यह—वह' रूपी नाप-जोख में ही व्यावृत थी, वह बुद्धि आज अतर्कित रूप से एक महान् विपुल का संधान प्राप्त कर रही है, जिनके 'नापजोख' के सम्बन्ध में कोई भी पैमाना (मेजर्स-प्रीकान्सेप्शन्स) को अब "मौका" ही नहीं मिल रहा है। बुद्धि के द्वारा परमसत्य का वरण करने के लिये जो यह अभिचार है, उसकी नायिका के साथ अभिसार के रूप में तुलना की जा रही है। कारिका प्रस्तुत है—

व्यस्तं छन्द: क्रमिकविषयं याति साधारणी धी
वैराज्यं याऽनुसरति समा चाञ्जसा मध्यमा सा।
पूर्णह्यर्थं भजति महसा छन्दसो या समर्था
त्रेधात्मानं त्वतिजिगषुमिर्नायिका सा तुरीया॥

साधारण नायिका के अनुसार यह साधारणी बुद्धि किसके अनुसरण में चल रही है ? बुद्धि के लिये अनुसरण की वस्तु सभी स्थलों पर छन्दः ही है । छन्दः के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । यह साधारणी नायिका कैसे छन्दः का अनुसरण कर रही है ? वह है व्यस्त छंदः अर्थात् छंदः खण्ड-खण्ड में ! इसकी व्याप्ति है स्वल्प तथा पारस्परिक संगति का अभाव है खण्डों में । ऐसे छंदः तो जीवन के व्यवहार क्षेत्र में उपयुक्त हैं, परन्तु ऐसे छंदों के द्वारा जीवन की समग्रता का व्यवहार सौष्ठव के साथ नहीं चल सकता । इसी कारण साधारणी नायिका को पग-पग पर बहिर्बाधा, स्वविरोध प्रभृति के सम्मुखीन होना पड़ता है ।

हमने पहले छन्द के जिन पाँच पर्वों का उल्लेख किया है, उनमें से मात्र प्रथम दो में साधारणी बुद्धि जा सकती है । वे छन्दः हैं परिणयी तथा अन्वयी । इस साधारणी बुद्धि के कार्पण्य को काट देने वाली बुद्धि को कहते हैं समंजसा । यह समंजसा नायिका किसका अनुसरण करती है ? वह अनुसरण करती है वैराज छन्दः का । जिस छन्दः में कभी यहाँ तो कभी वहाँ (भ्रमित होने वाली) की कुण्ठा का प्रभाव नहीं रहता, तथापि जो समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म रूपी विराट में अनुस्यूत है, उसे समन्वयी छन्दः कहते हैं । विज्ञान में जो बुद्धि है, वह ऐसे ही छन्दः के अनुसरण के लिये स्वयं को नियुक्त करती है, किन्तु कुछ दूर अग्रसर होने पर भी अकुण्ठ की अभिसारिका समञ्जसा बुद्धि अपनी कुण्ठा तथा संकोच को किसी प्रकार से भी न तो देखती है और न काटती ही है ! विश्व की समस्त घटनायें छन्दः में तो आती हैं, किन्तु विश्व के मूल में जो ऋतम् और सत्यम् है वह ? जो परिपूर्ण पदार्थ अणु-महान् सब कुछ के मूल में विद्यमान है, उसे जो बुद्धि अपने महान छन्दः के द्वारा भजन, वरण तथा उपलब्धि में ले आने में समर्थ हो जाती है, वह बुद्धि विज्ञान की बुद्धि से भी ऊर्ध्वगामिनी है ।

विज्ञान के उर्ध्व में प्रज्ञान
समञ्जसा के अनन्तर समर्था

यह है प्रज्ञान की बुद्धि, समर्था नायिका ! यह बुद्धि छन्दः के जिस पर्व पर अधिरोहण करने में समर्थ है, उसे हम महासमन्वयी रूपेण उपलब्ध करते हैं । किन्तु क्या यहीं अन्त है ? इस प्रकार से बुद्धि स्वयं को नायिका की भूमि में सज्जित करती हुये छन्दोरूपी सत्य की भावत्रय द्वारा आराधना करती है । किन्तु भूमि तो स्वयं को इन भूमिकात्रय के भी पार ले जाने की इच्छा करती है (अति जिगमिषुः) । क्योंकि इतना करने पर भी वह अभी तक परम सत्य को अपना नहीं बना सकी है ! अतः यह विदित होता है कि अभी भी बुद्धि का एक तुरीय भाव स्थित है । इस तुरीयभाव की प्राप्ति के साथ बुद्धि के मान-मेय समस्त व्यवहार अपगत हो जाते हैं । अब बुद्धि अपने स्वभाव का भी अतिक्रमण (Transcends itself) कर लेती है ।

अत: अब उसको जो परम उपलब्धि तथा आस्वादन प्राप्त होता है, उस सम्बन्ध में बुद्धि अथवा भाषा के माध्यम से कुछ भी कह सकना संभव ही नहीं है। इस परम-भूमि में आकर बुद्धि के जिस परम छन्द: का साक्षात्कार मिलता है, उसे हम परम समन्वयी कहते हैं।

वैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन की दुश्चिन्ता

समस्त वैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन ने बुद्धि की इस समञ्जसा भूमिका तक को स्वीकार किया है। उसने मानों समर्था के संवाद से ही स्वयं को भयभीत कर लिया है अथवा उसके प्रति अविश्वास है। तुरीया पर्यन्त तो उनकी कल्पना की पहुँच ही नहीं है। बुद्धि को Intellect, Understanding अथवा Reason मान लेने पर इसी प्रकार की एक सीमा पर ही रुक जाना होगा। पश्चिम के कान्ट प्रभृति दार्शनिकों ने समर्था तथा तुरीया के पैर में बेड़ी बांध कर उसे दूर ही रखना चाहा है! बुद्धि अपने शुद्धरूप में (as pure reason) जिस महत्तर अक्रमिक सत्य का संधान देने के लिये उद्यत है, उसके सम्बन्ध में अविश्वास की वृत्ति रखने के कारण ही कान्ट प्रभृति नें 'प्रकाश्य' का परामर्श दिया है।

यद्यपि कान्ट तथा उनके परवर्त्ती कतिपय चिन्तकों नें प्रकारान्तर से इन सब महत्तर सत्य की अनुभूति को व्यवहार में लिया है, परन्तु तब भी यही कहना होगा कि उनकी बुद्धि में तथा ध्यान में बुद्धि की इस समार्था तथा तुरीया रूपी सम्यक् भूमि का अवगुण्ठन अभी भी उन्मोचित नही हो सका है। जब तक बुद्धि का उत्तोलन मानस संस्कार से उर्ध्व नही हो जाता, अथवा सुपरमेन्टल भूमि अधिगत नही हो जाती, तब तक सत्य का महान् तथा परम रूप उपलब्ध नही हो सकेगा।

अब इन कारिकाओं के द्वारा बुद्धि का 'त्रिनेत्रा' रूप से ध्यान करो :—

उरसि शिरसि चास्ये त्रीणि चक्षूंषि तेषां
दृशिपटरसभास: क: प्रधीनिश्चिनोति।
वहिरिति च सदेकं भाश्चभर्गो वरेण्य
रस इति रसभूमा कस्य तारश्च तत्सत् ॥

तुम्हारे मुख्यमण्डल में जो चक्षुद्वय हैं, उनके द्वारा बहिर्विश्व के चित्रपट को देखते हो! उन्हें देखकर मन तथा बुद्धि अपनी साधारणी वृत्ति को चलाते रहते हैं। किन्तु तुम्हारे हृदय (उरसि) तथा मस्तक (शिरसि) में और भी दो चक्षु हैं, क्या उन्हें जानते हो? एक है भाव के चक्षु। वह तुमको देते हैं रसबोध, रसानुभूति! अन्य हैं ज्ञाननेत्र। उससे तुमको मिलता है आलोककर ज्योति का सन्धान।

तुम साधारणी नायिका के राग में इस प्रकार भूल गये हो कि अन्य दो नेत्रों का संवाद तुम्हारे पास तक पहुंचता ही नहीं है। अथच, इन दो नेत्रों के खुले बिना तो समंजसा की परिणति समार्था के रूप में हो ही नहीं सकती।

अतः कारिका में कहा गया है कि इस प्रकार का एक प्रधी (प्रकृष्ट धी सम्पन्न) है जिसकी धी इन त्रिविध दृष्टि की विषय वस्तु दृश्य पट, रस तथा ज्योति (भाः) को निश्चयपूर्वक ग्रहण करती है और उनका विनियोग अपने परम प्रयोजन में करती रहती है (निश्चिनोति) ? वह परम प्रयोजन कहाँ तक है और वह क्या है ? अन्दर-बाहर तो एक विचित्र छवि देखी जाती है। फलतः पाता हूँ घात-प्रति-घात, हास्य-रुदन कितना कुछ ! किन्तु यह सब वही एक सद्वस्तु (सदेकं) है, सब कुछ वे हैं, यह जान कर शान्त हो जाओ। यदि गुरुकृपा तथा जपादि साधना के द्वारा तुम्हारे ललाट के नेत्र खुल सकें, तभी तुम आलोकलोक का सन्धान प्राप्त कर सकोगे। तुम तभी यह जान सकोगे कि जो आलोक है, वही है 'वरेण्य भर्गः'। इसी का संवाद गायत्री मंत्र के द्वारा ध्वनित है। और, यदि हृदय के नेत्रों से रस का (भावपुलक आदि का) स्पर्श प्राप्त कर सको, तभी यह जान सकोगे कि वह रस ही "रसो वै स भूमा" है। तब यह समझोगे "रूपसागर में डुबकी लगाया है और अब अपरूप रत्न मिलने की आशा है" !

जैसे वस्तु रूप से जाना, उसी प्रकार मन्त्र रूप से भी परम सत्य को जानों 'ॐ तत् सत्'। जो बुद्धि इस प्रकार से जानती है वह बुद्धि कैसी है ? (कस्य)। पूर्व की कारिका में उक्त बुद्धि की भूमिका के साथ इस भूमिका की तुलना करो।

जब तक बाहर के और मनः के चलचित्र के प्रति अधिक अभिनिवेश रहता है, (श्रुत्युक्त "पराञ्चि खानि" का पुनः स्मरण करो) तबतक उन दोनों चक्षुओं को खोलने के लिए 'आवृत्त चक्षुः' साधन करना पड़ता है। अर्थात् वास्तविक ज्योतिरस (अमृत) के अभिलाषी को धीर तथा शान्त होना चाहिये। ज्योतिरस युक्त इस दृष्टि के पूर्ण उन्मेष हो जाने के अनन्तर बहिर्मुखीनता (पराक्) वृत्ति भी उस प्रकार से नहीं रहती। तब 'बहिरिति सदेकम्'। अब भावनेत्र तथा ज्ञाननेत्रों द्वारा रसानुभूति और ज्योति की उपलब्धि के पश्चात् किसी भी प्रकार की अन्धता नहीं रह जाती।

बुद्धि को नायिका रूप (लीडिंग लाईट) से देखने पर समर्था के परे स्थित तुरीया भाव को स्वीकार करना ही होगा। इस प्रकार 'त्रिनेत्र' (श्री मीनिंग) रूप से देखने पर भी इन तीनों से अतीत तुर्यगादृष्टि को स्वीकार करना ही पड़ता है। तुरीया (तुर्यगा) में बुद्धि स्वयं का अतिक्रम करने लगती है।

प्रपंञ्चोपशम मद्वैत मधिष्ठानं तुरीयया।
तत्र तुर्यगया पूर्णं ध्रुवं शुद्धमपीष्यते ॥

महासमन्वयो यत्र पारम्यमवगाहते ।
सर्वविरत्वं च सार्वज्ञ्यं तत्र निरञ्जनो स्थितिः ॥
विषयः सन्धिभावौ च तात्पर्या परमार्थता ।
द्वैइन्तिमे निष्ठिते यत्र तत्र तत् सत् व्यवस्थिम ॥
विचिनुते ऽन्तिमख्यातिं सत्याद् यः सृष्टि सूक्तगात् ।
तपश्चैवं सतः सत्यं तस्यौतंसदिति स्थितिः ॥
स्थिरत्वादीनि लिङ्गनि त्रीणि व्याहृतिमूर्द्धनि ।
ध्रुवत्वादीनि संलक्ष्ये लक्ष्यशेषे ह्यलक्षणम् ॥
अभ्यारोहाय सत्ये स्यात् सव्याहृति जपक्रतुः ।
सौक्ते तु व्याहृतिर्हित्वा चौं तत्सदिति तत्परम् ॥
अभ्यासो व्याहृतैः कुर्या धीमहीति च भर्गसा ।
वि---व्याहृतिं तपश्चोरं हित्वौतंतसदिति स्थितिः ॥
भूमाकाशं स्वभावान् निरतिशयसुखं तत्र भावाश्च नाना
शुद्ध ज्ञानं स्वधाम्ना प्रमिति परिमित वा प्रमातृ प्रमेयम् ।
शुक्लं कृष्णञ्च धूम्रं सदिति भवति किं वस्तु चैकं विचित्रं
भर्गोदेवस्य पादान् कतिविधनिलयान् मिसमाना धियो नः ॥
सर्वज्ञः सर्वविद् यः परम उपशमो वा प्रपञ्चस्य तस्मि
शाखाविस्तारमूलं सदसदिति महावीरुधो निर्विशेषम् ।
मायाऽनिर्वाच्यमूलं तदपि वदसि कं मायिनं वा महेशं
क्लेशाद्यैस्तत्र नृणां दनुजदिविषदां वा परामृष्टिलेशः ॥
न वेत्ति माता सुताश्रुधारं
न धरति धाताऽवलस्यभावम् ।
न पाति पाताऽतुरं विपाके
शरणं कुतो वास्तीहलोके ॥

भाषानुवाद और भावार्थ विस्तार

निखिल प्रपंच की उपशम भूमि अवश्य है। वेदागम के साथ-साथ ऐसा निर्देश आत्म प्रत्यय से भी प्राप्त होता है। यह समस्त बोध का अधिष्ठान तथा द्वैत-लेश से रहित है। यह स्वप्रकाश है, तथापि इसका आवरण तुरीया दृष्टि से हटा है। इस अधिष्ठान में जो पूर्ण-शुद्ध तथा ध्रुव तत्व विद्यमान है, वह जिस दृष्टि से उन्मोचित होता है, वह है तुर्यगा। विश्वबोध में सब कुछ एक काष्ठा की ओर अंगुलि-निर्देश कर रहा है। सब यही कह रहे हैं कि मैं तो 'इसी'' मात्रा-पाद तथा कला में अभिव्यक्त हो रहा हूँ, किन्तु हमारी पराकाष्ठा कहाँ और किसमें है ? इस पराकाष्ठा को 'न स्यात्' नहीं कहा जा सकता।

छन्दों की सोपानावलि को पार करते-करते महासमन्वयी में उपस्थित हुआ। यहां पर छन्द कहता है "अब मैं परमता में अवगाहन करूँगा। यह जो महारहस्यमयी 'महा' तथा 'परम' की मिलनभूमि है, यहां क्या देखा? एक ओर सर्वज्ञत्व-सर्ववित्त्वरूप ज्ञान की पराकाष्ठा है, दूसरी ओर है एकान्त प्रपञ्चोपशमरूपा "निरंजनीं स्थिति" !

पंच प्रश्न तथा उनके उत्तर

तत्परता तथा परमार्थता

किसी बोध अथवा भान से प्रश्न किये जा सकते हैं, जैसे :—

(१) तुम्हारा विषय (Content) क्या है ?
(२) तुम्हारी सन्धि अथवा सम्बन्ध (Relation) क्या है ?
(३) तुम्हारा भाव (लक्ष्य-हेतु-कारण-निदान-Meaning अथवा Intent) क्या है ?

तथा

कैसे-क्या-क्यों (What, How और Why) यह घटित होता है ?

इन प्रश्नों का अनुसरण करते-करते जिस काष्ठा अथवा सीमा की ओर गति होती है, वे काष्ठा हैं विराट, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर। ये सभी सत्ता-शक्ति-छन्दः तथा आकृति के कारण चतुष्पात् हैं। क्या प्रश्नों का अवसान यहीं हो गया ? नहीं ! अभी भी दो प्रश्न शेष हैं। अबतक तो मुख्यत: Empirical Analysis और Synthesis, वाह्यदृष्टि के अनुसार विश्लेषण आदि चल रहा था। अब मेटाफिजिकल मीनिंग तत्वत: देखना है। विश्लेषण तथा समन्वय तो बोध (Experience) के मूलीभूत कारण तक आ पहुँचा है। किन्तु उसके पश्चात् ? स्वयं को कार्यकारणरूपेण प्रदर्शित करने पर भी कौन सी भूमि कार्यकारणातीत है ? बोध के विषय अथवा "What" को "Absolute That" के रूप में (शुद्ध हानोपादानहीन तत् रूप में) जानने का उपाय क्या है ? तत् पदार्थ का परमशोधन कैसे होगा ? तत्पश्चात् 'How तथा Why' के सम्बन्ध एवं भाव, इन दोनों का ध्रुव एवं परिपूर्ण समाधान कहां है ? अर्थात् सम्बन्ध कहां पहुँचकर यह कहेगा कि "अब हमारी कोई अपेक्षा ही नहीं है"। भाव कहेगा "मेरी पूर्त्ति हो चुकी है। अब मुझे कोई अभाव नहीं है।"

इस परमता की भूमि को सत् कहा जाता है। यही है 'बाधमात्र विरही'। यह मात्रागत पारंगतता (Trancending all Measure) है। अंतिम दोनों कारिका में तत्परता तथा परमार्थता कहा गया है। इन दोनों का जो परमवस्तु निगमन करती है, वही है परब्रह्म। 'ॐ तत् सत्' से उनका ही निर्देश होता है। इसी 'तत् सत्' का प्रकाश हैं महामाया तथा भगवत्ता। अंतिम दोनों दृष्टि में न्यूनता

अथवा आधिक्यता की कोई भी प्रसज्यता नहीं रहती। अर्थात् यहां आकर यह 'झमेला' उठता ही नहीं कि किसे ऊपर और किसे नीचे रखना है।

'ॐ तत् सत्' इस परब्रह्म वाचक मंत्र के जपध्यान में किसकी स्थिति स्वभावतः है, यह कहा गया है। सप्तख्याति की अंतिम ख्याति है 'सत्यम्'। और सृष्टि-सूक्त में "ऋतञ्च सत्यञ्च" का जो सत्यम् है, इन दोनों को अलग-अलग विलक्षण जानो। अर्थात् इनका कहीं पर अन्वय है, कहीं पर व्यतिरेक है। इसी प्रकार सप्त ख्याति वाले तपः और सृष्टिसूक्तोक्त तपः को भी अलग-अलग समझो। पुनश्च, सत् तथा सत्य को भी इसी प्रकार से विलक्षण समझो। इस प्रकार से जो जानता है, वही व्यक्ति परब्रह्मवाचक मंत्र को यथार्थ स्थिति में जान लेता है।

संलक्ष्य अथवा लक्षण की पराकाष्ठा कहाँ है ? Supreme Logical अथवा Perfect Harmony क्या है ?

विलक्षणता की रीति संक्षेप में विवेचित की जाती है। स्थिरत्व, असंकरत्व तथा समग्रत्व रूपी लिंगत्रय सप्तम ख्याति (व्याहृति मूर्द्धनि) में निरूपित हैं। इन तीनों के संलक्ष्य (चरमत्ता) की भूमि कहां है ? अर्थात् किस भूमि में है स्थिर से ध्रुव , असंकर से शुद्ध और समग्र से पूर्ण ? इन स्थिरत्वादि लक्षणों की एक क्रमिकता (Progression) है। अतः प्रश्न उत्थित होता है कि सीमा कहां है ? जहां सीमा है, वही है ब्रह्म का 'ऋतञ्च-सत्यञ्च' रूप। 'ऋतञ्च सत्यञ्च' तथा इनके चकार द्वय की पूर्वालोचना की जा चुकी है। और "लक्ष्यशेषे" अर्थात् जिसका लक्षण अथवा लक्ष्यतावच्छेदकता अब नहीं है, वहीं है अलक्षणम् अर्थात् तुरीय ! जो व्याहृति पर्व का अन्त (शेष) है, वहां जाने पर विश्वबोध का एक Complete analytic-Cum Synthetic दृष्टिकोण अवश्य मिला, लेकिन वहां भी (Complete Logical Apprehension, Comprehension अथवा appreciation) पूर्ण समाधान नहीं है। अतः एक Supreme Logical की आवश्यकता अब भी है। Hormony अथवा छन्दः की विवेचना इस ग्रंथ में विशेषतः व्यवहृत है। अतः छंदोगत्व की पूर्णता और परमता ही सत्य प्रतीत होती है। फिर भी आधार अथवा Back ground के रूप में स्थित है 'अलक्षणम्-Alogical-द्वैताद्वैतादिविवर्जित् !'

जपादि साधन, व्याहृति के सहयोग से उनका उन से अतीत रूप

जब तक अभ्यारोह अथवा लक्ष्याभिमुखी अधिरोहण पर्व चल रहा है (अर्थात् गीता के अनुसार जब तक हम आरुरुक्षु अथवा युंजान नही हैं), तबतक जपादि अनुष्ठान (जपक्रतुः) "भूर्भुव-स्वः" प्रभृति व्याहृति सहयोग से चलाना चाहिये। जैसे गायत्री जप। अथवा गायत्री एवं मधुमती का सम्मिलित जप (जिस प्रकार से बृहदारण्यक अथवा छान्दोग्य ने करने के लिये कहा है)। जब हम

इस भूमि का अतिक्रमण करते हुये 'ऋतञ्च सत्यञ्च' की अनुभूति में उपनीत हो जाते हैं (अर्थात् जब युंजान अवस्था से योगारुढ़ स्थिति में उन्नीत हो जाते हैं), तब व्याहृति की अपेक्षा नही रह जाती (सौक्ते तु व्याहृतिर्हित्वा) । इसके पश्चात् यदि साक्षात् परब्रह्म हमारा लक्ष्य है, उस स्थिति में हमें परब्रह्म के वाचक "ॐ तत्सत्" मन्त्र का आश्रय लेना ही होगा ।

इसका तात्पर्य है कि योगयुक्त अवस्था में इस मंत्र का जप तथा ध्यान ही हमारा साधन हो जाता है । इसे साधन क्यों कहा गया ? उपलब्धि की जो चरम एवं परम भूमि है, वही अभी भी सम्यक् रूप से अधिगत नही है । अर्थात् अभी भी युक्ततम स्थिति में जाना शेष है !

गायत्री जप में पूर्वोक्त क्रम का दृष्टान्त

पूर्वोक्त प्रक्रिया का गायत्री जप में दृष्टान्त विवेचित किया जा रहा है । हम जबतक अभ्यासयोग परायण हैं, तबतक "ॐ भूर्भुव स्वः" व्याहृति के सहयोग से जप ध्यान करना हमारा कर्त्तव्य है । तदनन्तर जब अभ्यास हमें ध्यान की गम्भीरता में पहुंचा कर स्वयं निरस्त होना चाहता है, उस अवस्था में 'वरेण्यं भर्गः' का ध्यान योग में आश्रय लेना ही होगा । (धीमहीति च भर्गसा) । तत्पश्चात् जब ध्यान और ध्याता को पृथक् करना सम्भव नहीं है, तब 'ॐ तत्सत्' रूपी परम भाव ही हमारी ब्राह्मीस्थिति को संसाधित कर देता है । 'ॐ तत् सवितुः" गायत्री के इस आदिम पाद के जो 'वि' तथा 'उव्' रूपी भागद्वय हैं (जो यथाक्रमेण व्याहृति और उर्ध्वगा तपः शक्ति के सूचक हैं), वे स्वभावतः निर्गलित हो जाते हैं । अतः "ॐ तत्सत्" ही अंतिम आश्रयरूपेण स्थित रह जाता है ।

मन्तव्य—अभ्यासयोग परायण अवस्था में विशेषतः व्याहृति का ही भजन क्यों करना पड़ता है ? इसे समझने के लिये व्याहृति के मूल तत्व को विचारो । जैसे साधक के लिये अनेक छन्दः अनुकूल तथा मित्र रूप से सहायक हो जाते हैं, उसी प्रकार अनेक छन्दः उदासीन से रहते हैं—अथवा प्रतिकूल रूप से साधक की अग्रगामी गति को व्याहत करने में प्रवृत्त हो जाते हैं । साधक को अपनी अग्रगति व्याहत बनाये रखने के लिये दो दिशाओं की ओर मनोयोग देना चाहिये । प्रथमतः अरि-मित्र तथा उदासीन की जटिलता में से मित्र को अलग चुन लेना होगा । द्वितीयतः—उर्ध्वतम लोक में मित्र-छन्दः तथा सहायक शक्तियों का जो महाभाण्डार विद्यमान है, उसके साथ साधक को अपने जीवन के मित्रछन्दः तथा शक्ति का संयोग घटित करना होगा !

अब यह लक्ष्य करो कि प्रथम व्याहृति 'भूः' का क्या कथन है ? वह कहती है "यह तुम्हारा मित्रच्छन्दः है, साधना का सहायक एवं सुहृद् ! इसे मैंने समस्त

बाधाओं और अन्तरायों से मुक्त करके तुम्हारे सम्मुख उपस्थित कर दिया है। अब तुम अपने प्रयत्न के द्वारा इसका रक्षण-पोषण करो !" जो अरि एवं उदासीन है, वे इस समय तो मार्ग से हट जाते हैं, परन्तु क्या वे पूर्णत: निरस्त हो गये हैं ? नहीं, वे सब इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि अतर्कित आक्रमण के द्वारा साधना को विपर्यस्त करें ! तब उपाय ? उस समन 'स्व:' व्याहृति साधक को आश्वासन देती है "मैं उर्ध्वतन ज्योतिर्धाम की पथ प्रदर्शिका के रूप में तुम्हारी दृष्टि से अगोचर होकर रहती हूं। तुम्हारी आकृति (एसपिरेशन) मेरे सम्मुख उर्ध्व शिखा रूप में समुत्थित हो, मैं उसमें दिव्यालोक के वरणीय भर्ग: एवं छन्द: की आहुति दूंगी। जिसके परिणाम से आभ्यन्तर में भागवती सत्ता की उत्तरोत्तर उपलब्धि होती रहेगी।"

'भुव:' रूपी मध्यम व्याहृति क्या करती है ? हमारे साधना की जो कुछ भी सामान्य सम्पदा है, उसे एक महीयसी दैवी सम्पदा के साथ ग्रथित कर देती है। वह एक सन्धिरूपा है "यह" और "वह" की ! अत: विदित होता है कि "भूर्भुव स्व:" रूपी आकृति (पैटर्न) में उपरोक्त त्रिविध उद्देश्य सिद्धि के उपाय भी सुनिर्दिष्ट रूप से स्थित रहते हैं।

भूमा स्वरूप तथा बुद्धि का परिमाप

जो श्रुतिप्रसिद्ध भूमा अथवा आकाश है, वह निरतिशय सुख-स्वरूप में विश्व तथा विश्वबोध का अधिष्ठान और आधार बनकर विद्यमान है। यहाँ यह भी विदित होता है कि इस आधार के वक्षस्थल पर अशेष भावों की लहरियां क्रीड़ा करती रहती हैं (तत्र भावाश्च नाना)। एक शुद्ध निरंजन ज्ञान भी स्वमहिमा से स्वप्रकाशित है। इसमें ह्रास-वृद्धि नहीं है, उदयास्त भी नहीं है। यह भी परिलक्षित होता है कि यह अप्रमेय शुद्ध ज्ञान मानों विश्वबोध अथवा प्रमिति के लिये (परिमाण को अस्वीकार करते हुये) स्वयं ही प्रमाता एवं प्रमेय (सबजेक्ट तथा आब्जेक्ट) बन जाता है। इस प्रकार से पुन: एक शुद्ध विकारहीन सत्वस्तु (सदिति वस्तु चैकं) विद्यमान है। यद्यपि वह स्वरूपत: निरंजन है, तथापि उसमें शुक्ल, कृष्ण, मिश्र प्रभृति अशेष वर्ण विचित्रता का उद्‌भव होने लगता है। अर्थात् एक शुद्ध सत्वस्तु लीला के लिये स्वयं को सत्यमिथ्या आदि विभिन्न भूमिकाओं में विश्व के दृश्यपट् पर प्रतिच्छवित करने लगती है।

जो देवताओं के भी देवता (परब्रह्म) हैं, वे तो स्वरूपत: परम ज्योतिसरूप तो हैं ही, तथापि न जाने वे इस विश्व में तथा विश्वबोध में कितने विस्तृत रूप से प्रसरित हैं, न जाने कितने आधारों तथा भूमियों में उनका यह पादसमूह विन्यस्त है (पादान् कतिविधनिलयान्)। जो शुद्ध तथा असीम भूमा है, उसकी स्वरूप महिमा का वर्णन कर सकने में अपारग यह बुद्धि, उसके सम्बन्ध में न जाने

कितने पैमानों के द्वारा 'नाप जोख-हिसाब-किताब' किया करती है ('मिसमाना धियो न:') ।

सत्ता, ज्ञान और आनन्द के दृष्टिकोण से सविशेष तथा निर्विशेष भावों में क्या कहीं संगति नहीं है ?

श्रुति ने एक सर्वज्ञ सर्वविद् पुरुष तथा उसके ज्ञानमय: तप: का वर्णन किया है । वह सर्वज्ञ सर्वविद् पुरुष कैसा है और उसका ज्ञानमय तप: कैसा है ? वह है निखिल प्रपंच की परम उपशम भूमि । यह सत्य है, परन्तु इतने मात्र से यह समझ सकना सम्भव नही है कि वे कैसे सर्वज्ञ एवं सर्वविद हो सके हैं, उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में कैसे ज्ञानमय तप: किया ? सर्वज्ञ तथा सर्वविद् शब्द से यह सूचित होता है कि वे सब कुछ को केवल सामान्य रूप से ही नहीं जानते, प्रत्युत् वे सब कुछ को विशेष रूप से भी जानते हैं । अर्थात् कुछ भी उनके ज्ञान से परे नहीं रह सकता । जो अधिष्ठान निरंजन शुद्धज्ञान मात्र है, उसमें इस असीम-अकुण्ठित ज्ञानैश्वर्य की सम्भावना कैसे हो सकी ? मात्र यही नहीं, उसमें सृष्टि के लिये संकल्प तथा तप: की सम्भावना का उदय कैसे हो सका ? उस तप के मूल में है आनन्द । उस तप का रूप है ज्ञान । उस तप का फल है, 'ऋतञ्च सत्यञ्च' ।

जो मूलीभूत आनन्द है, उसके इस लीला कैवल्य की धारणा कैसे हो सकेगी ? इसके लिये यह मानना होगा कि वह तत्व निर्विशेष और सविशेष, मूर्त्त एवं अमूर्त्त, इन दोनों रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है । उनका ही क्षर अक्षर रूपी दोनों भाव है । वे स्वयं उत्तम होकर भी पुरुषोत्तम हैं । यह विवेचना है ज्ञान के दृष्टिकोण से । क्या उस मूल तत्व को सविशेष तथा निर्विशेष रूपी समस्त द्वंद्व के उर्ध्व में स्थापित करना उचित नहीं है ? जो यह विश्वरूपी महान् लतिका (वीरुध) है, उसकी अनन्त शाखाओं के मूल विस्तार अथवा बीजरूप में वे ही विद्यमान रहते हैं । तथापि इस मूॅल अथवा बीज को पूर्णरूपेण निर्विशेष कहने पर क्या इस विराट विश्ववल्लरी तथा उसके अनन्त विचित्र विस्तार को समझा जा सकेगा ?

यदि यह कहें कि वे स्वयं मूल अथवा बीज नहीं हैं, उस स्थिति में उनकी अघटनघटनपटीयसी माया ही इसका मूल है, तब उनकी अपनी स्वरूपशक्ति के साथ इस अनिर्वचनीया मायाशक्ति का किस प्रकार सम्बन्ध है, इसे कौन समझा सकेगा ? 'अनिर्वचनीय' शब्द का व्यवहार करने से तो इस महारहस्य का कोई समाधान ही नहीं मिल सकता ! इतना तो स्वीकार करना ही होगा उनका अपनी माया शक्ति से जो सम्बन्ध है, वह इतना गहन है, कि उसमे प्रवेश ही नहीं किया जा सकता ! अथच, श्रुति और आत्मानुभूति से एक ही वाक्य ध्वनित होता है वे केवल मायातीत ही नहीं हैं, वे मायाधीश, मायी तथा महेश्वर भी हैं । अत: यह मानना

होगा कि वे समस्त सम्बन्धों से अतीत होने पर भी (As Absotute) शक्ति-शक्तिमानव इत्यादि निखिल सम्बन्धों के कारण हैं। इसके नियामक भी हैं। क्या मायाधीश और महेश्वर रूपी शब्दद्वय से उनका यह परमोत्तम स्वभाव तो सूचित नहीं हो रहा है ?

अब रस तथा आनन्द के दृष्टिकोण से भी देखो ! वे हैं सर्वभू व्यापी महेश्वर किन्तु इस प्रकार से शुद्ध स्वलसित आनन्द में अच्युतस्थिति होने से क्या होगा ? यह निखिल सृष्टि की विचित्र व्यथा वेदना उनका तनिक भी स्पर्श नहीं कर सकती है, क्या इस स्थिति में विश्वमहानाटक का निगूढ़ मर्मार्थ तथा आवेदन धारणा का विषय हो सकेगा ? कहीं पर ईश्वर का यह लक्षण अंकित है कि वे एक ऐसे पुरुष हैं जिन्हें जीव का क्लेश-कर्म-विपाक और आशय कभी भी परामृष्ट नहीं करता। यदि ऐसा है, उस स्थिति में क्लेशविद्ध जीव उन करुणानिधान जगद्गुरु की शरण में क्यों जायेगा ? अतः यह भी मानना होगा कि वे स्वयं ब्रह्मानन्द में रहकर भी जीव की व्यथा वेदना, आर्त्ति, आकूति का समाचार रखते हैं। वे जीवों के समस्त संकट में एकमात्र सहायक तथा शरण्य हैं। वे ही जीवों के सुहृत भी हैं। (क्लेशाद्यैस्त नृणां दनुज दिविषदां वा परामृष्टिलेशः ।)

जो जगत् माता हैं, यदि वे अपने सन्तान के विगलित अश्रुधाराओं की कोई सूचना नहीं रखती (न वेत्ति), जो जगत की धात्री हैं यदि वे 'अबल' का भार ग्रहण नहीं करतीं, जो जगत् के पिता हैं यदि वे कहते हैं कि "हे आर्त्त आतुर ! मैं देखता हूं कि तुम विपाक में पड़े हो, तथापि तुम्हारे पालन की इच्छा अथवा शक्ति मुझमें नहीं है" तब इस स्थिति में महासंकटसंकुल जीव किसकी शरण लें ?

तुच्छं न नेत्राद् गलिताश्रुवारि
तुच्छं भवेच्चेत् तथामन्यमानम् ।
तुच्छा न चार्त्ति ह्यर्यन्मन्थनी वा
तुच्छा भवेच्चेन मथ्नाति शर्म्म (भावम्) ॥
प्रशांताम्बुराशौ बड़वानलोऽपि
क्षमो न वोढुं तृणं मातरिश्वा ।
द्वारे च भिक्षुर्जगतां स नाथः
किमाश्चर्यमेभ्यः परं वदास्ति ॥
राकेन्दुतुल्यो नयनाश्रुबिन्दु
रानन्दसिन्धोरुल्लासकारी ।
भूत्यं तृणाय सदा हैमवत्याः
कारुण्यशौर्यसुरगर्वहारी ॥

तुम्हारे नेत्र से विलगित व्यथा अथवा पुलक का जो अश्रुवारि है वह तुच्छ नहीं है, तथापि वह तुच्छ हो जाता है यदि तुम ऐसा सोचते हो ! (तथामन्यमानम्) तुम्हारी क्षणिक व्यथा अथवा पुलकाश्रुबिन्दु के साथ एक-एक असीम व्यथा तथा असीम पुलक के महासिन्धु का योग बना रहता है। यदि तुम इस "समदरदी महा-सिन्धु" की स्थिति का स्मरण रखते हो, तब तुम्हारे नेत्रों से गिरे एक अश्रुबिन्दु की स्थिति भी कभी मिथ्या अथवा अकिंचित्कर नहीं रह जाती। और तुम्हारे समस्त हृदय को मथित करते हुये जो आर्त्ति उठ रही है, वह भी तुच्छ नहीं है। वह तुच्छ होती है यदि उसका मर्म अथवा भाव तुम्हारे द्वारा उच्छिन्न एवं मथित (मथ्नाति शर्म) कर दिया जाता है। यदि तुम हृदय की इस आर्त्ति के निगूढ़ मूल तथा उसकी वास्तविक परिणति (आर्त्ति की परिणति) का मर्म जान लेते हो; तब तुम्हारी आर्त्ति तुच्छ नहीं रहती।

महासागर की प्रशान्त जलराशि के वक्ष में भी बाड़वाग्नि छिपी रहती है। इस विश्वरूप महावृक्ष को समूल उखाड़ फेकने में समर्थ जो वायु है, वह यक्ष के निर्देश पर एक सामान्य तृण को भी उड़ा सकने में समर्थ नही हो सकी (क्षमो न वोढ़ुं)। पुनश्च, जो जगत् के नाथ और स्वामी हैं, वे भी द्वार पर आकर भिक्षुक की तरह खड़े हो जाते हैं (जैसे वामन बलिराजा के द्वार पर भिक्षार्थ आये !)। इससे अधिक आश्चर्य और क्या है ? इस जगत् के मूल में स्थित जो भागवती सत्ता है, वह अनन्त आनन्द तथा शान्ति की परमता भूमि है। यह निःसंदिग्ध है, किन्तु महासागर के समान उस असीम तथा गम्भीर प्रशान्ति में विश्व की प्रत्येक व्यथा-वेदना के लिये क्या कोई चिरसजग बड़वानल विद्यमान है ?

जो जगत् के माता-पिता हैं, धात्री-पालयित्री हैं, क्या वे अपने आनन्द तथा प्रशान्ति में इतने विभोर है कि अपने ही विश्व की अनन्त दुःखराशि के सन्धान में पूर्णतः विमुख तथा उदासीन है ? और जो निखिल जगत् के स्वामी हैं, क्या वे प्रत्येक जीव के हृदय द्वार पर शाश्वत भिखारी के वेश में खड़े नही हैं ? क्या उन्होंने ही एक बार इन्द्रादि देवगण का दम्भ चूर्ण करने के तुच्छता और लाघव के प्रतीक तृण को देवताओं के सम्मुख रक्खा था ? यद्यपि वे तो आनन्दरूप में स्वमहिमा में स्वलसित रहते हैं तथापि उस स्वलसित आनन्दराशि को स्वयं में उच्छ्वसित तथा उल्लसित देखे बिना उनकी 'साध' पूर्ण नही होती। तभी तो मानों वे इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि कब तुम्हारे नेत्रों से एक बिन्दु अश्रु उनके पास आ टपकेगा और वह पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान उनके चिरशान्त समाहित चिदाकाश में उदित होकर उन्हें तुम्हारी ओर आकृष्ट तथा उद्वेलित कर देगा ! और यदि तुम अहंकार तथा दम्भ का विसर्जन करके स्वयं को एक तृण के समान मानकर उनकी दृष्टि तथा प्रसाद के लिये शरणापन्न हो जाओ, तब यह निश्चित है कि उस तृण-

रूपी सत्ता के पीछे उन श्रुति प्रसिद्ध उमा हैमवती के असीम अमोघ करुणाशौर्य का आश्रय प्राप्त होगा जिन्हें न पहचान सकने के कारण अग्नि, वायु प्रभृति प्रमुख देवताओं का गर्व क्षीण हो गया था और अन्त में वह गर्व लज्जा की धूल से धूल-धूसरित हो गया था ।

द्वितीय भाग समाप्त

परिशिष्ट (क)

नादानुसन्धान के सम्बन्ध में जपसूत्रकार की इन १६ कारिकाओं को प्रयोजनीय समझकर इनके अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आदिमच्च यदुत्पाद्यं विकार्यं व्यभिचारि च।
व्यपदेशविकल्पार्हं मपायीनि हि तानि षट् ॥१॥

भूराद्यं रन्तवत्वञ्च जन्यत्वञ्च तदादिभिः।
विकारं व्यभिचारञ्च भर्ग आदि त्रिभिः पदैः ॥२॥

व्यपदेश्यं धियोयोनो वैकल्पिकं प्रचोदयात्।
षण्मात्रः प्रणवः षड्वैः गायत्री दुदुहेऽमृतम् ॥३-४॥

मूलस्पन्दस्वरूपा या ध्वनिः सुरघुनी ध्रुवा।
तस्यामुपरि तायन्ते वीचयो इव या गिरः ॥५॥

वीति वियदि शब्दोयोऽक्षरोऽखरोऽजरोऽमरः।
मात्रास्पर्शात् क्षरन् खे स विखरोऽभूद्ब्रुवन् रुदन् ॥६॥

आमूर्द्ध कण्ठ धातोत्था स्थूला सूक्ष्माति वैखरी।
नादाद् वहिरक्षा सा विषमा वीचिसन्ततिः।
ध्रुवाक्षाभिन्नपश्यन्ति निरक्षैव परा मता ॥७॥

मेयस्पर्शान् जयेज्जापान् मानस्पर्शांश्च धारणात्।
मातृस्पर्शान् जयेद् ध्याना दस्पर्शञ्च समाधिना ॥८॥

विखराध्ययनं कुर्याद् जपादौ जातवेदसे।
हंसवत्या स्तुतो मध्याप्यायनं ह्यमृतम् बृहत् ॥९॥

ज्योतिरसे पश्यन्त्या ऋग्भ्यामाप्ययनं कुरु।
सर्वस्याप्यायनं नाम स्वयमाप्यायनं परा ॥१०॥

उपरि स्पृगन्त्या चाधः स्वराद्यो
रतं विप्रतीकं तयो रुकारात्।
चेच्छिद्यमाना सकृच्छिरो भुवः
पीयूषधारां पेपीयमाना ॥११॥

अर्केन्दुशक्ति द्वे पाययन्ती स्वयंपिवन्ति मध्यमां सुषुम्ना।
मुक्तां त्रिवेणी मपि योजयन्ति पश्यन्तिपारे परा तुरीया ॥१२॥

नीचैर्मनाभू रुपरि विकल्पना तन्मैथुनाच्चेत् च्युतमस्ति चेतः ।
स्वयं रुक्मरेतोऽच्युतं पिबन्ति कामकला द्वे परा पाययन्ति ।।१३।।

प्रणवे च बीजे गायन् मनौ वा मात्राहि सन्ति पिहिताश्चतुर्दश ।
गर्भेगिरां नाद कले च विन्दु र्देदीप्यते ते चिति दीपमाला ।।१४।।

नादस्तथा विन्दु कले च काल आकाश शून्ये ज्योतिःसदेकम् ।
आलम्बनेष्वेष्वनपाय धाम्नः प्रत्यङ् नादोहि सुगमः सुभद्रः ।।१५।।

स्पन्दः परेव्योम्नि रेतोऽखिलस्य
सवितुर्वरेण्यं देवस्य भर्गः
प्राणेषु भर्त्ता रसयिता रसेषु
ब्रह्मासि प्रत्यङ् नाद प्रसीद ।।१६।।

भाषानुवाद

अनेक वस्तु और भाव का प्रतिफलन होता है, परन्तु वे पुनः चले जाते हैं। स्थायी नहीं होते । ये सब आगमापायी हैं । जो आया (आगत) वह चला जायेगा (अपायी होगा), यदि उसमें छ धर्म विद्यमान हैं, अर्थात् यदि उसका वास्तव में एक प्रारंभ है (आदिमत्), यदि वह उत्पाद्य अथवा जन्य है, यदि उसको विकार होता है (विकार्य), यदि उसमें व्यभिचार का प्रतिफलन होता है (व्यभिचारी), यदि वह केवल प्रतीक मात्र संकेत-अथवा चिन्ह है (व्यपदेश्य), यदि उसमें विकल्प अथवा संशय के लिये स्थान है । ।।१।।

प्रसिद्ध गायत्री मंत्र की भूरादि व्याहृति के द्वारा आदिमत्व का परिहार करे । क्योंकि व्याहृति के द्वारा आदिमत्व और अन्तवत्व का परिहार होता है। तत्पश्चात् "तत्सवितुर्वरेण्यं" इन तीन पद के द्वारा "उत्पन्न होना" इस भाव का परिहार करे । "भर्गोदेवस्य धीमहि" इन तीन के द्वारा 'विकार तथा व्यभिचार' का परिहार करे। तत्पश्चात् 'धियोयोनः' पद के द्वारा व्यपदिष्ट तथा अतादृश को तादृश अथवा-यथार्थ करे । अन्त में विकल्प अथवा संशय के निरसनार्थ "प्रचोदयात्" पद का स्मरण करे । यहां पद का तात्पर्य है पद तथा उसका भाव । प्रणव अकेले ही अपनी षड्मात्राओं के माध्यम से (अ, उ, म, नाद, विन्दु, कला) इन सभी छ अयथार्थ अनित्य का परिहार करने में समर्थ है । देवमाता गायत्री भी इसी प्रकार से नश्वर तथा अनित्य के भय से ग्रस्त अमरगणों को पुनः अमृत पान करा देती है ।

हम जिन सब वाक् का उच्चारण करते हैं (या गिरः) वह स्पन्दनरूपा है और यह सब विविध विचित्र स्पन्दन तो तरंग के समान उठता खेलता रहता है । यह स्पन्दन क्रीड़ा किसी आधार पर होती है । वह आधार है ब्रह्माकाश में ज्ञानमय तपः

रूप मूल स्पन्दन। यह मूल स्पन्दन स्वयं को नाद अथवा ध्वनि के रूप में अभिव्यक्त करता रहता है। किम्बहुना यह ध्वनि साधारण श्रुत ध्वनि नहीं है। यह ध्वनिरूपा ध्रुवा अथवा सनातनी है। "तद्, विष्णोः परमं पदं" यह है इस ध्वनि का परा भाव। ब्रह्मलोक में जो कुण्ठाहीन दिव्य अनुभूति है, वही है पश्यन्ति भाव। मध्यमा हरजटाजालाभ्यन्तर अवगुण्ठिता है। अन्त में भगीरथ के शंख निनाद से गोमुखी से प्रकट होती है वैखरी। हमारा समस्त वाक् अथवा शब्द इस ध्रुवधारा के वक्ष पर वीचिवत् उत्थित होकर पुनः लीन होता जाता है। अतएव साधक! मूलध्वनिरूपा इस 'ध्वनि-सुरधुनि ध्रुवा' का सन्धान प्राप्त करो।

ब्रह्माकाश (विर्याद) में मूल स्पन्दन का जो शब्द है, वह स्वभावतः अक्षर, अजर तथा अमर है। विविध मात्रास्पर्श के कारण वह मूलस्पन्द क्षरणशील हो जाता है। तब यह विदित होता है कि मानो वह स्वर आकाश में उच्च स्वर से रोदन कर रहा है। अर्थात् जो शब्द 'अखर' है, वह मात्रास्पर्श के कारण आकाश में 'खर' हो कर व्यक्त हो रहा है। (खे स क्षरोऽभूद्रुवन् रुदन्)। इस प्रकार जो महामौन है, वह विश्व कलरव रूप से मुखर होता जा रहा है।

मात्रास्पर्श क्या है उसका दृष्टान्त दे रहे हैं। मूर्द्धा अथवा कण्ठपर्यन्त जो यंन्त्र है, उसमें अभिघात के कारण वैखरी वाक् प्रकट हो जाती है। वाचिक-उपांशु जप में वैखरी स्थूला है। मानस जप में सूक्ष्मा है, अर्थात् मानस जप में भी यंत्रों के अभिघात और तत्जन्य स्पन्दन सूक्ष्मतः शेष रह जाते हैं। वैखरी का स्पन्दन विषम है, वह सुषम नहीं है। यह विषम तरंगगुच्छ इतःस्ततः धावित होता रहता है। इस तरंगगुच्छ का जो अक्ष है (Axis है), वह नादध्वनि के बाहर ही रहता है। (नादात् वहिरक्षा सा)

पूर्वोक्त वैखरी साधारणतः इड़ा-पिंगला की सहायता से ही चलती है, किन्तु नाद का जो अपना अक्षवर्ण है, उस सुषुम्ना में वैखरी का किंचित् भी प्रवेश नहीं होता। जो वाक् नाद के अपने वर्त्म में गमन करती है उसे मध्यमा (मध्यमेति) कहते हैं। अब पुनः यह देखो कि प्रणव का जो अन्तिम वर्ण 'म' है, वहां पहुँचकर वैखरी वाक् स्तब्ध हो जाती है। और आगे अग्रसर नहीं होती। अनाहत् ध्वनिरूप नाद में मध्यमा ही 'म' को ले जाती है। अतः नाद मध्य में ले जाने की क्षमता होने के कारण इसे मध्यमा कहा जाता है। मध्यमा वाक् का जो अक्ष है, वह नाद के ध्रुव अक्ष में पहुँचते ही उसमे मिल नहीं जाता। जब वह नाद के इस अक्ष में एकान्तिक रूप से आश्रय लेता है, तब उसका रूपान्तरण पश्यन्ति रूप में हो जाता है। जब उसका कोई भी अक्ष अवशिष्ट नहीं रह जाता तब वह है परा (निरक्षा च परा मता)। अतः अक्ष के दृष्टिकोण से विचार करने पर चार प्रकार के वाक् में

चार संस्थाओं का ज्ञान होता है; यथा—बहिरक्षा, अन्तरक्षा, ध्रुवाक्षा, तथा निरक्षा (अक्ष अर्थात् इन्द्रिय अथवा करण)

मात्रास्पर्श का वर्णन किया गया है, किन्तु मात्रा को त्रिधा जानना होगा—जैसे मेय-मान-माता। मेय अर्थात् समस्त रूपरसादि विषय के स्पर्श (शीतोष्ण-सुख दुःख आदि) को जय करने के लिये प्राणायाम तथा प्रत्याहार जपाभ्यास (वैखरी) करना चाहिये। मान अर्थात् इन्द्रियादि करण का जो स्पर्श है (बाधा-संकोच आदि) उसे जय करने के लिये धारणा का अभ्यास विहित है। (नादानुसन्धानरूप मध्यमा में स्थिति)। माता अर्थात् "मैं" के संस्कार, संकल्प-विकल्प आदि का जो स्पर्श है, उसे जय करने के लिये दिव्य अनुभूतिरूप ध्यान का अभ्यास करना आवश्यक है। इन त्रिविध स्पर्श से उत्तीर्ण हो जाने पर शान्त आत्मा (परावाक्) का साधन करो।

इसके पश्चात् "अपायन्तु ममाङ्गानि" इस शान्तिपाठ मंत्र का जो आप्यायन है, वह कैसे साधित हो, बतलाया गया है। जो "विखर" विशेष-विविध रूप 'खर' है, उसके आप्यायनार्थ "ॐ जातवेदसे " इत्यादि मंत्र का जपध्यान करो। यह मंत्र अग्नि-सोम, इड़ा-पिंगला, प्राण-अपान आदि विषम द्वन्द्व में सुषमता सम्पादनरूप आप्यायन का विधान करता है। तत्पश्चात् हंसवती ऋक् में स्थूल-सूक्ष्म-अणु-विराट सर्वत्र ओतप्रोत 'ऋतम् बृहत्' के जपध्यान के द्वारा मध्यमा का आप्यायन करो। 'हंसः सोऽहं स्वाहा' यह मंत्र विशेषभाव से समाश्रयणीय है। तत्पश्चात् पश्यन्ति के आप्यायन में सम्मिलित गायत्री तथा मधुमती रूप ऋक्द्वय के अभिन्न ज्योतिरस के द्वारा निष्पन्न हो जाओ। ॐ अथवा भगवान के किसी भी नाम के द्वारा सर्वविध आप्यायन को साधित होता जानो। (सर्वस्याप्यायनं नाम)। और जो परावाक् है, वह स्वयं आप्यायन स्वरूप है। अतएव उसे किसी अन्य के द्वारा आप्यायन की अपेक्षा नहीं है। (स्वयं आप्यायनं परा)

अब सर्वत्र निगूढ़ छिन्नमस्तातत्व नादानुसन्धान में किस प्रकार से उदाहृत है, वह प्रदर्शित करने के लिये कतिपय कारिका कही गयी। उच्चारित 'म' के अन्त अथवा पश्चात् में 'अ' कार है। इस 'अ' को आगे ले जाओ और उसपर हलन्त 'म' की स्थापना करो (अम्)। स्पृक् (स्पर्श) वर्ण के अन्तिम वर्ण 'म' तथा आदि वर्ण 'अ' का यह विपरीतकरण है 'अम्'। अब इस स्वराद्य ('अ' कार) एवं स्पृगन्त्य ('म' कार) के मध्य में उ को स्थापित करो। अब इस उ के द्वारा अ तथा म का विपरीतरमण संघटित होता है। इसके द्वारा एक उल्लास की सूचना प्राप्त होती है। यह खण्डित उल्लास है। चिरन्तन उल्लास नहीं है। अब इस उल्लास को छिन्न करके उसके मध्यस्थित अखण्ड उल्लासरूप पीयूषधारा (अखिल नादधारा) को जो निरन्तर पान कराती हैं, वे ही हैं महाविद्या छिन्नमस्ता। इन्होंने खण्डित

उल्लास का छेदन करके (चेच्छिद्यमाना सक्रुच्छिरोमुदः) उसके आभ्यन्तर में निरन्तर प्रवहमान अखण्ड नादरूपिणी पीयूषधारा का निरन्तर पान किया है। (पीयूषधारा पेयीयमाना)

जो अखण्ड नादरूप पीयूषधारा है, वह पुनः त्रिधा विभक्त हो जाती है, यह देखा गया है। महाविद्या स्वयं सुषुम्नारूपी मध्यगा धारा का पान कर रही है। और अपने दोनों ओर स्थित द्विविधा शक्ति को इड़ा (चन्द्र) तथा पिंगला (सूर्य) नाड़ी धारा का पान करा रही हैं। इसका परिणाम यह है कि साधना का वैखरी जप तथा ध्यान भी सुधारस से अभिसिंचित हो जाता है। अब वे इस मुक्त त्रिवेणी धारा को अपनी शक्ति से संयुक्त करके (मुक्तां त्रिवेणीमपि योजयन्ति) पश्यन्ति के उस पार स्थित तुरीया वाक् में विश्रान्त हो जाती हैं।

अब वाक् के दृष्टिकोण से देखने पर इस बार मन के दृष्टिकोण से देखो। मन की द्विविध वृत्ति है संकल्प (काम), विकल्प (विकल्पना)। इस काम को नीचे रखकर उस पर विकल्पना रूप रति को लेकर तुम जपध्यान में प्रवृत्त हो रहे हो। यहाँ काम है तुम्हारा Aspiration और रति है Devotion इन दोनों के रमण से तुम्हारा साधारण मन (चेतः) स्वयं ही गलित हो जाता है, तब तुम आश्वस्त हो जाओ। मन की यह च्युति वांछनीय है। इस च्युति के अनन्तर एक अच्युत हिरण्यरेतस् धारा निःसृत होने लगती है, जिसे महाविद्या परमा कामकला रूप से स्वयं पान करती हैं (पिबन्ति)। वे साधक सन्तान की वाक् और बुद्धि को भी इस धारा का पान कराती हैं (द्वे पाययन्ति)।

नित्य स्थिति और विश्रान्ति का स्थान है अनपायधाम। इस अनपायधाम को प्राप्त करने के लिये साधक को जप ध्यान के समय किसी न किसी सूत्र का अवलम्बन लेना ही पड़ता है। यहीं आलम्बन को सामान्यतः अष्टधा देखा जाता है—नाद, नाद का परमसूक्ष्म रूप बिन्दु, कला शक्ति, काल, निर्लेप आकाश, शून्य ज्योति एवं सत्। भाव तथा निष्ठा के साथ जप ध्यान द्वारा जब अनाहत् ध्वनिरूप नाद साक्षात् रूप से आविर्भूत होता है (प्रत्यङ नादः), तब वह नाद ही इन समस्त आलम्बनों में से सबसे सुगम और सुमंगल होता है। अन्य आलम्बनों का सम्यक् रूप से मिलना ही कठिन है। एतद्विपरीत जब नाद उपलब्ध होता है, तब वह हमारी समग्र सत्ता को पकड़ रखता है, उसे विच्छिन्न तथा बहिर्मुखी नहीं होने देता। अतः नादानुसन्धान अधोमुखी धारा को उर्ध्वमुखी करने की प्रकृष्ट साधना है। नादाश्रय से उसके मध्य में ज्योतिः प्रभृति समस्त आलम्बनों का प्रस्फुटन यथासमय होने लगता है

अब अन्त में यह कहा गया है कि जप तथा अनुध्यान को किस प्रकार एक अपूर्व आन्तर दीपमालिका के रूप में परम की आरती के लिये प्राप्त किया जाय।

प्रणव अथवा किसी भी नाम एवं बीजमंत्र में, गायत्री में; निगूढ़ अथवा प्रकटरूप से चतुर्दशा मात्रायें विद्यमान रहती हैं। प्रणवादि में भी यह चतुर्दशा मात्रा निगूढ़रूप से हैं। (सप्तव्याहृति तथा प्रत्येक व्याहृति की द्विविधा गति)। अब एक-एक मात्रा को दीप के समान आन्तर ज्योति से प्रज्वलित करो। दीप का आधार है वाक्, दीप का तेल है कला अथवा शक्ति, नाद ही दीपक की बत्ती है, नाद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव ही बत्ती का अग्रभाग (मुख) है। जब तक नाद अपनी सूक्ष्मता और शुद्धि की एक काष्ठा तक नही पहुंचता, तबतक वह ज्योतिरूप में परिणत नहीं हो सकता। इन चतुर्दश दीपों की अपरूप ज्योतिर्माला को तुमने कहाँ जलाया ? उससे किसकी आरती किया ? तुम्हारी उध्वं चेतना में दीप प्रज्वलित हुये हैं और पराचित्शक्ति की आरती इस चतुर्दशा दीपमालिका द्वारा हो रही है (देदीप्यते ते चिति दीपमाला)। इन १४ प्रदीपों के प्रकाश के अभाव में साधक का भूतभय नहीं कट सकता।

परव्योम अथवा ब्रह्माकाश में परावाक् रूपी मूलस्पन्द तो तुम ही हो। अखिल की रेत:, बीज, ओज: भी तुम ही हो। उन परदेवता सविता के वरेण्य भर्ग: भी तुम ही हो, तुम ही निखिल प्राण में बसे निगूढ़ मुख्य भर्त्ता हो। तुम ही समस्त रसों में रसयिता रूपेण विद्यमान हो। अत: समस्त कुछ में अनुस्यूत अथच प्रकटरूप तुम ही ब्रह्म हो। हे नाम ! मुझ पर प्रसन्न हो !

———

शुद्धिपत्र

पृष्ठसंख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१५	भुक्ति तथा भुक्ति	मुक्ति तथा भुक्ति
४	६	तंत्रभांस	तंत्रभासं
७	१०	वैखर्यं	वैखर्यंथ्यं
९	श्लोक की प्रथम पंक्ति	संहृत्य	संहृत्य
१७	अंतिम से पहली वाली पंक्ति	गहुरेष्ठ	गह्वरेष्ठ
०८	श्लोक की तीसरी पंक्ति	गुणाख्यं	गुणाख्यां
३६	श्लोक १३, तीसरी पंक्ति	मंत्रशुद्धि	मैत्रशुद्धि
३७	श्लोक की १४वी पंक्ति	हू यतां	हूयतां
४२	श्लोक प्रथम पंक्ति	निदमिता	निगमिता
४२	,,	लिगता	लिङ्गता
४२	श्लोक, चतुर्थ पंक्ति	मिस्ताराद्	मिङ्काराद्
४३	श्लोक २२, अंतिम पंक्ति	श्चोत्	श्चोत्
५४	श्लोक २४, तीसरी पंक्ति	दारय	दारय
६०	श्लोक ३०, प्रथम पंक्ति	मितिद्धा	मितीद्धा
६१	श्लोक ३१, द्वितीय पंक्ति	मंत्रम	मैत्रम्
६७	श्लोक ३६ अंतिम पंक्ति	दिवोऽयां	दिवोऽपां
७१	श्लोक ४१, अंतिम पंक्ति	तच्छान्ते	तच्छान्तं
७३	श्लोक ४३, प्रथम पंक्ति	निर्गमनाद	निर्गमनाद्
७५	श्लोक ४४, द्वितीय पंक्ति	सुस्मूर्षसे	सुन्मूर्षसे
७८	श्लोक ४७, द्वितीय पंक्ति	हुतो	हुतौ
९१	श्लोक ६१, प्रथम पंक्ति	चिज्	चिन्
९१	श्लोक ६२, प्रथम पंक्ति	न्यासो	न्यासै
१०५	श्लोक ७३, तृतीय पंक्ति	कारार्धे	करार्धं
११०	श्लोक ७४, द्वितीय पंक्ति	निर्मन्या	निर्मथ्ना
११६	श्लोक ७९, अंतिम पंक्ति	भुभयो	मुभयो
११६	श्लोक ८३, प्रथम पंक्ति	नायति	नायाति
११७	श्लोक ८७, अंतिम पंक्ति	कलान्तं	कलनान्तं
१४५	श्लोक ९४, द्वितीय पंक्ति	वर्जनम्	वर्जम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४९	पंक्ति १८	मजहं	मजहत्
१५०	प्रथम पंक्ति	जुहेषि	जुहोषि
१५०	पंक्ति ११	स्तवन्	स्तुवन्
१५५	पंक्ति ४	एकाण	एकार्ण
१५५	पंक्ति ७	श्छिन्दसा	श्छन्दसा
१५७	श्लोक की पंचम पंक्ति	मन्व	मस्व
१५७	श्लोक की षष्टम पंक्ति	द्वैततं	दैंवतं
१६०	श्लोक की दूसरी पंक्ति	चार्द्धम्	चोर्द्धम्
२०३	श्लोक की द्वितीय पंक्ति	निर्मिता	निर्मिता
२०३	श्लोक की तृतीय पंक्ति	व्याष्टि	व्यष्टि
२०४	श्लोक की सप्तम पंक्ति	वात्मनः	रात्मनः

-: समाप्त :-

जपसूत्रम्

(द्वितीय खण्ड)

(पुस्तक के विषय में)

व्याहृतितत्व, छन्दः तत्व तथा सप्त लोकात्मक स्तर के साथ मानव की सत्ता के रहस्यमय सप्त स्तरों में एक सामंञ्जस्य है। इसी प्रकार एक सामान्य रेणु में स्पन्दित शक्ति में ही विश्व ब्रह्माण्ड, विराट रूपी महत् का तथा महाशक्ति का रहस्य अन्तर्निहित रहता है। अणु में महत् का साक्षात्कार और महत् में अणु का साक्षात्कार किये बिना सार्वभौम समग्र दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकेगी ? यह अघटन कैसे घटित होगा ? यह घटित होगा जप रूपी तपः के द्वारा।

मानवमात्र को इसी दृष्टि का विकास करना है। यह दृष्टि अरिच्छन्द द्वारा आवरित है। जप कौशल से यह 'अरि' भी मित्रछन्द के रूप में रुपायित होकर ऋतच्छन्द की चरम स्थिति में आत्म प्रकाशन करता है। यह होता है जप आरोहण द्वारा। स्तरानुक्रम द्वारा। स्वामीजी इस खण्ड में इसी स्तरानुक्रम का साधना से ओतप्रोत मार्ग प्रदर्शित करते हैं। परिणाम यह होता है कि कूल, नाद, ज्योति तथा रस साधक की अधः, मध्य तथा उर्ध्व सत्ता को आप्लावित करते हुये एक अपूर्व महोत्सव का आयोजन करते रहते हैं। यह है अलसित रस की जड़िमा के स्थान पर सत्य जागरण की मुखरता। अब साधक का जीवन छन्द अपनी सहज धारा के समस्त बन्धनों को हटाकर स्वात्म लीला कैवल्य के अतल भाग में विश्रान्त होने लगता है। यह स्तब्धता अथवा शून्यता का मौन नहीं है। यह है सीमाहीन अतल रस संविद रूप सिन्धु में समस्त आत्म आकूति तथा आवेग की चरितार्थता। स्वामी जो इस प्रकार इस खण्ड के द्वारा यह संदेश देते हैं कि अलसित मग्नता की भूमि से प्रारम्भ करके स्वलसित भूमि में जाने पर ही जीवन के रस संवेदन की परमता प्राप्त होती है।

सर्वतंत्रस्वतंत्र डॉ० ब्रह्मगोपाल भादुड़ी

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी :: दिल्ली